मंगल – वाणी

संत शिरोमणि सद्धर्म प्रभावक उग्र तपस्वी वाणीभूषण आचार्यरत्न पूज्य देशभूषण महाराज की "पंचास्तिकाय दीपिका" ग्रंथ पर पावन समीक्षाः-

"यह पचास्तिकाय टीका अतिउत्तम है। उसे पढकर बड़ी प्रसन्नता हुई। यह ग्रथ श्रावक और श्राविकाओं के स्वाध्याय और मनन करने योग्य है। आप जैसे प्रतिभावान साहित्यक ने तत्वज्ञान पूर्ण इस ग्रथ का सरल भाषान्तर करके उसे जनसामान्य के लिए उपयोगी बना दिया है। इस टीका से आपका प्रगाढ शास्त्र परिशीलन तथा अध्ययन तपस्या स्पष्ट होती है। आपने जिनवाणी की अनमोल सेवा की है। इसी प्रकार जिनवाणी की आप सेवा करते रहे, ऐसा हमारा आपको शुभाशीर्वाद है।"

ॐ

पंचास्तिकाय - दीपिका

[श्री कुन्दकुन्दाचार्य विरचित 'पचास्तिकाय' पर टीका]

सम्पादक एवं अनुवादक—

धर्म-दिवाकर पं. सुमेरुचन्द्र दिवाकर, विद्वतरत्न

बी ए, एल-एल बी, शास्त्री, न्यायतीर्थ, सिवनी, (म प्र)

[जैनशासन, चारित्र - चक्रवर्ती, तीर्थकर, आध्यात्मिक — ज्योति
महाश्रमण महावीर, अध्यात्मवाद की मर्यादा, सैद्धातिक चर्चा,
तात्त्विकचितन, निर्वाणभूमि सम्मेदशिखर, चपापुरी,
विश्वतीर्थ श्रमणवेलगोला, Religion and Peace,
Glimpses of Jainism, Tirthankar
Mahavir-Life and Philosophy
आदि के लेखक, महाबध के सम्पादक
तथा कषायपाहुड सुत्त के अनुवादक,
भूतपूर्व सम्पादक, जैनगजट]

१९८६

प्रकाशक

मंत्री—भगवान शांतिनाथ जैन ट्रस्ट, (सिवनी)

निछावर—बीस रुपये मात्र

प्रथम आवृत्ति—१९८६

मुद्रक

अनिल मुद्रणालय

१५२१, नेपियर टाउन

जबलपुर (म प्र)

भूमिका

दिगम्बर जैन आचार्यों मे कुन्दकुन्द ऋषिराज का अत्यन्त महिमापूर्ण स्थान है। 'कुन्दकुन्द आम्नाय' 'कुन्दकुन्दान्वय' आदि शब्द शास्त्रों तथा प्राचीन शिलालेखों आदि मे उपलब्ध होते हैं। मगल स्मरण में भगवान महावीर के नाम के साथ गणधर गौतम का उल्लेख किया जाता है। इसमे कुन्दकुन्द साधुराज का भी पुण्य स्मरण सकलित हुआ है।

मंगल भगवान् वीरो, मंगल गौतमो गणी।
मगलं कुन्दकुन्दार्यो, जैन धर्मोऽस्तु मंगलं ॥

समय— दार्शनिक प्रो० ए. चक्रवर्ती (मद्रास) ने अपनी पचास्तिकाय की अग्रेजी टीका में कुन्दकुन्द को ईसा की प्रथम शताब्दि का लिखा है—*Kundkunda lived about the beginning of the Ist century A.D.* कुन्दकुन्द ईसा की पहली शताब्दी के प्रारम्भ मे हुए हैं। उन्होने तमिल साहित्य की चूडारत्न सदृश कुरल काव्य की रचना की है। प्रो. चक्रवर्ती ने कुरल के अग्रेजी अनुवाद मे प्रबल प्रमाणों द्वारा यह निष्कर्ष निकाला है, कि कुन्दकुन्द ही तमिल भाषा के महनीय ग्रन्थ कुरल के कर्ता हैं। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि आचार्य जी तमिल प्रान्त के थे और उनकी भाषा तमिल थी।

ऋषिराज द्वारा निर्मित विपुल साहित्य मे उनकी कृति समय-सार, प्रवचन-सार और पंचास्तिकाय इन प्राभृतत्रय का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनमे पचास्तिकाय का विशेष स्थान है। ग्रथ के अन्त मे गाथा १७३ में वे ग्रंथ के विषय में लिखते हैं—मैंने प्रवचन भक्ति से प्रेरित हो इस 'पंचत्थियसंगह सुत्तं'—पंचास्तिकाय सूत्र की रचना की है। यह ग्रथ '**पवयणसार**'—पवयण-सार अर्थात् प्रवचन का सार है। उन्होने (१) प्रवचनसार नाम का दूसरा ग्रथ भी बनाया है, फिर इस ग्रथ को 'पवयण-सार' शब्द द्वारा कहा है। पचास्तिकाय की १०३ नम्बर की गाथा मे उन्होंने कहा है—

एव पवयणसारं पचत्थियसगहं वियाणित्ता।
जो मुयदि रायदोसे सो गाहदि दुक्ख परिमोक्ख ॥

ग्रन्थ का महत्त्व—यह पचास्तिकाय सग्रह ग्रथ सम्पूर्ण प्रवचन अर्थात् आगम का सार है। इस शास्त्र का सम्यक् रूप से परिज्ञान करके जो ससार परिभ्रमण के कारण राग तथा द्वेष का परित्याग करता है, वह दुःखो के क्षय रूप मोक्ष को प्राप्त करता है।

जब ग्रंथकार ने दो बार पचास्तिकाय को 'प्रवचन संग्रह सूत्र' लिखा है, तब ग्रंथ का महत्त्व प्रत्येक विज्ञ व्यक्ति की दृष्टि में आ जाता है, कि यह सामान्य रचना नहीं है। यह प्रवचन अर्थात् सम्पूर्ण जिनागम का सार है। आचार्य जी ने लिखा है कि—मैंने यह रचना 'मग्गप्पभावणट्ठं' अर्थात् धर्म की महिमा के प्रकाशन हेतु लिखा है। मार्गप्रभावना को तीर्थंकर प्रकृति के कारणो मे परिगणित किया गया है। दर्शनविशुद्धि आदि षोडशकारण

(१) प्रकृष्टं वचन यस्यासौ प्रवचन :—आप्तः। प्रकृष्टस्य वचन परमागमः, प्रकृष्टं उच्यते-प्रमाणेन अभिधीयते इति प्रवचन पदार्थः। आप्तागम-पदार्थ-त्रय प्रवचनम (गोम्मटसार जीवकाण्ड टीका)।

भावनाओं की व्याख्या करते हुए पूज्यपाद स्वामी ने सर्वार्थसिद्धि [सूत्र २४-अ-५] में लिखा है—'ज्ञान-तपो-जिन पूजा-विधिना धर्मप्रकाशनं मार्गप्रभावना—' ज्ञान, तप, जिनपूजा विधि द्वारा धर्म का प्रकाशन अर्थात् जिन शासन की महिमा को प्रगट करना मार्ग प्रभावना है। यह महत्त्वपूर्ण गाथा इस प्रकार है--

मग्गप्पभावणट्ठ पवयणभत्तिप्पचोदिदेण मया ।
भणियं पवयणसारं पंचत्थियसंगहं सुत्तं । १७३ ।

"मैंने जिनवाणी की भक्ति से प्रेरित हो धर्म प्रभावना के हेतु जिनवाणी का सार (पवयणसार) रूप यह पंचास्तिकाय संग्रह सूत्र कहा है।"

महान् ऋषियों की वाणी गम्भीर अर्थ की द्योतिनी होती है। इसीलिए प्रवचन भक्ति, मार्ग प्रभावना इन दो सारगर्भित शब्दों द्वारा यह बात अवगत होती है, कि आचार्य महाराज ने तीर्थंकर पद प्रदान करने वाली भावनाओं को अपने मनोमन्दिर में विशेष स्थान दिया था। श्रुतज्ञान रूपी समुद्र के अमृतरस को पान करने वाले उन प्राज्ञ शिरोमणि ने जगत के कल्याण हेतु स्याद्वाद— ज्योति रूप इस ग्रंथ द्वारा एकान्तवाद के गहन अन्धकार को दूर करने के लिए इस रचना का प्रणयन किया है। ग्रंथकार की दृष्टि को ध्यान में रखते हुए मुझे यह उचित प्रतीत हुआ कि पंचास्तिकाय दीपिका के आश्रय से एकान्तवादी व्यक्तियों द्वारा प्रचारित भ्रान्त परिकल्पनाओं का निराकरण करने में उद्योग करूं।

भ्रम निवारण—समयसार ग्रंथ का सम्यक् रूप से परिशीलन न करने वाले एकान्तवादियों ने यह मान लिया है, कि जैनागम में निश्चयनय ही आदरणीय है। इसीलिए वे लोग सोचते हैं, कि समयसार में कुन्दकुन्द आचार्य ने निकल परमात्मा— सिद्ध भगवान को ग्रंथ के प्रारम्भ में प्रणाम किया है, क्योंकि वे भगवान कर्मों से अबद्ध हैं तथा पूर्णतया शुद्ध हैं। उनके समान ही 'सव्वेसुद्ध'—सभी जीव शुद्ध हैं। एकान्त विचार की ऐसी भ्रान्ति की भँवर में फँसी नौका में बैठने वालों के कल्याण के लिए पंचास्तिकाय में कुन्दकुन्द स्वामी ने सिद्धालय में न रहने वाले तथा मनुष्य लोक में पाये जाने वाले, चार घातिया कर्मों के नाशक तथा अघातिया चतुष्टय संयुक्त, समवशरण में शोभायमान होने वाले अरहंत भगवान रूपी सूर्य को प्रणाम किया है। इस पंचास्तिकाय के मंगल पद्य में भगवान का दिव्य दर्शन ग्रंथकार ने कराया है। उन्होंने लिखा है—

इंद सद वंदियाणं तिहुअणहिदमधुर विसदवक्काणं ।
अंतातीदगुणाणं णमो जिणाणं जिदभवाणं ।।

शत इन्द्र जिनको प्रणाम करते हैं, जिनकी दिव्यध्वनि त्रिभुवन के प्राणियों के लिए हितकारी है, मधुर है तथा तत्त्वों का स्पष्ट प्रतिपादन करती है, जिनमें अनन्त गुण पाये जाते हैं, जो पंच परावर्तन रूप संसार में परिभ्रमण रहित हैं तथा जिन्होंने कर्म रूप शत्रुओं को जीत लिया है उन अरहंत भगवान को मैं प्रणाम करता हूँ।

इन वचनों द्वारा यह बात अवधारण करने योग्य है कि भगवान की वाणी द्वारा विश्व का कल्याण होता है। एक द्रव्य द्वारा दूसरे का कोई उपकार नहीं होता, अत शास्त्र को एकान्त मिथ्यात्वी अनुपयोगी सोचते हैं। इस गाथा से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जगत् में भिन्न-भिन्न द्रव्यों में उपादान—उपादेयपना नहीं देखा जाता किन्तु उनमें निमित्त-नैमित्तिकपना है। इस कारण धर्म-अधर्म आदि द्रव्य जीव आदि के गमन, स्थिति आदि में सहकारी कारण (निमित्त कारण) स्वीकार किये गये हैं।

अरहन्त भगवान की विशेषता— अरहन्त भगवान द्वारा यदि जीवों का कल्याण न होता और उनकी दिव्य ध्वनि से जीवों को सम्यग्ज्ञान का प्रकाश न मिलता, तो मोक्षमार्ग कौन बताता? अशरीरी सिद्ध भगवान वचनातीत हैं तथा उनकी धर्म देशना भी अमूर्तीक होने से असम्भव है। तब उनके माध्यम से आत्मकल्याण कैसे

सम्पन्न होता ? इन्द्रियातीत होने से उनका अस्तित्व ही हमारे इन्द्रिय जनित ज्ञान के अगोचर है। यह तो अरहन्त भगवान की वाणी का प्रसाद है, जो हम मूर्ति रहित सिद्ध भगवान के विषय में परिज्ञान प्राप्त करते हैं। अरहन्त भगवान की विशेषता के कारण पंच-नमस्कार मंत्र में सर्वप्रथम अरहन्त देव को नमस्कार करके सिद्ध भगवान को प्रणाम किया गया है।

समन्वय दृष्टि—आचार्य कुन्दकुन्द, स्याद्वाद शासन के दैदीप्यमान सूर्य थे। उनके विविध ग्रंथों के परिशीलन करने से यह बात स्पष्ट होती है कि उनकी देशना मे अनेक दृष्टियों का समन्वय और संगम है। जहाँ उनके द्वारा रचित समयसार को पढ़ने वाला एकान्तवादी व्यक्ति इस गाथा को पढ़कर यह परिणाम निकालता है कि मोक्ष के लिए निश्चयनय से कोई भी वेश—मुद्रा कारण नहीं है :—

ववहारिओ पुण णओ, दोण्णि वि लिंगाणि भणइ मोक्खपहे।
णिच्छयणओ ण इच्छइ मोक्ख पहे सव्वलिंगाणि ।४१४।

यह व्यक्ति कहता है कि दिगम्बर, श्वेताम्बर आदि धर्मानुसार वेश धारण करने की मुक्ति के लिए आवश्यकता नहीं है। केवल कषायों के विनाश से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

श्वेताम्बरत्वे न दिगम्बरत्वे न तत्त्ववादे न च तर्कवादे।
न पक्ष सेवाश्रयणेण मुक्ति· कषायमुक्ति· किल मुक्तिरेव।

वहाँ, ऐसे लोग यह नहीं सोच पाते कि क्रोध, मान, माया तथा लोभ रूप कषायों को वश मे करने के लिए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र की प्राप्ति ही सच्चा कारण है। दिगम्बर मुद्रा को अस्वीकार करने वाला वस्त्रधारी लोभ कषाय तथा परिग्रह संज्ञा से कैसे छुटकारा पा सकेगा ? यदि वस्त्र मे मोह या ममत्व नहीं है, तो उसको शरीर पर धारण करना, स्वच्छ रखना आदि कार्य किस लिए किये जाते हैं ? अत· अपने मनोभावों को स्पष्ट करते हुए आ. कुन्दकुन्द ने सूत्र-पाहुड मे लिखा है—

ण वि सिज्झइ वत्थधरो जिणसासणे जइ वि होइ तित्थयरो।
णग्गो विमोक्ख मग्गो सेसा उम्मग्गया सव्वे ।२३।

जिन शासन मे वर्धमान भगवान ने कहा है, कि वस्त्रधारी तीर्थंकर भी मोक्षपद को नहीं प्राप्त कर सकते, उनको भी दिगम्बर मुद्रा को अंगीकार करना आवश्यक है। मोक्ष के लिए वस्त्र, आभरण आदि परिग्रह रहित दिगम्बरपने को स्वीकार करना अनिवार्य है। मोक्ष का मार्ग दिगम्बरत्व है। इसके सिवाय अन्य वेश सच्चे मार्ग नहीं है।

मार्मिक बात—स्याद्वाद दृष्टि को स्पष्ट करने के लिए सर्वार्थसिद्धि में आचार्य पूज्यपाद ने ये महत्त्वपूर्ण शब्द कहे हैं—'आकाश मे सभी द्रव्यों की अवगाहना है—'लोकाकाशेऽवगाह·' (अ.५, सू.१२) इस सम्बन्ध मे वे यह भी लिखते है, कि एक दृष्टि से आकाश मे द्रव्यों का अवगाहन नहीं है। इस परस्पर विरोधी निरूपण का निराकरण उन्होंने इस प्रकार किया है—

धर्मादीना पुनरधिकरण-माकाश मित्युच्यते व्यवहारनयवशात्।
एवम्भूत-नयापेक्षया तु सर्वाणि द्रव्याणि स्वप्रतिष्ठान्येव।

तथा चोक्तं, क्व भवानास्ते ? आत्मनीति। (अध्याय 5, सूत्र 12)

धर्मादि द्रव्यों का आधार आकाश है, यह कथन व्यवहारनय की अपेक्षा किया जाता है, किन्तु एवम्भूत नय की अपेक्षा यह कहा जाएगा कि जीव, पुद्गल, काल, धर्म-अधर्म स्व आत्म प्रतिष्ठ है अर्थात् वे अन्य द्रव्य में

नहीं रहते हैं। इसका उदाहरण इस प्रकार है। कोई प्रश्न करता है आप कहाँ रहते हैं? उसका वह उत्तर देता है हम अपनी आत्मा मे निवास करते हैं। (सर्वार्थसिद्धि- अ. ५, सू २१ पृ १७६)।

दया धर्म इसी प्रकार जिन शासन की विविध देशनाओं मे समन्वय की दृष्टि विरोध का परिहार करती है। कोई विषयलोलुपी व्यक्ति कहता है कि आचार्य कुन्दकुन्द ने 'समयसार' में कहा है—'ण य वत्थुदो दु बंधो (गाथा २६५) बाह्य पदार्थ के द्वारा बध नही होता। इस सन्दर्भ मे प्रमादी व्यक्ति उक्त गाथा के इस अंश को दृष्टि पथ मे नही लाता—'अज्झवसाणेण बधोत्थि'—अध्यवसान अर्थात् राग, द्वेष आदि भावो के द्वारा इस जीव के कर्मों का बध होता है, जिनका फल विपाक काल मे जीव भोगता है। मदिरा बाह्य पदार्थ है, लेकिन उसके द्वारा शराबी बेहोश अथवा उन्मत्त हो जाता है। जैनधर्म का गम्भीर तत्त्वज्ञान पतन के लिए तनिक भी सहायक सामग्री नही देता। अविवेकी सोचता है, जीव घात मे क्या दोष है? जीव के आयु कर्म का क्षय होने पर ही वह मरता है। ऐसे मलिन मन वालों को कुन्दकुन्द आचार्य "भावप्राभृत' मे चेतावनी देते हैं—

पाणिवहेहि महाजस चउरासीलक्ख जोणि मज्झम्मि।
उप्पज्जतमरतो पत्तोसि निरंतर दुक्ख ॥ १३३ ॥

यहाँ आचार्य मुनिराज को कहते हैं—हे महान् यशस्वी साधु! यह बात ध्यान मे रख कि, तूने जीवो का घात करके चौरासी लाख योनियो मे जन्म-मरण द्वारा सदा कष्ट भोगे हैं। इसीलिए आचार्य कहते हैं—'मुणी जीवाणमभयदाण देह' जीवो को अभय दान दो, यह कल्याण और सुख का निमित्त है।

ऋषिराज कुन्दकुन्द भव्यात्मा को इस प्रकार कुपथ परित्याग हेतु प्रेरणा करते हुए 'द्वादश अनुप्रेक्षा में कहते हैं—

हंतूण जीवरासिं महुमंसं सेविऊण सुरापाणं।
पर दव्व पर कलत्त गहिऊण य भमदि ससारे ॥ ३३ ॥

जीवो की हत्या करके, मधु मांस और सुरापान करके एव दूसरे का धन और पर स्त्री को ग्रहण करके जीव मोक्ष न पाकर, ससार मे परिभ्रमण करता है।

आचार्य करुणा को राग भाव कहकर उसे त्यागने के लिए उपदेश न देकर दया को धर्म के आसन पर विराजमान कर यह महत्त्वपूर्ण शब्द कहते है—

धम्मो दया विसुद्धो पव्वज्जा सव्व सग परिचत्ता।
देवो ववगयमोहो उदय करो भव्वजीवाण ॥ (बोधपाहुड) २५)

जो दया के द्वारा विशुद्ध हो, वह धर्म है। सम्पूर्ण परिग्रह का परित्याग सहित प्रव्रज्या अर्थात् साधु पदवी है, एवं मोह रहित आत्मा परमेश्वर है, जिससे भव्य जीवों की आत्मा उन्नत होती है।[1]

---

१. प्रवचनसार के चारित्र अधिकार की गाथा २०८ मे मुनिधर्म पालक श्रमणो के २८ मूल गुणो के बारे मे यह कहा है—

वद-समिदिंदियरोधो लोचावस्स-क-मचेल-मण्हाण।
खिदि-सयण-मदंतयण ठिदिभोयण मेयमत्तं च। २०८।

अहिंसा, सत्य, अचौर्य, अपरिग्रह तथा ब्रह्मचर्य रूप पच महाव्रत, जीवरक्षा हेतु पंचसमिति, पचइन्द्रियो का निरोध, केशलोच, छह आवश्यक, दिगम्बरपना, स्नानत्याग, भूशयन, दन्त धोवन न करना तथा खडे होकरके भोजन करना ये मुनियों के २८ मूलगुण कहे हैं। चारित्र पाहुड मे आचार्य कुन्दकुन्द ने सयम परिपालन को जइधम्म-यतिधर्म (गाथा ३६) कहा है। इस मुनिधर्म मे हिंसाविरइ (गाथा २९) हिंसा त्याग रूप अहिंसा को प्रथम स्थान दिया है। भव्य पुरुष आगम के कथन को स्वीकार करने मे सदा तत्पर रहते हैं।

कोई व्यक्ति कहते हैं कि हम 'दया को धर्म नहीं मानते, वस्तु स्वभाव को ही धर्म मानते हैं, ऐसे एकान्तवादी व्यक्ति को जैनागम की स्याद्वाद दृष्टि के प्रकाश में चिन्तन करना चाहिए। आचार्य कुन्दकुन्द ने 'मोक्षपाहुड' में धर्म शब्द में अहिंसा को गर्भित किया है। उन्होंने लिखा है :—

हिंसा रहिए धम्मे अट्ठारहदोसवज्जिए देवे।
णिग्गंथे पावयणे सद्दहणं होइ सम्मत्तं। ६०।

ग्रन्थ का प्रमेय—इस ग्रन्थ मे गाथा २६ पर्यन्त पचास्तिकायो का सामान्य निरूपण के पश्चात् उनके विषय मे आगे विशेष कथन किया है। गाथा ३६ मे ग्रन्थकार ने सिद्ध भगवान के विषय मे लिखा है कि वे द्रव्य और भाव कर्म के क्षय होने पर स्वय उत्पन्न होते हैं। उनमे बाह्य पदार्थ का कार्य कारण भाव नहीं है। आचार्य महाराज ने इस विषय को इस प्रकार स्पष्ट किया है-'वे सिद्ध भगवान स्वय उत्पन्न हुए हैं तथा निज स्वरूप मे रहते हुए कर्म–नोकर्म के लिए कारण भी नहीं हैं। टीकाकार अमृतचन्द्रसूरि ने लिखा है— 'सिद्धो ह्युभयकर्म्मक्षये स्वयमात्मान मुत्पादयन् नान्यत्किञ्चिदुत्पादयति'।

पचास्तिकाय का सामान्य व्याख्यान २६ गाथाओ मे करने के बाद उन्होंने विशेष व्याख्यान १०४ वी गाथा पर्यन्त किया है। इसके बाद नव पदार्थ अधिकार मे गाथा १५३ पर्यन्त प्रतिपादन किया है। गाथा १५४ से लेकर १७३ पर्यन्त मोक्षमार्ग के विषय मे निरूपण किया है।

ग्रन्थ का प्रभाव— अनेक महान् ग्रन्थकारो ने अपनी बहुमूल्य रचनाओ में इस ग्रन्थ के अवतरण दिये हैं। सर्वार्थसिद्धि मे पूज्यपाद स्वामी ने पृष्ठ १७६ मे पचास्तिकाय की वह गाथा 'उक्त च' कहकर दी है—

अण्णोण्ण पविसंता दिता ओगास मण्णमण्णस्स।
मेलता वि य णिच्च सग सभाव ण विजहंति॥ ७॥

उक्त गाथा पचम अध्याय के १६वें सूत्र की व्याख्या मे आई है। इसी पाँचवें अध्याय के १४वे सूत्र मे ग्रन्थ की ६४ वी गाथा इस प्रकार उद्धृत की है—

ओगाढ गाढ णिचिदो पोग्गल कायेहि सव्वदो लोगो -
सुहमेहि बादरेहि य णताणतेहि विविहेहि॥ ६४॥

आचार्य अकलक देव ने राजवार्तिक के पंचम अध्याय के १४वे सूत्र की टीका मे पृष्ठ २०८ पर यही गाथा नं० ६४ दी है। आ. नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने गोम्मटसार जीवकाण्ड मे गाथा ६०३ दी है—

खध सयलसमत्थ तस्स दु अद्ध भणति देसोत्ति।
अद्धद्ध च पदेसो परमाणू चेव अविभागी॥ ६०३॥

यह पंचास्तिकाय की गाथा नं० ७५ में दी गई है। जीवकाण्ड मे कहा है—

कालोत्ति य ववदेसो सब्भावपरूवगो हवदि णिच्चो।
उप्पण्णप्पद्धंसी अवरो दीहतरट्ठाई॥ ५७६॥

यह गाथा पंचास्तिकाय में गाथा नं० १०१ मे दी गई है।

ग्रन्थकार के विषय में—दिगम्बर परम्परा के अपूर्व प्रतिभाशाली महान् संयमी परोपकारी कुन्दकुन्द ऋषिराज के बारे में प्रो. हर्नले (*Prof. Hoernle*) ने दिगम्बर पट्टावलियों का अध्ययन कर जैनाचार्यों के विषय

में बहुमूल्य सामग्री प्रस्तुत की है। उसमे इन ऋषिराज की आयु 95 वर्ष, 10 माह 15 दिन की लिखी है। ये 51 वर्ष 10 माह 10 दिन पर्यन्त आचार्य पद पर विराजमान रहे। इनका साधु जीवन 33 वर्ष रहा। इन्होंने 11वें वर्ष मे गृह त्याग कर मुनि पदवी ग्रहण की थी। ऐसे महामहिमाशाली मुनीन्द्र ने अपने जीवन में जिनशासन की अवर्णनीय सेवा और धर्म प्रभावना सम्पन्न की। हमने पंचास्तिकाय के हिन्दी अनुवाद मे गाथाओं के भावों को स्पष्ट करने के लिए अनेक महान् ग्रन्थकारो की रचनाओ के प्रमाण दिये हैं। ग्रन्थ के टीकाकार आचार्य अमृतचन्द्र और जयसेन आचार्य की टीकाओ का विशेष रूप मे अध्ययन करके गाथाओ के अभिप्राय को यथाशक्ति लिखने का प्रयास किया है।

अपनी बात—जिन परमपूज्य मुनीन्द्रों के ग्रन्थो की अमृतवाणी का इस दीपिका मे उपयोग किया गया है उन सब ऋषियो के पादपद्मो को हम कृतज्ञता पूर्वक प्रणामाजलि अर्पित करते हैं। प्रमादवश हमारे लेखन में आगत अशुद्धियो के लिए हम विबुध वर्ग से क्षमा माँगते हैं। हमने 82 वष की वय मे प्रवेश किया है। शरीर अस्वस्थ रहा करता है। अत हम प्रूफ सशोधन आदि आवश्यक कार्य को सम्पन्न करने मे असमर्थ रहे।

सहायक—ग्रन्थ लेखन मे हमारे लघु भ्राता अभिनन्दन कुमार एडवोकेट (गवर्नमेन्ट अभिवक्ता, व चि. यशोधर इन्जीनियर, उनकी बहिन इन्दिरा दिवाकर एम ए तथा प्रियवदा एम. ए. ने बहुत श्रम उठाया है। रवीन्द्र दिवाकर एम. काम, एल-एल. बी; स्व आनन्द दिवाकर *M. Com, L-L. B.* ने भी ग्रन्थ निर्माण मे अपनी सेवाएँ दी थी। सिद्धार्थ दिवाकर *M Com. L-L. B.* ने भी हमारे कार्य मे सहयोग दिया है। हमारे अनुज डॉ. सुशीलचन्द दिवाकर *M. A B. Com. L-L B, Ph D.* ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया। हमारे परिवार के उपरोक्त व्यक्तियो को आशीर्वाद है।

प्रूफ संशोधन कार्य में श्री बालचन्द जी जैन शास्त्री, एम.ए. भूतपूर्व डिपुटी-डायरेक्टर पुरातत्त्व विभाग ने हमारी सहायता की है। हम उनके आभारी हैं।

अर्थ व्यवस्था की चिन्ता को दूर करने मे श्रीमान दानशील बाबूलाल जी, मालिक जयश्री आइल मिल दुर्ग ने पन्द्रह हजार रुपया प्रदान किए। इसके लिए हम आभारी हैं। अनिल मुद्रणालय जबलपुर के व्यवस्थापक को मुद्रण कार्य सम्पन्न करने के लिए धन्यवाद है।

जैन जयतु शासनम्

दिवाकर सदन, सिवनी (म. प्र) — **सुमेरुचन्द्र दिवाकर**

विजयदशमी, सन् १९८६

विषय-सूची

नव पदार्थ अधिकार

मोक्षमार्ग कथन चूलिका

अकारादि क्रमानुसार गाथा सूची

ॐ नमः सिद्धेभ्यः

इदसदवंदियाण तिहुवण-हिद-मधुर-विसद-वक्काणं ।
अंतातीदगुणाण णमो जिणाणं जिदभवाणं ।।

इन्द्र–शत–वदितेभ्यस्त्रिभुवन–हित-मधुर-विशद-वाक्येभ्य ।
अतातीन गुणेभ्यो नमो जिनेभ्यो जितभवेभ्य ।।१।।

शत इन्द्र जिनको प्रणाम करते है, जिनकी दिव्यध्वनि त्रिभुवन के प्राणियो के लिए हितकारी है, मधुर है तथा तत्त्वो का स्पष्ट प्रतिपादन करती है जिनमे अनतगुण पाए जाते हैं, जो पच परावर्तन रूप ससार मे परिभ्रमण रहित है तथा जिन्होने कर्म रूप शत्रुओ को जीत लिया है उन अरहन्त भगवान को मैं प्रणाम करता हूँ।

विशेष—इस ग्रन्थ के प्रारम्भ मे ग्रन्थकार ने अरहन्त भगवान को प्रणाम रूप मगलाचरण किया है। 'मगल शब्द का स्वरूप इस प्रकार है

म पाप गालयति विध्वसयतीति मगल, अथवा मग पुण्य सुख तल्लाति आदत्ते वा मगलं ।
जो म अर्थात् पाप को नष्ट करना है वह मगल है। अथवा जो मग अर्थात् पुण्य को प्राप्त कराता है वह मगल है। मगल द्वारा पाप का नाश होता है तथा पुण्य और सुख की प्राप्ति होती है।

शका एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का हित अथवा अहित नही कर सकता इसलिए भगवान् की दिव्यध्वनि द्वारा जीवो के कल्याण की परिकल्पना उचित नही लगती ।

उत्तर यह शका भ्रम की भित्ति पर स्थित है। एक वस्तु के द्वारा दूसरे का हित या अहित होना सारे विश्व में अनुभव गम्य है। प्रकाश जीव से भिन्न पदार्थ है, जड है, फिर भी उसकी सहायता से हम बाह्य पदार्थों को देखते हैं। यदि जिनेन्द्र की वाणी को परद्रव्य कहकर उससे अपना सम्बन्ध अलग कर दिया जाए, तो जीव की दुर्दशा और दुर्गति हुए बिना नही रहेगी। भगवान् की वाणी को सूर्य के समान मोह रूपी अन्धकार को दूर करने वाला कहा गया है। कुन्दकुन्द स्वामी ने जिनवाणी को आत्मा के रोगों की परम औषधि कहा है।

जिणवयणमोसहमिण विसयसुहविरेयण अमिदभूयं ।
जर-मरणवाहिहरण खयकरण सव्वदुक्खाण । दर्शन पाभृत १७ ।

जिनेन्द्र भगवान के वचन औषधि तुल्य हैं, उनके द्वारा विषयो में सुख की परिकल्पना का निवारण होता है, जरा मरण व्याधि का विनाश होता है, तथा शारीरिक, मानसिक तथा आगन्तुक दुखो का क्षय होता है। प्रवचनसार मे उन्होंने लिखा है

आगम चक्खू साहू, इंदिय चक्खूणि सव्वभूदाणि ।
देवाय ओहि चक्खू, सिद्धा पुण सव्वदो चक्खू ।प्रवचन सार २३४।

साधु के नेत्र जिनेन्द्र की वाणी हैं, सम्पूर्ण जीवों के नेत्र चक्षु इन्द्रिय रूप हैं, देवों के नेत्र अवधिज्ञान रूप हैं, सिद्ध भगवान के नेत्र सर्व आगमे हैं। उन ज्ञान नेत्रों के द्वारा सिद्ध भगवान लोक तथा अलोक को जानते हैं।

जिनवाणी की महिमा का निरूपण कुन्दकुन्द स्वामी इस प्रकार करते हैं

आगमहीणो समणो खेवप्पाणं परं वियाणादि ।
अविजाणतो अत्थे, खवेदि कम्माणि किध भिक्खू । प्रवचन सार २३३ ।

आगम ज्ञान से रहित श्रमण आत्मा तथा पर को नही जानता है। जब साधु को पदार्थ का परिज्ञान नहीं होगा तब वह किस प्रकार कर्मों का क्षय करेगा।

स्वामी समन्तभद्र ने जिनेन्द्र भगवान की वाणी को अमृत कहा है, क्योंकि वह अपूर्व सुख प्रदान करती है और अमृत अर्थात् मोक्ष का कारण है।

उनके शब्द इस प्रकार हैं

तव वागमृतं श्रीमत्, सर्वभाषास्वभावकम् ।
प्रीणयत्यमृतं यद्वत्, प्राणिनो व्यापि संसदि । स्वयभूस्तोत्र ६७ ।

हे जिनेन्द्र ! आपकी वाणी अमृत है। वह सत्य तत्त्व के निरूपण रूप लक्ष्मी से शोभायमान है। वह सर्व भाषा रूप परिणमन करने की अपूर्व शक्ति सम्पन्न है। समवशरण मे विद्यमान देव, मनुष्य, पशुपक्षी आदि जीवो को उनकी भाषा मे वीतराग प्रभु का उपदेश परिणमन करता है। भगवान की वाणी किसी एक भाषा में सीमित नही है। वह समवशरण मे विद्यमान जीवो को उनकी बोली में अमृत के समान आनन्द प्रदान करती है।

महापुराण मे जिनसेन स्वामी ने जिनवाणी के विषय मे इस प्रकार प्रकाश डाला है। भगवान ऋषभदेव का समवशरण कैलाश पर्वत पर था। भरतेश्वर ने भगवान के पवित्र उपदेश सुनने की मनोभावना व्यक्त की। चक्रवर्ती ने अनेक शकाओ का समाधान चाहा था। उस समय भगवान की दिव्यवाणी खिरी थी। जिनसेन स्वामी कहते हैं—

आदिनाथ भगवान के मुख से जो वाणी निकल रही थी, वह आश्चर्यप्रद थी। उसके निकलते समय तालु, कण्ठ आदि अवयव नही हिलते थे; न दाँतो की दीप्ति ही देखने मे आती थी। भगवान के मुख से जो दिव्यध्वनि प्रगट हो रही थी, वह बोलने की इच्छा के बिना ही प्रगट हो रही थी। जगत् के कल्याण करने वाली महान आत्माओं की चेष्टाएँ आश्चर्यप्रद होती हैं। जिनेन्द्र देव की वाणी एकरूपता को प्राप्त भाषा रूप है किन्तु वह श्रोताओं के कर्ण समीप पहुँच कर अनेक रूप परिणमन को प्राप्त होती है। जैसे नहर का जल एक रूप होते हुए अनेक प्रकार के वृक्षों को प्राप्त कर नाना रूप परिणमन कर जाता है। ग्रन्थकार के शब्द इस प्रकार हैं—

अपरिस्पन्द—ताल्वादेरपष्टदशन—द्युते: ।
स्वयम्भुवो मुखाम्भोजाज्जाता चित्रं सरस्वती ।महापुराण १८४।
विवक्षया विनैवास्य दिव्यो वाक्प्रसरोऽभवत् ।
महता चेष्टितं चित्र जगदभ्युज्जिहीर्षताम् ।१८६।
एकरूपापि तद्भाषा श्रोतृन् प्राप्य पृथग् विधान् ।
भेजे नानात्मता कुल्याजलस्रुतिरिवाङ्घ्रिपान् ।१८७।

विशेष बात—इस पंचास्तिकाय में कुन्दकुन्द स्वामी ने आचार्य परम्परा के अनुसार मंगलाचरण की रचना की है। किन्तु यह विशेष बात है कि उस पद्धति के प्रतिकूल महामान्य ग्रन्थ कषायपाहुण सुत्त के प्रारम्भ में गुणधर आचार्य ने मंगलाचरण नहीं किया है। उन गाथा सूत्रों पर चूर्णिसूत्रों की रचना करते समय यतिवृषभ आचार्य ने भी उनके समान मंगल नहीं किया है। इस सम्बन्ध में कषायपाहुण की जयधवला टीका में लिखा है, कि मंगलाचरण न करने का कारण यह है कि प्रारम्भ किये हुए कार्यों में विघ्नों के निवारण हेतु मंगल किया जाता है, किंतु वही कार्य परमागम के चिंतवन से पूर्ण हो जाता है, इसीलिये मंगलाचरण की आचार्य को आवश्यकता नहीं प्रतीत हुई। परमागम के उपयोग से वही कार्य हो जाता है जो मंगलाचरण से होता है। शुद्धनय के अभिप्राय से गुणधर तथा यतिवृषभ आचार्यों ने मंगलाचरण नहीं किया।

इस विषय में यह कहा भी गया है कि गौतम गणधर ने चौबीस अनुयोग द्वारों के द्वारा मंगलाचरण किया है यह व्यवहारनय की अपेक्षा किया है।

कोई सोचता है, कि व्यवहारनय असत्य है, सो ठीक नहीं है। गौतम स्वामी ने व्यवहारनय की अपेक्षा मंगलाचरण किया है, इस विषय में जयधवला टीका के ये शब्द महत्त्वपूर्ण है—

जो बहुजीवाणुग्गहकारी ववहारणओ सो चेव समस्सिदव्वो त्ति मणेणावहारिय गोदमथेरेण मंगलं तत्थ कयं। (जयधवला–भाग–१, पृ.–८)

इस विवेचन से यह बात प्रगट होती है कि कुन्दकुन्द स्वामी ने भी व्यवहारनय का आश्रय ले गौतम गणधर के समान मंगलाचरण किया है। इससे व्यवहारनय का भी महत्त्व सूचित होता है। इस प्रकरण से यह बात भी ज्ञात होती है, कि व्यवहारनय अधिक संख्या के जीवों के लिए हितकारी है। चार ज्ञान को धारण करने वाले सम्पूर्ण मुनीन्द्रों के शिरोमणि गौतम स्वामी जब व्यवहारनय को उपयोगी कहते हुए उसका आश्रय लेते है तब इसे त्याज्य कहना विवेकी का कर्तव्य नहीं है।

मंगलाचरण में कुन्दकुन्द स्वामी ने भगवान को शत इन्द्रों के द्वारा पूजित लिखा है। इसके द्वारा यह तत्त्व स्पष्ट होता है, कि वीतरागता की चरम श्रेणी पर चढ़ी हुई महान् आध्यात्मिक विभूति के चरणों को विश्व के श्रेष्ठ वैभवशाली स्वयं प्रणाम कर अपने को सौभाग्यशाली और कृतार्थ मानते हैं।

शंका—वीतराग की भक्ति करने से इन्द्रादि को क्या लाभ प्राप्त होता है ?

उत्तर—सुरेन्द्रों को अपने दिव्य वैभव और विभूति के द्वारा वह शान्ति और आनन्द नहीं मिलता जो समता भाव भूषित वीतराग सर्वज्ञ देव के चरणों के समीप प्राप्त होता है। इस भक्ति से तत्काल शान्ति तो मिलती ही है किन्तु अगणित भवों का संचित पाप समूह भी नष्ट हो जाता है, जिस प्रकार सूर्य का उदय होते ही रात्रि भर विश्व में व्याप्त अन्धेरा क्षण भर में दूर हो जाता है।

गद्य चिंतामणि में वादीभसिंह आचार्य ने लिखा है कि जिनेन्द्र भगवान की आराधना का अद्भुत फल होता है। उनके चरणों की अल्पभक्ति भी देवेन्द्र आदि के पद को प्रदान करती है, वास्तव में यह आगमवाणी यथार्थ है।

एकापि समर्थेयं जिनभक्तिः दुर्गतिं निवारयितुम्। पुण्यानि च पूरयितुं दातुं मुक्तिश्रियं कृतिनः॥

एक जिनेन्द्रभक्ति दुर्गति का निवारण करती है, पुण्य को प्रदान करती है और वह मोक्ष पद प्रदान करने की शक्ति सम्पन्न है।

भगवान की दिव्य वाणी छह-छह घड़ी प्रभात काल, मध्याह्न काल, सायंकाल तथा मध्य रात्रि में

खिरती है। समवशरण निरंतर दिव्य प्रकाश से देदीप्यमान होता है, इसलिए वहाँ रात्रि भी दिन के समान लगती है। शांतिप्रेमी प्राणी उस वाणी को अमृत मानकर उसका रसपान करते हैं और अपनी भवबाधा दूर करते हैं। कहा भी है

पुव्वण्हे मज्झण्हे अवरण्हे मज्झिमाए रत्तीए।
छच्छग्घडिया णिग्गय दिव्वज्झुणी कहइ सुत्तत्थे ।।

समवशरण की दिव्य अचिन्त्य तथा अद्भुत विभूति एवं अरहंत भगवान का चमत्कार पूर्ण और आकर्षक व्यक्तित्व भव्य आत्माओं को अपनी ओर आकर्षित करता है। किंतु जिनके तीव्र मिथ्यात्व का उदय है, वे जीव इस कल्याण के श्रेष्ठ साधन से लाभ नही लेते। समवशरण के बाहर अनेक मिथ्यावादी, मिथ्या-प्रचार करने मे लगे रहते हैं। सूर्योदय होने पर जगत् हर्षित होता है, किन्तु उल्लू, चमगीदड़ आदि उससे लाभ न ले उस समय अपने नेत्र बद कर लेते है।

जिनेन्द्र का शासन सपूर्ण प्राणियो का कल्याणकारी है।

पद्म पुराण मे कहा है—

अनाथामबन्धूना दरिद्राणा सुदुःखिनाम्।
जिनशासनमेतद्धि परमं शरण मतम् ।।

अनाथ, बधुविहीन, दरिद्र तथा अत्यन्त दुःखी जीवो के लिए पवित्र जिन शासन शरण रूप है।

अरहत भगवान की अपार महिमा को ध्यान मे रखकर ग्रंथकार ने ग्रथ के आरंभ मे उनको अपनी प्रणामाजलि अर्पित की है। समयसार मे शुद्ध आत्मा का प्रतिपादन किया गया है। उसमे सिद्ध भगवान रूप इद्रियो के अगोचर, वचनो के भी अविषय आत्मा की शुद्ध अवस्था की अभिवदना की है।

यह पचास्तिकाय ग्रथ आत्मा, अनात्मा आदि का निरूपण करता है। कुदकुद स्वामी ने अपनी इस रचना को 'पवयणसार', प्रवचन सार, जिनवाणी का सार बताया है। (१७३)

अनादि, अपराजित पचनमस्कार महामत्र मे सिद्धो को नमस्कार के पूर्व 'णमो अरहताण' पद द्वारा चार घातिया कर्मों के नाशक, असिद्ध अवस्था युक्त अरहन्तो को प्रणाम किया है, क्योकि उनकी दिव्य ध्वनि रूप भास्कर से सर्व जगत् को मोक्ष मार्ग का प्रकाश प्राप्त होता है। अरहत देव द्वारा अगणित जीवो का हित होता है, इस बात को ध्यान मे रखकर महामुनि कुदकुद स्वामी ने अरहंत भगवान को ग्रथ के आरम्भ मे प्रणाम किया है। इससे व्यवहार दृष्टि भी उपयोगी तथा कल्याणदायिनी है, यह बात स्पष्ट हो जाती है। यह भी खुलासा हो जाता है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कथचित् उपकार करता है।

समण मुहुग्गदमट्ठ चदुग्गदि-णिवारणं सणिव्वाणं ।
एसो पणमिय सिरसा समयमियं सुणह वोच्छामि ।।२।।

श्रमण-मुखोद्गतार्थं चतुर्गतिनिवारण सनिर्वाण ।
एष प्रणम्य शिरसा समयमियं शृणुत वक्ष्यामि ।२।

सर्वज्ञ वीतराग भगवान रूप महाश्रमण के मुख से उत्पन्न जीव आदि पदार्थों का निरूपण करने वाले, नरक, पशु मनुष्य तथा देवगति में जीव के परिभ्रमण का निवारण करने वाले और निर्वाण के स्वरूप का

प्रकाशन करने वाले समय अर्थात् परमागम को मस्तक द्वारा प्रणाम करके में उसका प्रतिपादन करता हूँ। हे भव्य उसे सुनो।

विशेष—यहाँ 'समय' शब्द वाच्य द्रव्यागम की आचार्य कुंदकुंद ने मस्तक द्वारा अभिवंदना की है। यह जिन वाणी चौरासी लाख योनियों में परिभ्रमण करने वाले मोही जीव के कष्टों को दूर करने में सहायक है। इसके आश्रय से मोक्ष की भी प्राप्ति होती है।

सर्वज्ञ वीतराग की वाणी को आगम कहा गया है। नियमसार मे कहा है—

तस्स मुहग्गयवयण पुव्वावरदोसविरहियं ।
आगममिदि परिकहियं तेण दु कहिया हवंति तच्चत्थं ॥८॥

अरहंत सर्वज्ञ देव के मुख से उत्पन्न वचन, जो पूर्वापर दोष रहित है, आगम कहे गए हैं। इसी आप्त वाणी द्वारा तत्त्वार्थ की प्रतिपादना की गई है। भगवान की वाणी को अर्थरूप से गणधर देव ने अवधारणा करके उसको द्वादशांग रूप शब्दरूपता प्रदान की। यह कार्य गणधर देव ने जगत् के हितार्थ किया था।

ततः स्वायंभुवीं वाणीमवधार्यार्थतः कृती।
जगद्धिताय सोऽग्रथीत्तत्पुराणं गणाग्रणी ।१-१६४। महापुराण

वृषभसेन गणधर ने ऋषभ देव भगवान की वाणी को अर्थरूप से हृदय में धारण कर लोक कल्याण के हेतु उसकी पुराणरूप से रचना की।

ततोऽत्र मूलतन्त्रस्य कर्त्ता पश्चिम-तीर्थकृत्।
गौतमश्चानुतन्त्रस्य प्रत्यासत्तिक्रमाश्रयात् ।१-२०१।

इस पुराण के मूलतंत्र के कर्त्ता पश्चिम तीर्थंकर (अन्तिम तीर्थंकर) भगवान महावीर हैं और निकट क्रम की अपेक्षा उत्तर ग्रन्थ कर्त्ता गौतम गणधर है।

वीरजिन के द्वारा प्रतिपादित अर्थरूप उपदेश को मति-श्रुत-अवधि मन.पर्ययरूप चार ज्ञानधारी, सप्तऋद्धि समन्वित गौतम गणधर ने ग्रहण किया तथा उसी समय अंतर्मुहूर्त मे द्वादशांग वाणी रूप ग्रन्थ रचना की। जयधवला टीका मे लिखा है कि इंद्रभूति गौतम ने अपने समान गुणालंकृत सुधर्माचार्य के लिए व्याख्यान किया। ग्रन्थ मे कहा है *तेण गोदमगोत्तेण इंदभूदिणा अतोमुहुत्तेणावहारियदु-वालसंगत्थेण तेणेव कालेण कय-दुवाल-संगगंथरयणेण गुणेहि सगसमाणस्स सुहम्माइरियस्स गंथो वक्खाणिदो ।जय. प्र.८४भाग१।

सर्वज्ञ देव की दिव्य ध्वनि के आधार पर रचित समस्त जिनागम प्रमाण है। जब वक्ता सर्वज्ञ, वीतराग, हितोपदेशी, आप्त नही रहता है, तब उस रचना की, युक्ति की कसौटी पर, परीक्षा की जाती है।

आचार्य समंतभद्र ने आप्तमीमांसा मे कहा है—

वक्तर्यनाप्ते यद्धेतोः साध्यं तद्धेतुसाधितम्।
आप्ते वक्तरि तद्वाक्यात्साध्यमागमसाधितम् ॥७८॥

---

*उत्तर पुराण में गुणभद्र आचार्य ने लिखा है कि—वर्धमान भगवान की दिव्य ध्वनि श्रावण कृष्ण प्रतिपदा के दिन सबेरे खिरी थी। रात्रि के पहले भाग में गौतम स्वामी ने अंगरूप ग्रन्थ रचे और रात्रि के अंतिम भाग में पूर्वरूप ग्रन्थों की रचना की।

अंगानाम् ग्रन्थसन्दर्भम् पूर्वरात्रे व्यधामहं।
पूर्वानां पश्चिमे भागे ग्रंथकर्त्ता ततोभवं। पर्व ७४, श्लोक ३७१–७२।

जब वक्ता सर्वज्ञ वीतराग हितोपदेशी रूप गुण युक्त आप्त नही होता तब जो बात युक्ति के द्वारा सिद्ध होती है उसे हेतु साधित कहते हैं, कारण वह कथन युक्ति की कसौटी पर कसा हुआ है। जब वक्ता आप्त होता है, जिसके सर्वज्ञता आदि विशेषताओं का समावेश रहता है, तब उनके वाक्यो से जो बात प्रतिपादित हुई है उसे आगम साधित कहते है। आगम मे लौकिक अलौकिक सुदूरवर्ती तथा काल से अन्तरित पदार्थों का निरूपण पाया जाता है। दोष के कारण अज्ञान और मोह हैं। सर्वज्ञ वक्ता मे उनका अभाव हो जाने से उनकी वाणी स्वय सिद्ध परम सत्य हो जाती है।

आचार्य कुदकुद ने इस गाथा द्वारा यह बात स्पष्ट की है कि इस ग्रन्थ का कथन मेरी कल्पना नही है वह अत्यन्त प्रामाणिक तत्वो का निरूपण रूप है। वह सर्वज्ञ वीतराग वीर भगवान रूप महाश्रमण की देशना है इसीलिए वह परमागम रूप होने से विचारवान भव्यात्माओ के लिए मान्य है।

समवाओ पंचण्हं समउत्ति जिणुत्तमेहिं पण्णत्तं ।
सो चेव हवदि लोओ तत्तो अमिओ अलोओ खं ।।३।।
समवायः पचानां समय इति जिनोत्तमैः प्रज्ञप्तम् ।
स च एव भवति लोकस्ततो ऽमितलोकः ख ।।३।।

जिनेन्द्र भगवान ने जीव, धर्म, अधर्म, आकाश तथा पुद्गल इन पच अस्तिकाय रूप द्रव्यो के समूह को समय कहा है। यह लोक शब्द मे अतर्भूत है। इसके परे अनन्त आकाश को अलोक कहा है।

विशेष— समय, काल का वाचक लोक मे प्रसिद्ध है। यहाँ उसको छोडकर जीव धर्म अधर्म आकाश और पुद्गल को समय कहा है। इसका कारण यह है, काल द्रव्य मे धर्म आदि के समान बहु प्रदेशपना नही पाया जाता इसलिए द्रव्य होते हुए भी काल की परिगणना पच अस्तिकाय द्रव्य मे नही की है।

टीकाकार अमृतचद सूरि ने शब्द समय रूप शब्दागम कहा है। ज्ञान रूप ज्ञान समय को ज्ञानागम कहा है। और सम्पूर्ण पदार्थों के समुदाय को अर्थ समय कहा है। ज्ञान समय के परिज्ञान हेतु शब्द रूप समय के सबंध से यहाँ अर्थ समय का प्रतिपादन किया है। यह अर्थ समय दो प्रकार का है लोक तथा अलोक। जहाँ तक पंच अस्तिकाय रूप समय का सद्भाव है, वहाँ तक लोक का अस्तित्व माना गया है। उसके आगे अनन्त आकाश है।

आगम मे छह द्रव्य कहे गये हैं। उनमें काल का भी अतर्भाव है। काल द्रव्य बहुप्रदेशी न होने से पंचास्तिकाय वर्ग से बहिर्भूत है।

लोक मे सुवर्ण आदि को द्रव्य कहा जाता है। यहाँ उस द्रव्य से प्रयोजन नही है। गुण पर्याय युक्त जीव, धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल तथा काल ये द्रव्य कहे गये हैं। द्रव्य से गुण कथचित् भिन्न है तथा कथंचित् अभिन्न है। गुण और पर्याय पृथक रूप से द्रव्य को छोडकर नही पाये जाते, इसलिए वे द्रव्य की दृष्टि से भेद रहित हैं। किन्तु सज्ञा (नाम) लक्षण प्रयोजनादि की अपेक्षा कथंचित् भेद माना गया है। सर्वार्थ सिद्धि मे पूज्यपाद ऋषिराज ने लिखा है, "व्यतिरेकेणनु अनुपलब्धेरभेदः, सज्ञा–लक्षण प्रयोजनादिभेदात् भेदः" (अ. ५ सूत्र २) गुण तथा पर्याय का द्रव्य से पृथक रूप से उपलब्धि न होने से उनमे द्रव्य से अभिन्नता है। संज्ञा, लक्षण, प्रयोजन आदि की भिन्नतावश उनमे कथंचित् भेद माना है।

जीवा पुग्गल काया धम्माऽधम्मा तहेव आयासं ।
अत्थित्तम्हि य णियदा अणण्णमइया अणु-महंता ।।४।।

जीवाः पुद्‌गलकाया धर्मोऽधर्मो तथैव आकाशं ।
अस्तित्वे च नियता अनन्यमया अणु-महांतः ।।४।।

अनन्त जीव, अनन्त पुद्‌गल, एक धर्म, एक अधर्म तथा एक आकाश ये पंच अस्तिकाय अपने-अस्तित्व में अवस्थित हैं। ये पृथक रूप नहीं है, इसलिए इन्हें अनन्य कहा है। अणु अर्थात प्रदेशों की अपेक्षा से ये काय (महान) अर्थात बहुप्रदेशी कहे गये हैं।

विशेष --शरीर के समान बहुप्रदेश युक्त होने से तथा अस्तित्व गुण के कारण जीवादि को जिन शासन मे अस्तिकाय कहा है। गाथा मे आगत 'अणु' शब्द प्रदेशों का वाचक है तथा 'महान' शब्द बहुप्रदेशीय काय का सूचक है। "अणुशब्देनात्र प्रदेशा गृह्यन्ते। अणुभि प्रदेशैः महान्तः द्वयणुक-स्कंधापेक्षया द्वाभ्यामणुभ्यां महान्तो अणुमहान्ता इति कायस्वमुक्त"—अणु शब्द के द्वारा प्रदेश को ग्रहण किया है। अणु अर्थात् प्रदेशों से द्वयणुक स्कंध की अपेक्षा दो अणु आदि को महान कहा है। इस प्रकार अणु महान का अर्थ है कि ये पंच द्रव्य काय है। इसलिए इनको अस्तिकाय कहा गया है।

काल द्रव्य मे शक्ति की अपेक्षा और व्यक्ति की अपेक्षा प्रदेश का प्रचय नहीं पाया जाता, इसलिए उसे महान नही गिना है। पुद्‌गल का परमाणु एक प्रदेशीय होते हुए भी प्रदेशो के समुदाय रूपता को प्राप्त करता है, इसलिए पुद्‌गल की काय मे गणना की गई है।

शका---जिस प्रकार काल के अणु हैं उसी प्रकार पुद्‌गल का परमाणु है, तब काल के समान पुद्‌गल को काय नही मानना चाहिए।

उत्तर—पुद्‌गल का परमाणु शक्ति रूप से काय कहा गया हैं, क्योंकि वह परमाणु अन्य परमाणुओं से मिलकर स्कंध रूप बन सकता है। यह बात काल द्रव्य मे नही है। काल के जितने अणु हैं, वे मिलना नही जानते। उनमे सगठनपना नही है। उनमे प्रत्येक कालाणु का परिणमन जुदा-जुदा है, इसलिए अस्तिकाय का प्रतिपादन करने वाले इस ग्रंथ का नाम काल छोडकर पंचास्तिकाय रखा गया है।

जेसिं अत्थिसहाओ गुणेहिं सह पज्जएहिं विविहेहिं
ते होंति अत्थिकाया णिप्पण्ण जेहिं तइलुक्कं ।।५।।

येषामस्तिस्वभावः गुणैः सह पर्यायै विविधैः ।
ते भवन्त्यस्तिकायाः निष्पन्नं यैस्त्रैलोक्यम् ।।५।।

जिन पंच अस्तिकायों का अनेक गुण तथा पर्यायों के साथ अस्तित्व स्वभाव है, वे अस्तिकाय कहे जाते हैं। इनके द्वारा तीनों लोकों का सद्भाव माना जाता है।

विशेष—जो द्रव्य के साथ रहते हैं उन्हे गुण कहते हैं। जो क्रमवर्ती हैं उन्हे पर्याय कहते हैं। 'सहभुवो गुणाः क्रमवर्तिनः पर्यायाः'। गुण पर्याय की दूसरी परिभाषा है 'अन्वयिनो गुणाः, व्यतिरेकिणः पर्यायाः'—जो द्रव्य के साथ अन्वय रूप से पाये जाते हैं, उन्हे गुण कहते हैं। जो परस्पर में व्यतिरेक रूप से अर्थात् पृथक रूप से पाई जाती हैं उन्हें पर्याय कहते हैं।

जीव के केवल ज्ञान आदि स्वभाव गुण हैं। मतिज्ञानादि विभाव गुण है। सिद्ध अवस्था स्वभाव पर्याय है। नर-नारक आदि अवस्था विभाव पर्याय है।

शुद्ध पुद्गल के परमाणु मे पाये जाने वाले रूपादि स्वभाव गुण हैं। स्कन्ध मे जो वर्णादिक पाये जाते हैं वे विभाव गुण हैं। शुद्ध परमाणु रूप मे अवस्थान स्वभाव द्रव्य पर्याय है। वर्णादिक मे जो परिणमन है उसे स्वभाव गुण पर्याय कहते हैं। द्वयणुकादि स्कन्ध रूप से पुद्गल का परिणमन विभाव द्रव्य पर्याय है। द्वयणु-कादि स्कन्धो मे वर्ण रसादि का जो परिणमन है वह विभाव गुण पर्याय है। अस्तित्व वस्तुत्व प्रमेयत्व अगुरु-लघुत्व आदि सर्व द्रव्यो के साधारण सामान्य गुण हैं। धर्मादि द्रव्यो के विषय में ग्रंथ मे आगे वर्णन किया गया है। इन जीवादि के सद्भाव से लोक का सद्भाव माना गया है।

ते चेव अत्थिकाया तेकालिय भावपरिणदा णिच्चा।
गच्छंति दवियभाव परियट्टण लिंग सजुत्ता ॥६॥

ते चैव अस्तिकायाः त्रैकालिकभावपरिणताः नित्याः
गच्छति द्रव्यभावं परिवर्तनलिगसयुक्ताः ॥६॥

वे पच अस्तिकाय, द्रव्यो के परिवर्तन मे कारण रूप काल द्रव्य सयुक्त हो, छह द्रव्य कहे गये हैं। ये द्रव्य भूत, वर्तमान तथा भविष्यत् काल रूप परिणमन युक्त होते हुए भी अपने स्वरूप का परित्याग न करने के कारण नित्य कहे गये हैं।

विशेष—काल द्रव्य प्रदेशो के समुदाय रूप न होने से यद्यपि उसकी परिगणना पच अस्तिकाय द्रव्यो मे नही की गई है किन्तु उसमे द्रव्यपना पाया जाता है। वह सम्पूर्ण द्रव्यो के परिणमन मे कारण रूप है। इसमे उसको मिलाकर द्रव्यों की सख्या छह हो जाती है।

महापुराणकार ने लिखा है यह काल द्रव्य स्वय असख्यात पृथक्-पृथक् परमाणु रूप होते हुएभी अनत पदार्थों के परिणमन मे सहकारी होता है। जिस प्रकार कुभकार के चक्र के परिभ्रमण मे उसकी कील सहायक है उसी प्रकार द्रव्यों के परिणमन मे काल द्रव्य सहकारी है। ससार के समस्त पदार्थ अपने-अपने गुण पर्यायो द्वारा स्वय परिणमन को प्राप्त होते हैं। यह काल द्रव्य उनके परिणमन मे सहकारी कारण है। इस काल द्रव्य मे प्रदेशो का समुदाय नही है किन्तु गुणो का समुदाय इसमे पाया जाता है।

प्रदेश-प्रचयापायात्कालस्यानास्ति कायता।
गुणप्रचययोगोस्य द्रव्यत्वादस्ति सोस्त्यतः ॥ पर्व। ३-८॥

काल द्रव्य अस्तिकाय नही है, क्योकि उसमे प्रदेशो का प्रचय अर्थात् समुदाय नही है, किन्तु काल भी द्रव्य है और गुण रहित द्रव्य नही होता। इसलिए काल द्रव्य मे अन्य द्रव्यो के समान गुणों का प्रचय पाया जाता है। प्रदेश प्रचय रहित काल मे गुण प्रचय है।

ये छह द्रव्य परिणमनशील होते हुए भी नित्य कहे गये हैं। जैन शासन में द्रव्य सर्वथा नित्य नही है तथा वह सर्वथा क्षण मे समूल क्षय होने वाला भी नही है। वह कथचित् नित्य और कथंचित् अनित्य है। यह बात सबके अनुभव गोचर भी है।

गोम्मटसार जीव काण्ड मे लिखा है—

वत्तणहेदूकालो वत्तणगुणभविय दव्वणिचयेसु।
कालाधारेणेव वट्टंति हु सव्वदव्वाणि ॥ ५६७ ॥

सम्पूर्ण द्रव्यो का गुण वर्तना है। वह परिणमन बिना सहकारी कारण के नही हो सकता। इसीलिए उन द्रव्यों के परिणमन में सहकारी कारण चाहिए। वह सहकारी कारण काल द्रव्य है, क्योंकि काल के आधार से सभी द्रव्य परिणमन करते हैं।

अण्णोण्णं पविसंता दिंता ओगास मण्ण मण्णस्स।
मेलंता विय णिच्चं सगं सभावं ण विजहंति ॥७॥
अन्योयं प्रविशन्ति ददन्त्यवकाशमन्योऽन्यस्य ।
मिलन्त्यपि च नित्य स्वक स्वभावं न विजहंति ॥७॥

ये सभी द्रव्य परस्पर मे प्रविष्ट होते है। वे अन्य द्रव्यो को अवकाश प्रदान करते है। ये जीव पुद्गल धर्म, अधर्म, आकाश काल सर्वदा मिलते हैं, किन्तु अपने स्वभाव का वे परित्याग नही करते।

विशेष– लोकाकाश मे छह द्रव्य पूर्णतया ठसाठस भरे हुए है। जहाँ हम हैं वहाँ धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य आकाश द्रव्य, काल द्रव्य तथा पुद्गल द्रव्य विद्यमान हैं। प्रत्येक द्रव्य के स्वतन्त्र अस्तित्व को कोई बाधा नहीं आती है। वे स्वरूप की अपेक्षा पृथक् हैं, यद्यपि परस्पर मे मिले हुए हैं। उनकी संख्या न घटती है न बढती है।

जैसे हम पुद्गल द्रव्य मे अनेक प्रकार के परिणमन देखते हैं, इस प्रकार का नाना रूप परिणमन द्रव्यो मे नही है। धर्म द्रव्य, अधर्म रूप नही होगा। जीव द्रव्य आकाश रूप नहीं होगा। प्रत्येक द्रव्य का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है। इसको कोई भी अन्य शक्ति नही बदल सकती। अन्य दर्शनों में ईश्वर जैसा चाहे वैसा परिवर्तन करने की शक्ति युक्त माना गया है इसीलिए उसे सर्वशक्तिमान कहा गया है। जैन दर्शन में ईश्वर को सर्वत्र वीतराग अनन्त शक्ति सहित स्वीकार किया गया। इसीलिए वह छह द्रव्यो के परिणमन से कोई सम्बन्ध नही रखता। उन द्रव्यो का परिणमन अपने-अपने स्वभाव के अनुसार होता है। पदार्थों का स्वभाव सनातन तथा अविनाशी है।

सत्ता सव्वपयत्था सविस्सरूवा अणंतपज्जाया।
भगुप्पाद धुवत्ता सप्पडिपक्खा हवदि एक्का ॥८॥
सत्ता सर्वपदस्था सविश्वरूपा अनन्त पर्याया ।
भगोत्पाद-ध्रौव्यात्मिका सप्रतिपक्षा भवत्येका ।

अस्तित्व को सत्ता कहते हैं। वह सर्वपदार्थों मे विद्यमान है। वह नाना स्वरूप युक्त होने से विश्व रूप है। सर्व पदार्थ-व्यापी सत्ता अनन्त पर्याय सहित है। उस सत्ता मे ध्रौव्य उत्पाद तथा व्यय विद्यमान हैं। वह एक रूप है, वह सत्ता प्रतिपक्ष स्वरूप भी है।

विशेष—सत्ता का प्रतिपक्ष पर द्रव्य, पर क्षेत्र, पर काल तथा पर भाव की अपेक्षा युक्त असत्ता है। विश्व रूप सत्ता का प्रतिपक्ष एकरूप सत्ता (अवान्तर सत्ता) है। अनन्त पर्याय रूप सत्ता का प्रतिपक्ष एक पर्याय है। उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य रूप त्रिविध सत्ता का प्रतिपक्ष उत्पाद अथवा व्यय अथवा ध्रौव्य पना है। एक रूप महा सत्ता का प्रतिपक्ष अवान्तर सत्ता है।

इस प्रकार सत्ता, असत्ता आदि रूप पदार्थ माना गया है। इन गुणों मे परस्पर में प्रतिपक्षपना होने से कोई विरोधादि दोष नही आते, क्योंकि यहाँ एकान्त पक्ष नही है। उनमे परस्पर में सापेक्षपना पाया जाता है। समंतभद्र स्वामी ने आप्तमीमांसा मे कहा है– सत् सामान्य से सर्व द्रव्यादि एक हैं, द्रव्यादि के भेद से वे द्रव्यादि परस्पर में भिन्न हैं।

सत्सामान्यात्तु सर्वैक्यं पृथग्द्रव्यादिभेदतः ।

वक्ता की जैसी विवक्षा होती है, उसके अनुसार तत्त्व का प्ररूपण करता है। जब सामान्य विवक्षा मुख्य होती है, तब भेद का कथन गौण रूप हो जाता है।

दवियदि गच्छदि ताइं ताइं सब्भाव पज्जयाइं जं ।
दवियं तं भण्णंते अण्णण्णभूदं तु सत्तादो ।। ९ ।।
द्रवति गच्छति तांस्तान् सद्भावपर्यायान् यत् ।
द्रव्यं तत् भणन्ति अनन्यभूतं तु सत्तातः ।। ९ ।।

जो सामान्य रूप से सहभावी गुणो और क्रमवर्ती पर्यायो को प्राप्त होता है, वह द्रव्य है। यह द्रव्य सत्ता से अनन्यभूत है, क्योकि यह भिन्न रूप नही है सत्ता द्रव्य से अभिन्न है।

विशेष 'तत्वार्थ सूत्र में कहा है 'गुण-पर्ययवद् द्रव्यम्' गुण और पर्याय के समुदाय रूप द्रव्य है। द्रव्य का लक्षण सत् है' सद्द्रव्यलक्षण" इस आगम के प्रकाश मे द्रव्य, गुण, पर्याय सत्ता से भिन्न नही है।

आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं "द्रव्याणि हि सहक्रमभुवां गुण-पर्यायाणामनन्यतयाऽऽधारभूतानि भवंति" सहभावी गुण तथा क्रम भावी पर्यायो से अपृथक् होने से द्रव्य उनका आधार होता है। द्रव्य तथा गुण पर्यायो मे आधार आधेय भाव है।

शका-- यहाँ पर्याय को क्रमभावी कहा है। उसे क्रमबद्ध पर्याय क्यो नही कहा ?

उत्तर- द्रव्य मे जो परिणमन होता है वह किसी क्रम नाम की वस्तु से बँधा नही है। क्रमवर्तीपना पदार्थ का स्वभाव है इसीलिए पर्याय को क्रमभावी कहा है क्रमबद्ध नही। राजवार्तिक मे लिखा है—'द्रव्यस्य परिणमनम् परिवर्तनं पर्याय'—द्रव्य के परिणमन अर्थात् परिवर्तन को पर्याय कहते हैं।

"द्रव्यस्य द्वावात्मानौ सामान्यविशेषश्चेति। तत्र सामान्यमुत्सर्गोऽन्वय गुण इत्यर्थान्तरम्। विशेषो भेद. पर्याय इति पर्याय शब्द। तत्र-सामान्य विषयो नयोद्रव्यार्थिकः। विशेष-विषयः पर्यायार्थिक। तदुभय समुदित-मयुत सिद्ध- स्वरूप द्रव्यमित्युच्यते। तत् समुदायोपि प्रमाण—गोचर सकलादेशत्वात् प्रमाणस्य।" (पृ ३४३)

द्रव्य सामान्य विशेष रूप दो स्वरूप है। सामान्य, उत्सर्ग, अन्वय, गुण ये पर्यायवाची शब्द है। विशेष, भेद, पर्याय ये पर्याय के नामान्तर है। सामान्य को विषय करने वाला जो नय है, उसे द्रव्यार्थिक नय कहते हैं। पर्याय अर्थात् विशेष को विषय करने वाला पर्यायार्थिक नय है। सामान्य तथा विशेष पृथक रूप नही है। उन्हे अमुतसिद्ध कहते हैं। सामान्य-विशेष को द्रव्य कहते हैं। उन दोनो के समुदाय को ग्रहण करने वाला ज्ञान प्रमाण कहा गया है। प्रमाण सकलादेशी होता है। "सकलादेशः प्रमाणाधीनः विकलादेश. नयाधीनः।"

यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि द्रव्य पर्याय समुदाय रूप है। इसीलिये पर्याय और द्रव्य मे ये तादात्म्य भाव है। क्रमबद्ध पर्याय को मानने पर क्रमबद्ध पर्याय का अर्थ होगा पर्यायबद्ध पर्याय। इस प्रकार का प्रयोग वस्तु स्वरूप के अज्ञान का ज्ञापक है।

द्रव्य गुण तथा पर्याय का स्वरूप समझने के लिये सरोवर का उदाहरण उपयोगी है। सरोवर द्रव्य सदृश है। उसमे विद्यमान पानी गुण सदृश है। पानी का पवन संचार के निमित्त से लहर युक्त होना अथवा पवन संचार के अभाव मे शात रूप होना पर्याय समान है। केवल जल पर दृष्टि देने से वह सरोवर जलमय लगता है। जब जल मे उत्पन्न लहरों पर दृष्टि दी जाती है, तब वह सरोवर अगणित पर्यायों का समुदाय रूप

प्रतीत होता है। सरोवर सामान्य की अपेक्षा जल रूप है। लहरों की अपेक्षा वह लहरों का समूह रूप है।

जैन धर्म वस्तु स्वरूप का निरूपण करता है। जीव मे गुण पाये जाते हैं; इसीलिए उसे नित्य कहा जाता है। उसमे परिवर्तन रूप पर्याय पाई जाती है, इसीलिए उसे अनित्य कहा जाता है। वस्तु यदि एकान्त नित्य मानी जाए अथवा एकान्त अनित्य मानी जाए तो वह हमारे अनुभव और चिन्तन के विरुद्ध है।

दव्वं सल्लक्खणियं उप्पादव्वय-धुवत्तसंजुत्त ।
गुण पज्जासयं वा जं तं भण्णंति सव्वण्हू ।। १० ।।
द्रव्यं सल्लक्षणकं उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्वसयुक्त ।
गुणपर्यायाश्रय वा यत्तद्भणंति सर्वज्ञा ।। १० ।।

सर्वज्ञ भगवान की देशना है कि जो सत्ता लक्षण युक्त है, वह द्रव्य है। जिसमे उत्पाद व्यय तथा ध्रौव्यपना पाया जाता है, उसे भी द्रव्य कहते हैं, जो गुण पर्यायो का आश्रय है, वह भी द्रव्य है।

यहाँ ग्रन्थकार ने सर्वज्ञ प्रतिपादित द्रव्य के तीन लक्षण कहे हैं। 'सद् द्रव्यलक्षणम्' (अ. ५ सूत्र २९) द्रव्य का लक्षण सत् है। सत् का अर्थ है अस्तित्व। वहअस्तित्व रूप वस्तु उत्पाद व्यय ध्रौव्य लक्षण रूप कही गई है "उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्" (तत्त्वार्थ सूत्र ५-३०)।

उदाहरणार्थ सुवर्ण रूप द्रव्य है उसमे ककण पर्याय का लोप होकर कुंडल पर्याय की उत्पत्ति हुई। पूर्व पर्याय का विनाश तथा नवीन पर्याय का उत्पाद होते हुए भी मूल सुवर्ण के पीत पना गुरुत्व पना आदि गुणों की अपेक्षा वह सुवर्ण विद्यमान है। इसे ध्रौव्य रूपता कहते हैं। यहाँ एक बात विशेष है, द्रव्य में पूर्व पर्याय का व्यय होता और नवीन पर्याय का उत्पाद होता है। ऐसा नही है, कि जिस पर्याय का उत्पाद है, उसी का व्यय है। ऐसी मान्यता युक्तिविरुद्ध है।

द्रव्य मे सहभावी गुण होते है। जैसे जीव का ज्ञान गुण सहभावी है। वह जीव के बिना पृथक नही रहता है। जीव भी उसके बिना पृथक नही रहता है। दोनो मे अविनाभाव सम्बन्ध है। जीव मे मनुष्य, पशु, आदि रूप अवस्थाएं क्रम रूप से पाई जाती है, इन अवस्थाओ को पर्याय कहा है। द्रव्य को गुण और पर्यायो का अभिन्न आश्रय कहा है। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य के कारण तत्त्व को त्रयात्मक माना है। स्वामी समन्तभद्र ने आप्तमीमांसा मे कहा है--"तस्मात् तत्त्व त्रयात्मक ।६०। इसीलिए तत्व त्रिविध रूप माना है। तत्त्वार्थ सूत्र मे द्रव्य को "गुण--पर्ययवद् द्रव्यम्" कह कर, उसे गुण और पर्याययुक्त कहा है।

द्रव्य सत्तारूप है। द्रव्य गुण पर्याययुक्त है। द्रव्य उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूप है। ये तीन लक्षण परस्पर विरोधी नही हैं। ये परस्पर सापेक्ष हैं।

उप्पत्तीव विणासो दव्वस्स य णत्थि अत्थि सब्भावो ।
विग-मुप्पाद-धुवत्तं करेंति तस्सेव पज्जाया ।।११।।
उत्पत्तिर्वा विनाशो द्रव्यस्य च नास्त्यस्ति सद्भावः ।
विगमोत्पाद-ध्रुवत्व कुर्वन्ति तस्यैव पर्यायाः ।।११।।

अनादिनिधन त्रिकालवर्ती द्रव्य का उत्पाद और विनाश नही होता है। द्रव्यार्थिकनयसे द्रव्य सत् स्वरूप है। पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा उस द्रव्य की पर्यायो मे उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्य पना पाया जाता है। शंका- उत्पत्ति विनाश और ध्रौव्यपना भिन्न-भिन्न लक्षणो वाले है। जो उत्पत्ति का लक्षण है वह व्यय

अथवा ध्रौव्य पने का लक्षण नही है। जब इन तीनों के लक्षण भिन्न भिन्न हैं, तब एक द्रव्य में इन परस्पर विरुद्ध बातो का कैसे समावेश होगा ?

उत्तर स्याद्वाद दृष्टि से एक ही पदार्थ को उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्य रूप मानना अबाधित है। एक व्यक्ति पिता, पुत्र, भाई आदि नामो से पुकारा जाता है। पुत्र की अपेक्षा वह पिता है। पिता की अपेक्षा वह पुत्र है और एक माता पिता से उत्पन्न होने के कारण भ्राता कहा जाता है। इस प्रकार भिन्न–भिन्न अपेक्षाओं से वस्तु में उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य पना स्वीकार करने मे बाधा नही है। यह अनुभव द्वारा समर्थित बात है। पूज्यपाद स्वामी ने सर्वार्थसिद्धि मे लिखा है "द्रव्यमपि सामान्यार्पणया नित्यं, विशेषार्पणयाऽनित्यमिति नास्ति विरोध। तौ च सामान्यविशेषौ कथञ्चित् भेदाभेदाभ्या व्यवहारहेतू भवत।"

द्रव्य नित्य है सामान्य की अपेक्षा, विशेष की अपेक्षा अनित्य है। इसे मानने मे कोई विरोध नही है। सामान्य और विशेष धर्म कथचित् भेद और अभेद की अपेक्षा से लोक व्यवहार के कारण होते है। एकांत रूप से द्रव्य में विरोधी धर्मों का समावेश नही हो सकता। जैन दर्शन की यह विशेषता है कि वह युक्ति और अनुभव दोनों से अबाधित है। हमारे अनुभव मे यह बात आती है कि मिट्टी का घडा फूट जाने पर जो उसके टुकडे हो जाते हैं, मिट्टी की अपेक्षा घट मे और घट खण्डों मे भेद नहीं है। उन दोनो मे एक दृष्टि से भेद भी पाया जाता है, क्योंकि घड़े में जिस प्रकार पानी भरकर लाया जाता है, उस प्रकार घट खण्डो से काम नही बनता। इस प्रकार विविधतापूर्ण वस्तु का स्वभाव है। सुवर्ण वस्तु मे ककण की पर्याय थी। उसका व्यय होकर कठाभरण की पर्याय उत्पन्न हुई। एक पर्याय का उत्पाद है, दूसरी का विनाश। किन्तु स्वर्णपने की अपेक्षा न उत्पाद है न विनाश, क्योंकि दोनों अवस्थाओ में सुवर्ण अविनाशी रूप से उपलब्ध होता है। इसी प्रकार द्रव्य मे पर्याय की अपेक्षा उत्पाद है, व्यय है, ध्रौव्यपना है, किन्तु सत् सामान्य की अपेक्षा न उत्पाद है, न व्यय है, न ध्रुव पना है। ये विरुद्ध दृष्टिया परस्पर मे टकराती नही हैं, क्योंकि अनेकात दृष्टि विरोध को दूर करती है और मैत्री को उत्पन्न करती है। परस्पर सापेक्ष कथन स्वीकार करने पर विरोध नही आता। स्याद्वाद शासन में विरोधी धर्मों मे परस्पर कलह नही है। उनमे अपूर्व मैत्री भाव है।

पज्जयविजुदं दव्वं दव्वविजुत्ता य पज्जया णत्थि।
दोण्हं अणण्णभूदं भावं समणा परूविंति ॥१२॥

पर्ययवियुत द्रव्य द्रव्यवियुक्ताश्च पर्याया न सन्ति।
द्वयोरनन्यभूत भाव श्रमणा प्ररूपयन्ति ॥१२॥

श्रमणों ने कहा है कि ऐसी कोई वस्तु नही है जो पर्याय रहित हो। पर्याय रहित वस्तु अथवा द्रव्य का सद्भाव नही है। द्रव्य और पर्यायो मे अनन्यपना अर्थात पृथकपने का अभाव पाया जाता है।

विशेष- अमृतचंद्र सूरि ने लिखा है दूध, दधि, नवनीत, घृत आदि पर्याय रहित गोरस के समान पर्याय रहित द्रव्य नही है। इसी प्रकार गोरसपने से विहीन दूध, दधि, नवनीत, घृत आदि पर्याये नही पायी जाती। इसलिए द्रव्य का पर्यायो के साथ कथंचित् भेद और कथंचित् अभेदपना है। क्षीर, दधि, घृत में गोरसपना जैसे है, वैसे ही द्रव्य मे पर्यायो का सद्भाव है।

पर्यायार्थिकनय की प्रधानता से सम्पूर्ण विश्व अनत पर्यायों से युक्त पाया जाता है। सर्वज्ञ देव ने कहा है कि द्रव्यार्थिक दृष्टि से वस्तु मे पर्यायो का सद्भाव गौण हो जाता है। उनका अभाव नही होता। जैसे ग्वालिन दधि मंथन करते समय एक हाथ से रस्सी को खीचती है और दूसरे हाथ की रस्सी को शिथिल

करती है। इसी प्रकार विभिन्न दृष्टियों के विषय में जानना चाहिए। ग्वालिन जैसे दोनों रस्सियों को क्रम-क्रम से आकर्षण, शिथिलीकरण क्रिया द्वारा नवनीत को प्राप्त करती है, उसी प्रकार जिनागम में भिन्न भिन्न अपेक्षाओं को ध्यान में रखकर तत्त्व का निरूपण सापेक्ष भाव से करने पर ज्ञानामृत की प्राप्ति होती है।

दव्वेण विणा ण गुणा गुणेहि दव्वं विणा ण संभवदि।
अव्वदिरित्तो भावो दव्व गुणाण हवदि तह्मा ॥ १३ ॥
द्रव्येण विना न गुणाः गुणैर्द्रव्य विना न संभवति।
अव्यतिरिक्तो भावो द्रव्यगुणानां भवति तस्मात् ॥१३॥

द्रव्य के बिना गुण नही पाये जाते। गुणों से विहीन द्रव्य का भी सद्भाव नही है। इसलिए द्रव्य और गुणो में भिन्नपने का अभाव है। वे अभिन्न है। जैसे पुद्गल द्रव्य के बिना स्पर्श, रस, गंध तथा वर्ण का पृथक सदभाव संभव नही है, उसी प्रकार स्पर्श, रस, गध, वर्ण इन गुणों के बिना पुद्गल का अस्तित्व भी नही है।

विशेष कुछ दर्शन द्रव्य और गुण मे सर्वथा पृथकपना मानते हैं। वे कहते हैं जीव का ज्ञान गुण उससे भिन्न हैं, ज्ञान और जीव का समवाय सम्बन्ध है।

इस एकान्त मान्यता को हमारा अनुभव तथा युक्ति खण्डित करते हैं। यदि जीव से ज्ञान गुण भिन्न माना गया तो ज्ञान रहित जीव का अस्तित्व स्वय सकट मे पड जायेगा। इसी प्रकार जीव के बिना ज्ञान का भी अस्तित्व मानना दोष युक्त है। इसलिए सर्वज्ञ भगवान के शासन में द्रव्य को गुणों से अभिन्न माना है तथा उस द्रव्य को पर्यायो से अभिन्न स्वीकार किया है।

उपरोक्त कथन से यह बात स्पष्ट होती है, कि द्रव्य से पर्याय भिन्न नहीं है, वे द्रव्य से अपृथग्भूत हैं। इसी प्रकार द्रव्य से गुण भी भिन्न नही है। गुणो का अखण्ड पिंड ही द्रव्य है। जब द्रव्य से पर्याय अभिन्न है तथा द्रव्य से गुण अभिन्न है, तब गुण तथा पर्याय भी सर्वथा भिन्न नही है। दोनों अनादि निधन द्रव्य से अभिन्न हैं। इससे वे परस्पर मे भिन्न नही है।

सिय अत्थि णत्थि उहयं अव्वत्तव्वं पुणो य तत्तिदयं।
दव्वं खु सत्त भंगं आदेसवसेण संभवदि ॥ १४ ॥
स्यादस्ति नास्त्युभय-मवक्तव्यं पुनश्च तत् त्रितयं।
द्रव्य खलु सप्तभंगमादेशवशेन संभवति ॥ १४ ॥

आदेशवश से अर्थात् प्रश्न की अपेक्षा द्रव्य मे ये सात भग पाये जाते हैं—स्यात् अस्ति, स्यात् नास्ति, स्यात् अवक्तव्य, स्यात् अस्ति नास्ति, स्यात् अस्ति–अवक्तव्य, स्यात् नास्ति–अवक्तव्य, स्यात् अस्ति नास्ति–अवक्तव्य।

विशेष--यहाँ वस्तु के सप्तभंग न्याय का कथन किया गया है। आचार्य अकलंक देव ने राजवार्तिक में कहा है--

प्रश्नवशादेकस्मिन्वस्तुनि अविरोधेन विधिप्रतिषेधकल्पना सप्तभंगी (२–६–पृ–२४)

प्रश्न के वश से एक पदार्थ में विधि अर्थात् अस्तित्व, निषेध अर्थात् नास्तित्व रूप परिकल्पना सप्त-भंगी है। मूल में अस्ति, नास्ति तथा अवक्तव्य रूप तीन भंग हैं। उनके दो संयोगी तीन भंग हैं। तीन संयोगी

एक भंग है । इस प्रकार सात भंग होते हैं । जैसे सोंठ, मिर्च और पीपल ये तीन वस्तु हैं । इनके दो संयोगी सोंठ मिर्च–मिर्च पीपल और सोंठ पीपल ये तीन भग होंगे । सोंठ, मिर्च, पीपल तीनो के संयोगी रूप एक भंग होगा । इस प्रकार इन सप्त भगों को सप्तभगी न्याय कहते हैं ।

वस्तु स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल, स्वभाव की अपेक्षा अस्ति रूप है । वह परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल, परभाव की अपेक्षा नास्ति रूप है । एक साथ अस्ति नास्ति का प्रतिपादन असभव होने से वस्तु कथचित् अवक्तव्य है । इन कथचित् अस्ति, कथचित् नास्ति, कथचित् अवक्तव्य रूप मूल भगो के द्वि सयोगी के तीन भंग इस प्रकार होगे—(१) अस्ति–नास्ति (२) अस्ति–अवक्तव्य (३) नास्ति अवक्तव्य । तीन सयोगी एक भग इस प्रकार होगा- अस्ति–नास्ति–अवक्तव्य रूप होगा । इस प्रकार तीन मूल भंग, तीन द्विसयोगी भग, एक त्रिसंयोगी भग मिलकर सप्तभगी जैन न्याय पद्धति कही गई है ।

स्वामी समन्त भद्र ने आप्त मीमासा मे कहा है—

कथचित् ते सदेवेष्ट कथचिदसदेव तत् ।
तथोभयमवाच्य च नययोगात् न सर्वथा ॥१४॥

हे जिनेन्द्र ! आपके शासन मे स्वरूप चतुष्टय रूप दृष्टि से वस्तु को अस्ति रूप माना गया है । पर-रूप चतुष्टय की अपेक्षा उसे कथचित् नास्ति रूप कहा है । वह वस्तु कथचित् अवाच्य अर्थात् अनिर्वचनीय है । वस्तु कथ चित् सत्, कथ चित् असत् स्वरूप है । वह कथ चित् सत्–अवक्तव्य, कथ चित् असत्–अवक्तव्य, तथा सत्–असत् रूप है । वह वस्तु किसी दृष्टि से सत्–असत्–अवक्तव्य रूप है । यह कथन परस्पर सापेक्ष होने से निर्दोष है । जिस दृष्टि से वस्तु अस्ति रूप है, उसी दृष्टि मे उसे निषेध रूप मानने पर विरोध दोष का उद्भव होगा । जिनेन्द्र के शासन मे परस्पर विरोध नही है । जिस तरह देवदत्त नाम का व्यक्ति अपने पिता की अपेक्षा पुत्र, स्त्री की अपेक्षा पति है, पुत्र की अपेक्षा पिता है, इसी प्रकार वस्तु मे अस्ति, नास्ति, सत्–असत् आदि सप्त प्रकार से तत्त्व निरूपण की शैली जिन आगम मे दर्शाई गई है ।

एकान्तवादी इस जैन दृष्टि के सौन्दर्य को न समझने के कारण यह कहते हैं कि जो वस्तु अस्ति रूप है, वह नास्ति रूप नही होगी । उनकी समझ मे यह बात नही आती कि जैन दार्शनिको ने वस्तु को सत् अथवा नित्य रूप कहा है, अस्ति रूप कहा है, उसी दृष्टि से नास्ति, असत् और अनित्य रूप नही माना है । दूसरी अपेक्षा से नास्ति आदि का कथन है । जैसे– गाय अपने स्वरूप की अपेक्षा अस्ति रूप है । वही गाय, हाथी, घोडा आदि भिन्न पदार्थों की अपेक्षा से नास्ति रूप है । इस स्याद्वाद दृष्टि की अपेक्षा आचार्य अकलक देव ने स्वरूप संबोधन काव्य मे लिखा है—'भगवान जिनेन्द्र आठ कर्मों का नाश कर मुक्त हुए हैं । दूसरी दृष्टि से वे मुक्त भी नही है ।'

प्रश्न– जो मुक्त है, उन्हे अमुक्त कहना बडी विचित्र बात है । इसका खुलासा आवश्यक है ।

उत्तर– सिद्ध भगवान कर्मों से रहित होने के कारण कर्मों से मुक्त कहे जाते हैं । उन्होने आत्म गुणों को प्राप्त किया है, वे दर्शन ज्ञान आदि गुणों से युक्त है, इसलिए वे उन गुणों की अपेक्षा अमुक्त अर्थात् संयुक्त हैं । उनके शब्द इस प्रकार हैं—

मुक्तामुक्तैकरूपो य. कर्मभि. संविदादिना ।
अक्षय परमात्मानं ज्ञानमूर्ति नमामि तम् ॥१॥

जो कर्मों के द्वारा मुक्त है तथा ज्ञान आदि के द्वारा अमुक्त है इस प्रकार कथंचित् मुक्त, कथंचित् अमुक्त रूप अक्षय, ज्ञान मूर्ति परमात्मा को मैं प्रणाम करता हूँ ।

सामान्यतया आत्मा को चैतन्य युक्त होने से चिदात्मक अर्थात् चैतन्य रूप कहा है। आचार्य अकलंक देव कहते हैं आत्मा अचेतन रूप भी है।

प्रश्न आत्मा को चेतन तो सब जानते हैं और जड़ द्रव्य को अचेतन कहते हैं। यहाँ जीव को अचेतन कहने में क्या रहस्य है ?

उत्तर–ज्ञान और दर्शन की अपेक्षा तो आत्मा चेतन रूप है। किन्तु ज्ञान और दर्शन के सिवाय प्रमेयत्व आदि धर्मों की अपेक्षा वह चिदात्मक नही है। इसलिए अकलंक स्वामी आत्मा को चेतनाचेतनात्मक कहते हैं—

प्रमेयत्वादिभिर्धर्मैरचिदात्मा चिदात्मकः।
ज्ञानदर्शनतस्तस्माच्चेतनाचेतनात्मकः ॥३॥

प्रमेयत्व आदि धर्मों की अपेक्षा आत्मा अचेतन है। ज्ञान दर्शन की अपेक्षा वह आत्मा चैतन्य रूप कहा जाता है। इसलिए जहाँ आत्मा ज्ञान दर्शन गुणो के कारण चेतन रूप है, वहाँ अस्तित्व प्रमेयत्व आदि गुणों की अपेक्षा वह अचेतन रूप है। यहाँ इस भ्रम का निवारण करना आवश्यक है कि जीव विशेष प्रकार के प्रतिपादन की अपेक्षा अचेतन कहा गया है। वास्तव मे उसके चेतनपने का अभाव रूप नही हो गया है। यहाँ अचेतन का अर्थ जड नही है किन्तु चैतन्यगुण से पृथक् है। आगम का सभी कथन स्याद्वाद दृष्टि से किया जाता है। जैसे आत्मा को एक दृष्टि से शुद्ध, बुद्ध कहा है, दूसरी दृष्टि से आत्मा के संसारी, मुक्त दो भेद कहे गए हैं। इस अपेक्षा से मुक्त आत्मा को शुद्ध और बुद्ध कहा जायेगा, किन्तु जिनके कर्म शत्रु पाये जाते हैं, उन ससारी आत्माओ की अपेक्षा आत्मा को शुद्ध बुद्ध न कह कर, अशुद्ध अबुद्ध कहा जायेगा। एकान्त पक्ष ग्रहण सम्यक्त्व का शत्रु है। सत्य तत्त्व की उपलब्धि हेतु विविध दृष्टियों मे परस्पर मे मैत्रीभाव चाहिये।

भावस्स णत्थि णासो णत्थि अभावस्स चेव उप्पादो।
गुणपज्जयेसु भावा उप्पाद-वए पकुव्वंति ॥१५॥

भावस्य नास्ति नाशो नास्ति अभावस्य चैव उत्पादः।
गुण-पर्यायेषु भावा उत्पादव्यय प्रकुर्वन्ति ॥१५॥

भाव अर्थात वस्तु का नाश नही होता है तथा अभाव का उत्पाद नही होता है। पदार्थ अपने गुणों तथा पर्यायो मे उत्पाद और व्यय को करते है।

विशेष – गोरस द्रव्य का उत्पाद नही होता है, विनाश भी नहीं होता है। उस गोरस की नवनीत पर्याय का विनाश होता है तथा घृत पर्याय का उत्पाद होता है। इसी प्रकार द्रव्यार्थिक नय से जीवादि द्रव्यों का उत्पाद तथा व्यय नही होता। गीता मे कहा है "नासतः विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः" असत् का उत्पाद नहीं होता, तथा सत् का विनाश नही होता है। यह कथन द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से यथार्थ है किन्तु ऐसा एकान्त पक्ष बाधित है। क्योंकि वस्तु मे विद्यमान पर्यायों का उत्पाद तथा क्षय होता है, इस तत्त्व को भी अस्वीकार नही किया जा सकता। जैसे देवदत्त नाम का व्यक्ति पहले शिशु था, युवक हुआ फिर वह वृद्ध हुआ और पश्चात् मरण कर अन्य गति को गया। यहाँ देवदत्त कहे जाने वाले मानव की अपेक्षा उसकी शिशु आदि अवस्थाएँ हैं। उन अवस्थाओं की दृष्टि से देवदत्त मे उत्पाद और विनाश अवस्थाओं की दृष्टि से विद्यमान है, किन्तु बाल्य आदि अवस्थाओं में देवदत्तपना नष्ट नही होता। जैन सिद्धान्त में द्रव्य दृष्टि से विश्व को अविनाशी तथा शाश्वतिक माना है और पर्याय की अपेक्षा उसे विनाशी तथा अशाश्वतिक कहा है।

स्वामी समन्तभद्र ने कहा है कि सत्‌रूप से विद्यमान आत्मादि तत्त्व स्वरूप आदि चतुष्टय की अपेक्षा सत्‌रूप कहे गये हैं किन्तु पर द्रव्य, पर क्षेत्र, पर काल तथा पर भाव रूप चतुष्टय की अपेक्षा सत् को असत्त्व कहा गया है।

पुष्प का वृक्ष में अस्तित्व है, सद्‌भाव है। उसी पुष्प का आकाश में सद्‌भाव नही है। जैसे पुष्प का वृक्ष में सद्‌भाव है और आकाश मे असद्‌भाव, इसी प्रकार सत् का कथंचित् सद्‌भाव है तथा पररूपादि की अपेक्षा उसका अभाव कहा गया है। आचार्य वाणी इस प्रकार है—

सत. कथचित्तदसत्त्वशक्ति, खे नास्ति पुष्प तरषु प्रसिद्धम्।

सर्वस्वभावच्युतमप्रमाण, स्ववाग्विरुद्ध तव दृष्टितोऽन्यत् ॥ २३ ॥

जो पदार्थ स्वरूप आदि चतुष्टय की अपेक्षा विद्यमान है वह कथंचित् पर रूपादि चतुष्टय की अपेक्षा असत् रूप है। जिस प्रकार पुष्प वृक्ष मे विद्यमान है अत सत् रूप है किन्तु वह आकाश मे अविद्यमान है। संपूर्ण स्वभावों से रहित सत्त्वाद्वैत रूप अथवा सकल शून्यता रूप तत्त्व अप्रमाण है। जीवादि तत्त्व अनेकान्त रूप माने गये हैं। एकान्त रूप मान्यता स्ववचन बाधित है। जैसे कोई व्यक्ति यह कहे कि मेरी माता बध्या है उसका यह कथन प्रत्यक्ष बाधित है। यदि उसकी माता है तो वह बध्या कैसे कही जायेगी ? अत जैन दृष्टि द्रव्यार्थिक दृष्टि से वस्तु को उत्पाद तथा व्यय रहित स्वीकार करती है। पर्यायार्थिक दृष्टि से उसमे उत्पाद और व्यय का भी सद्‌भाव स्वीकार किया गया है।

समतभद्र स्वामी ने लिखा है

न सर्वथा नित्य मुदेत्यपैति न च क्रियाकारकमत्र युक्तम्।

नैवासतो जन्म सतो न नाश दीपस्तम पुद्‌गलभावतोऽस्ति ॥ २४ ॥

वस्तु को सर्वथा नित्य मानने पर उसमे उत्पाद तथा व्यय का अभाव होगा। उसमे क्रिया तथा कारक भी उपयुक्त नही होंगे। सर्वथा नित्य पक्ष अगीकार करने पर परिवर्तनो का सद्‌भाव नही होगा। जो जैसा है, वह वैसा ही रहेगा। यदि कोई गमन करता है, तो वह गति रूप परिणमन करता रहेगा, क्योकि एकान्त नित्य पक्ष परिवर्तन को मानने से असहमति व्यक्त करता है।

जिस प्रकार नित्यपक्ष स्वीकार करने पर प्रत्यक्ष से युक्ति और अनुभव द्वारा दोष दिखते है, उसी प्रकार के दोष सर्वथा अनित्य पदार्थ मानने पर आते हैं। क्षणिक मान्यता मे उत्पाद और व्यय नही बनता क्योकि क्षणिक वस्तु एक क्षण मे ही उत्पन्न होकर नष्ट हो जाती है। कदाचित् एक क्षण मे नष्ट होने के बाद बिल्कुल नवीन असत् वस्तु की उत्पत्ति मानी जावे, तो अनेक दोष उत्पन्न होंगे। असत् की उत्पत्ति आकाश के फूल की तरह असभव है। सत् पदार्थ का सर्वथा नाश नही होता है। दीपक के नाश होने पर अधकार प्राप्त होता है। यहाँ पुद्‌गल मे पहिले प्रकाश पर्याय थी पश्चात् उस पुद्‌गल मे अन्धकार पर्याय आ गई। दोनो पुद्‌गल की अवस्था है।

असत् का जन्म और सत् का नाश नही होता, इसलिए वस्तु को सर्वथा रूप न मानकर कथंचित नित्य और अनित्य दोनो स्वरूप मानना चाहिए।

भावा जीवादीया जीवगुणा य उवओगो।

सुर-णर-णारय-तिरिया जीवस्य य पज्जया बहुगा ॥१६॥

भावा जीवाद्या जीवगुणाश्चेतना चोपयोगः।

सुर-नर-नारक-तिर्यंचो जीवस्य पर्यायाः बहुकाः॥

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश तथा काल ये छह भाव अर्थात् पदार्थ अथवा द्रव्य कहे गये हैं। जीव का गुण चेतना तथा उपयोग है। देव, मनुष्य, नारक, तिर्यंच ये जीव की अनेक पर्यायें हैं।

विशेष—यहाँ जीव आदि को भाव शब्द द्वारा निरूपण किया गया है। जीव का गुण चेतना है। जीव को उपयोगमय कहा है। द्रव्य संग्रह में कहा है—"जीवो उवओगमओ" जीव चेतना तथा उपयोग गुण रहित नहीं रहता। ये जीव की विशिष्टता है। ऐसा कोई भी जीव नहीं होगा, जिसमें चेतना, उपयोग अथवा ज्ञान–दर्शन न हो। अन्य द्रव्यों से जीव की भिन्नता का द्योतक उसका ज्ञान–दर्शन गुण है।

जब द्रव्य में गुण और पर्याय पाये जाते हैं, तो जीव में कौन सी पर्याय पाई जाती है? इसका स्पष्टीकरण करते हुए यहाँ कहा गया है, कि जीव की देव, मनुष्य, नारकी आदि बहुत पर्याय हैं। पदार्थ में पर्यायों का आविर्भाव और विनाश होता रहता है, इसलिए उन पर्यायों की अपेक्षा वस्तु को अनित्य कहा है। पर्यायों को मुख्यता से ग्रहण करने वाली दृष्टि को पर्यायार्थिक नय कहते हैं। उसके द्वारा वस्तु नित्य नहीं निरूपित की जाती। द्रव्य को मुख्य बनाने वाली द्रव्यार्थिक दृष्टि पर्यायों को गौण कर देने से वस्तु को नित्य कहती है। वास्तव में देखा जाये तो वस्तु न सर्वथा नित्य है और न सर्वथा अनित्य है वह तो कथंचित् नित्य है और कथंचित् अनित्य है। गुण की अपेक्षा वस्तु नित्य है। पर्याय की अपेक्षा अनित्य है। जीव को मनुष्यादि पर्यायों की अपेक्षा अनित्य कहा है। चेतना गुण की अपेक्षा जीव को नित्य कहा है। यहाँ यह बात भी विचारणीय है कि कुन्दकुन्द स्वामी ने जीव की संसार अवस्था की पर्यायों का कथन किया है। इससे यह भ्रम दूर होता है, कि जीव सदा शुद्ध नहीं है। जब हम जगत में भूखे, रोगी, दुःखी आदि जीवों को प्रत्यक्ष में देखते हैं तथा स्वयं अपने आप में उन अवस्थाओं का अनुभव करते हैं, तब यह मानना विवेकी व्यक्ति का कर्त्तव्य है कि सभी जीव शुद्ध बुद्ध नहीं हैं। खदान से निकला हुआ मिट्टी आदि अशुद्ध वस्तुओं से युक्त स्वर्ण–पाषाण स्वर्ण पद प्राप्त करने के लिए अग्नि-प्रवेश आदि प्रक्रियाओं को प्राप्त करता है। उसके पश्चात् उसे सुवर्णता प्राप्त होती है। इसी प्रकार राग, द्वेष, मोह, क्रोध, मान, माया आदि विकारों से मलिन जीव राशि को वर्तमान पर्याय में परम शुद्ध आत्मा सोचना आगम एवं अनुभव विरुद्ध है। जिन्होंने मुक्ति प्राप्त की है, वे शुद्ध बुद्ध तथा अबद्ध हैं।

मणुसत्तेण णट्ठो देही देवो हवेदि इदरो वा।
उभयत्त जीव भावो ण णस्सदि ण जायदे अण्णो ॥

मनुष्यत्वेन नष्टो देही देवो भवतीतरो वा।
उभयत्र जीवभावो न नश्यति न जायतेऽन्यः ॥१७॥

देही अर्थात् देहधारी संसारी जीव मनुष्य पर्याय की दृष्टि से नष्ट होकर देव पर्याय या अन्य पर्याय को प्राप्त करता है। मनुष्य पर्याय का विनाश तथा देवादि पर्यायों में जीवपना सामान्य रूप से विद्यमान है। मनुष्य पर्याय नष्ट होने से जीव का नाश नहीं हुआ है। सुरादि पर्यायों को प्राप्त होने से जीव का उत्पाद नहीं हुआ है।

विशेष—परिणमन होते हुए भी सत् रूप तत्त्व का क्षय नहीं होता। किसी मनुष्य की मृत्यु हुई, इसका अर्थ यह है, कि जीव की मनुष्य पर्याय का नाश हुआ है। देवादि पर्यायों की प्राप्ति का अर्थ है, देवादि पर्यायें उत्पन्न हुई हैं। जीव द्रव्य न उत्पन्न हुआ है न उसका विनाश हुआ है। पर्याय की प्रधानता वाली पर्यायार्थिक दृष्टि से व्यय तथा उत्पाद माना गया है, किन्तु सत्ता स्वरूप द्रव्य को मुख्य मानने वाली द्रव्यार्थिक दृष्टि की अपेक्षा न नाश है, न उत्पाद है। एक घट है, वह दण्डाभिघात से फूट गया। यहाँ घट का

नाश तथा उसके टुकड़ों का उत्पाद पर्याय की अपेक्षा है, मृत्तिका की अपेक्षा से मृत्तिका का सद्भाव दोनों स्थितियो में है, इसी प्रकार जीव सामान्य की अपेक्षा मनुष्य की मृत्यु तथा अन्य पर्याय रूप से उत्पत्ति नहीं मानी जाती क्योकि जीव पना नष्ट नही हुआ है। जीव पना उत्पन्न नहीं हुआ है। मनुष्य भी जीव था, देव भी जीव है। जीव सामान्य पना दोनों पर्यायों मे है।

जब पर्याय की दृष्टि से विचार करते हैं यह कहना ठीक है कि मनुष्य रूप जीव की मनुष्य पर्याय नष्ट हुई और उस जीव की देव अवस्था उत्पन्न हुई है।

सो चेव जादि मरणं जादि ण णट्ठो ण चेव उप्पण्णो।
उप्पण्णो य विणट्ठो देवो मणुसुत्ति पज्जाओ ।।

स एव च याति मरण याति न नष्टो न चैवोत्पन्नः।
उत्पन्नश्च विनष्टो देवो मनुष्य इति पर्य्याय. ।।१८।।

यह जीव पर्याय की दृष्टि से मनुष्य रूप से मरण को प्राप्त होता है और देव रूप को धारण करता है। मनुष्य पर्याय का क्षय तथा देव पर्याय की उत्पत्ति पर्याय की अपेक्षा है। यह कथन पर्यायार्थिकनय से सत्य है। द्रव्यार्थिक नय से मनुष्य पर्याय के नष्ट हो जाने पर जीव का विनाश नही हुआ है। देव पर्याय की उत्पत्ति होने पर द्रव्य दृष्टि से जीव सदा विद्यमान रहता है। इसीलिए द्रव्य दृष्टि से जीव का उत्पाद नही कहा जाएगा। मनुष्य विनष्ट हुआ, देव उत्पन्न हुआ। इसका भाव यह है कि जीव द्रव्य मे नर पर्याय का विनाश, दूसरी देव पर्याय का उत्पाद हुआ है।

विशेष — पदार्थ का कथन पर्यायार्थिकनय और द्रव्यार्थिकनय से किया जाता है। दोनों नयों का कथन परस्पर मे भिन्न दिखते हुए भी अविरोधी है, क्योकि अनेकान्त दृष्टि विरोध भाव को दूर करती है। दोनों नय वस्तु स्वरूप के प्रतिपादक हैं तथा अनुभव और युक्ति के अनुकूल हैं। मनुष्य पर्याय का क्षय एव देव पर्याय की उत्पत्ति दोनो अवस्थाएँ वस्तु मे पाई जाती है। मनुष्य पर्याय का क्षय तथा देव पर्याय की उत्पत्ति मे जीव पना विद्यमान है यह बात अनुभव से अबाधित है।

एवं सदो विणासो असदो जीवस्स णत्थि उप्पादो ।
तावदिओ जीवाणं देवो मणुसोत्ति गदिणामो ।।

एवं सतो विनाशोऽसतो जीवस्य नास्त्युत्पाद ।
तावज्जीवाना देवो मनुष्य इति गतिनामः ।।१९।।

इस प्रकार जीव की दृष्टि से सत् का विनाश और असत् का उत्पाद नहीं होता है। जीव मे मनुष्य पर्याय का क्षय और सुर पर्याय की उत्पत्ति देव गति नाम कर्म के उदय से होती है। मनुष्य आयु का क्षय हुआ देव आयु का उदय हुआ इस कारण यह स्थिति होती है। अनेक अवस्थाओ मे जीव सत् रूप से विद्यमान रहता है जैसे किसी व्यक्ति ने जीर्ण वस्त्र को त्यागकर नवीन वस्त्र को धारण किया। इससे जीव मे अन्तर नही पड़ता। यहाँ वस्त्र बदल गये, किन्तु जीव तो वही है। समाधिशतक मे आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने लिखा है—

घने वस्त्रे यथात्मानं न घन मन्यते तथा।
घने स्वदेहेऽप्यात्मानं न घनं मन्यते बुध. ।।६३।।

जैसे बुद्धिमान व्यक्ति मोटा वस्त्र पहनने पर अपने आप को मोटा नहीं मानता, उसी प्रकार अपने शरीर के स्थूल होने पर ज्ञानी जीव अपनी आत्मा को स्थूल नहीं मानता है, क्योंकि शरीर की स्थूलता से आत्मा मे मोटापन नही आता । मोटापन जड़ शरीर का धर्म है, आत्मा का नही ।

जीर्णे वस्त्रे यथात्मान न जीर्णं मन्यते तथा ।
जीर्णे स्वदेहेऽप्यात्मानं न जीर्णं मन्यते बुधः ।।६४।।

जिस प्रकार जीर्ण वस्त्र धारण करने वाला मनुष्य अपने को जीर्ण नही मानता, क्योंकि जीर्णता मनुष्य की नही है वस्त्र की है इसी प्रकार तत्त्वज्ञानी अपने शरीर के जीर्ण हो जाने पर भी अपनी आत्मा को जीर्ण या वृद्ध नही मानता ।

नष्टे वस्त्रे यथात्मान न नष्ट मन्यते तथा ।
नष्टे स्वदेहेप्यात्मान न नष्ट मन्यते बुध. ।६५।

जैसे वस्त्र के नष्ट हो जाने पर अपने शरीर को मनुष्य नष्ट हुआ नही मानता, उसी प्रकार अपने शरीर के नष्ट हो जाने पर ज्ञानी पुरुष आत्मा को नष्ट नही मानता । शरीर तो जड़ रूप है । उसमें विनाश देखकर ज्ञानी आत्मा अपने स्वरूप के विनाश की कल्पना नही करता ।

रक्ते वस्त्रे यथात्मान न रक्त मन्यते तथा ।
रक्ते स्वदेहे प्यात्मान न रक्त मन्यते बुधः ।६६।

लाल वस्त्र धारण करने से मनुष्य लाल नही बन जाता क्योंकि रक्त वर्ण वस्त्र का है, पहनने वाला व्यक्ति नही । इसी प्रकार अपने शरीर के रक्तवर्ण युक्त होने पर तत्त्वज्ञानी अपनी आत्मा को रक्तवर्ण नहीं मानता । इस विचार से यह स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्यो मे सफेद काले आदि वर्णों के कारण भेद मानना उचित नही है । जीव की दृष्टि से तो श्वेतवर्ण वाला भी मनुष्य है और श्यामवर्ण वाला भी मनुष्य है ।

इस विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि जीव का विनाश नही होता उसकी पर्यायों में विनाशादि पाये जाते हैं ।

शंका— जीव यदि विनाश रहित है, तो उसकी पर्यायो मे विनाश स्वीकार करना क्या अनुचित नही है ?

उत्तर— जीव सामान्य दृष्टि से अविनाशी है, किन्तु पर्यायों की अपेक्षा उसमे उत्पाद और विनाश सदा होता ही रहता है । जैसे सरोवर जल की दृष्टि से सदा एक सा है किन्तु जल की पर्यायों की दृष्टि से उसमे क्षण-क्षण मे परिवर्तन हुआ करता है ।

अनाद्यनिधने द्रव्ये स्वपर्यायाः प्रतिक्षणम् ।
उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति जलकल्लोलवज्जले ।।१।। (आलाप पद्धति)

अनादिनिधन द्रव्य मे प्रत्येक क्षण अपनी २ पर्यायें उत्पन्न होती हैं तथा उनका क्षय भी होता है । जैसे सरोवर में पानी की लहरे प्रतिक्षण उत्पन्न होती हैं और विनाश को भी प्राप्त होती हैं ।

सत् सामान्य की अपेक्षा वस्तु परिवर्तन विमुक्त है और पर्याय अथवा विशेष की दृष्टि से उसमें पर्यायों का उत्पाद-व्यय हुआ ही करता है ।

आलाप पद्धति मे लिखा है --

धर्माधर्मनभःकाला अर्थपर्यायगोचरा: ।

व्यञ्जनेन तु सबद्धौ द्वावन्यौ जीवपुद्गलौ ।२।

धर्म अधर्म आकाश और काल इन चार द्रव्यो मे अर्थ पर्याय पाई जाती है। जीव तथा पुद्गल द्रव्य में अर्थ पर्याय और व्यजन पर्याय दोनो पाई जाती हैं।

प्रदेश व गुण की पर्याय को व्यजन पर्याय कहते हैं। वह स्थूल होने से व्यजन पर्याय शब्द गोचर है। सूक्ष्म होने के कारण अर्थ पर्याय वचन के अगोचर है।

नेमिचन्द्र आचार्य लिखते हैं -

एयदवियम्मि जे अत्थपज्जया विंजणपज्जया चावि ।

तीदाणागदभूदा तावदियं तं हवदि दव्वं ।५८१ गोम्मट सार।

एकद्रव्ये ये अर्थपर्याया व्यजनपर्यायाश्चापि ।

अतीतानागतभूता तावत्तत् भवति द्रव्यम् ।

एक द्रव्य मे पाई जाने वाली भूत, वर्तमान, भविष्यत् काल सम्बन्धी अर्थ पर्याय तथा व्यजन पर्यायों का समुदाय द्रव्य है।

प्रश्न---व्यजन पर्याय किसे कहते है ?

उत्तर---प्रदेशत्व गुण की पर्याय को व्यजन पर्याय कहते हैं।

प्रश्न---अर्थ पर्याय किसको कहते हैं ?

उत्तर---प्रदेशत्व गुण के सिवाय अन्य समस्त गुणों के विकार को अर्थ पर्याय कहते हैं।

आलाप पद्धति मे कहा है--"गुणविकार: पर्याय "गुणों के विकार अर्थात परिणमन को पर्याय कहते हैं। उस पर्याय के स्वभाव पर्याय और विभाव पर्याय रूप दो भेद है। अगुरुलघु गुण की पर्याय को स्वभाव पर्याय कहा है। वह द्वादश भेद प्रमाण षड्गुणवृद्धि तथा षड्गुण हानि रूप है। वह अनन्त भाग वृद्धि, असख्यात गुण वृद्धि, सख्यात भाग वृद्धि, सख्यात गुण वृद्धि, असंख्यात गुण वृद्धि, अनत गुण वृद्धि इस प्रकार षड् गुण वृद्धि रूप है। उसमे छह प्रकार की हानि भी होती है---अनन्त भाग हानि, असख्यात भाग हानि, सख्यात भाग हानि, सख्यात गुण हानि, असख्यात गुण हानि, अनत गुण हानि इस प्रकार हानि कही गई है।

व्यजन पर्याय के विषय मे यह कहा गया है विभाव द्रव्य व्यजन पर्याय मनुष्य, देव आदि पर्यायों अथवा चौरासी लाख योनियो की अपेक्षा कही गई है। विभाव गुण व्यजन पर्याय मति श्रुत आदि ज्ञान रूप है। स्वभाव द्रव्य व्यजन पर्याय सिद्ध पर्याय रूप है। स्वभाव गुण व्यञ्जन पर्याय अनन्त चतुष्टय रूप जीव मे पाई जाती है।

पुद्गल द्रव्य मे द्व-यणुक आदि विभाव द्रव्य व्यञ्जन पर्याय हैं। रस से रसान्तर, गध से गंधान्तर आदि विभाव गुण-व्यञ्जन पर्याय है। अविभागी-पुद्गल परमाणु स्वभाव द्रव्य व्यञ्जन पर्याय है। वर्ण, गध, रस तथा अविरुद्ध दो रूप स्वभाव गुण व्यञ्जन पर्याय है।

जयसेनाचार्य ने पर्याय के सबंध मे बाँस का उदाहरण दिया है। बाँस में अनेक पर्व पाये जाते हैं। प्रथम पर्व अर्थात गांठ द्वितीय पर्व मे नही है अर्थात द्वितीय पर्व मे प्रथम पर्व का अभाव है, इसी प्रकार जीव द्रव्य में मनुष्य आदि अनेक पर्यायो के विषय मे जानना चाहिये। देव पर्याय में उत्पन्न जीव को मनुष्य पर्याय की अपेक्षा अविद्यमान कहा है। सापेक्ष कथन जैनागम की आधारशिला है।

णाणावरणादीया भावा जीवेण सुट्ठु अणुबद्धा ।
तेसिमभावं किच्चा अभूद पुव्वो हवदि सिद्धो ।।

ज्ञानावरणाद्या भावा जीवेन सुष्ठु अनुबद्धा ।
तेषामभावं कृत्वाऽभूतपूर्वो भवति सिद्धः ।।२०।।

संसारी जीव ने ज्ञानावरणादि कर्म रूप पर्यायो को प्रगाढ़ रूप से अत्यन्त संश्लेष रूप मे बाँधा था । जीव उन कर्मों का अभाव करके अभूतपूर्व सिद्ध अवस्था युक्त होता है ।

विशेष—ससारी जीव राग-द्वेष तथा मोह के कारण ज्ञानावरणादि को बाँधता है । उन कर्मों का जीव के साथ एक क्षेत्र अवगाह रूप सश्लेष अर्थात् उनका प्रगाढ़ बन्धन हो जाता है । निकट संसारी जीव व्यवहार रत्नत्रय रूप साधन द्वारा अभेद निश्चय रत्नत्रय रूप स्थिति को प्राप्त करता है और शुक्लध्यान की अग्नि मे आठों कर्मों का क्षय करता है । कर्मों का पुद्गल रूप से नाश नहीं होता । उसकी कर्मत्व पर्याय का क्षय होता है । कर्मक्षय होने पर जीव सिद्ध परमात्मा बन जाता है ।

इस कारण सिद्ध-अवस्था को "अभूदपुव्वो"—अभूतपूर्व कहा गया है । इस निरूपण द्वारा आचार्य कुदकुद स्वामी यह स्पष्ट करते हैं, कि यह सिद्ध पर्याय कर्मों के विनाश के पूर्व नहीं थी । उस समय यदि सिद्ध पर्याय होती तो, इसे अभूतपूर्व नही कहते । यह सिद्ध पर्याय आठ कर्मों के बन्धन के कारण अविद्यमान थी। ज्ञानावरणादि के क्षय हो जाने पर यह सिद्ध पर्याय प्रगट होती है । इससे यह बात खुलासा हो जाती है कि सदाशिव सम्प्रदाय वाले जैसे आत्मा को सदा शुद्ध, बुद्ध मानते हैं, वैसा कथन सर्वज्ञ प्रणीत देशना में नहीं है । परमागम मे कहा है ससारी जीव कर्मों से बधा है । वर्तमान पर्याय में वह न शुद्ध है, न बुद्ध है, न अनन्त शक्ति संपन्न है । वह कर्मों के उदय अनुसार नाना योनियों में अगणित प्रकार के कष्ट भोगता है । जब कर्मों का नाश कर वह कर्म बन्धन से छूट जाता है तब वह अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनत बल आदि गुणों को प्राप्त करता है । संसार के मायाजाल मे फँसा हुए क्रोध, मान, माया, लोभ रूप कषायों से अभिभूत, परिग्रह पिशाच के अधीन व्यक्ति को कर्म रहित सिद्ध पद प्राप्त मानना जैन आगम के प्रतिकूल है । यदि जीव सदा शुद्ध पर्याय युक्त होता, तो वह ३४३ घन राजू प्रमाण लोक में परिभ्रमण न करके लोक के अग्र भाग मे सिद्धशिला पर सिद्धों के समूह मे विराजमान रहता । इसलिये भव्य जीव के विषय में यह सोचना चाहिये कि कर्मों से बंधा हुआ है, काललब्धि आने पर वह कर्म शत्रुओं के क्षय के लिये पुरुषार्थ करता है और उस महान साधना के फलस्वरूप सिद्ध पद को प्राप्त करता है । यह सिद्ध पद जीव ने पहले नही प्राप्त किया था, इसीलिये इस गाथा में सिद्धों को अभूतपूर्व कहा है । यह सिद्ध पर्याय पूर्व में नहीं थी, अब नवीन उत्पन्न हुई है यह कथन कुदकुंद स्वामी का है । यह सर्व भ्रान्तियों का निवारक है ।

प्रमादी व्यक्ति खोटे कामों के करते समय आत्मा के स्वरूप की बात नहीं करता । सिद्ध भगवान क्षुधा, निद्रा, भय आदि से रहित हैं और वे अपने को सिद्ध कहने वाले क्षुधा, निद्रा, भय आदि से घिरे हुए हैं । इस बात का प्रत्यक्ष अनुभव करते हुए भी दर्शनमोहनीय की मदिरा पी लेने के कारण यह जिनवाणी की देशना का पूर्णरूप से परिशीलन नहीं करते । कर्मोदय की विचित्रता है ।

एवं भावमभावं भावाभावं अभावभावं च ।
गुण पज्जयेहिं सहिदो संसरमाणो कुणदि जीवो ॥

एव भावमभावं भावाभाव-मभावभावं च ।
गुणपर्ययैः सहितः संसरन् करोति जीवो ॥२१॥

इस प्रकार परिभ्रमण करता हुआ यह ससारी जीव गुणों और पर्यायो से सयुक्त होता है। वह भाव के अभाव को अर्थात् देवादि पर्याय के उत्पाद तथा मनुष्य पर्याय के अभाव को प्राप्त होता है। इस प्रकार भाव अभाव प्राप्त होता है। वह जीव मनुष्य पर्याय परित्याग के काल मे भाव का अभावकर देवादि की उत्पत्ति काल में अभाव से भाव पने को प्राप्त होता है।

विशेष—यहा ससारी जीव के भाव, अभाव, भावाभाव, अभावभाव रूप चतुर्विध रूप अवस्थाओं का कथन किया गया है। मनुष्य पर्याय का क्षय हो जाना अभाव है। देव पर्याय का उत्पाद और मनुष्य पर्याय का अभाव होने से भावाभाव है। मनुष्य पर्याय का अभाव तथा देव पर्याय का प्रादुर्भाव होने से अभावभाव युक्त जीव के कहा गया है।

जब जीव के द्रव्य दृष्टि की मुख्यता की जाती है तो उसमे न विनाश है न उत्पाद। जब द्रव्य दृष्टि को गौण कर पर्याय दृष्टि की विवक्षा की जाती है, उसमे उत्पाद और व्यय स्वीकार किये जाते हैं।

जीवा पुग्गलकाया आयासं अत्थिकाइया सेसा।
अमया अत्थित्तमया कारणभूदा हि लोगस्स ॥

जीवाः पुद्गलकायाः आकाशमस्ति कायौ शेषौ।
अमया अस्तित्वमयाः कारणभूता हि लोकस्य ॥२२॥

अनतसख्या युक्त जीव राशि, उससे अनत गुणे पुद्गल, एक अखण्ड आकाश तथा एक धर्म और अधर्म ये पाच द्रव्य प्रदेश-प्रचय रूप होने से अस्तिकाय कहे गये हैं। काल के एक प्रदेशी होने के कारण इस पचअस्तिकाय के समुदाय मे उसकी परिगणना नही की गई है। ये द्रव्य अकृत्रिम है। किसी के द्वारा इनकी रचना नही की गई है। इसलिए इन्हे अमय कहा है। ये अस्तित्व अर्थात् सत्तायुक्त हैं। इसलिए ये उत्पाद व्यय और ध्रौव्य रूप है। इनके सदभाव के कारण आकाश के एक अंश को लोक कहा गया है। जहा इन द्रव्यों का अभाव है और केवल आकाश द्रव्य का सद्भाव है, उसको आगम मे अलोक सज्ञा प्रदान की गई है।

विशेष—काल मे प्रदेश-प्रचय नही होने से वह अस्तिकाय नही माना गया है। ये द्रव्य किसी दूसरे के द्वारा नही बनाई गई है। इन द्रव्यो का अस्तित्व पाया जाता है। सभी द्रव्य अनादि निधन हैं अतः विश्वकर्ता की परिकल्पना करना अनावश्यक है तथा अनेक युक्तियो द्वारा बाधित है। यदि दयालु बुद्धिमान सर्व शक्तिमान जगत का निर्माता होता, तो सुखी दुःखी आदि विविधता युक्त विश्व नही होता। जैन आगम मे ईश्वर को अत्यन्त शुद्ध, सर्वज्ञ, अनत सुखी माना है। उसे विश्व विधाता नही माना है। कभी-कभी अन्य लोग भ्रमवश यह कह बैठते हैं, कि जैन धर्म मे ईश्वर नही माना है, इससे जैन दर्शन नास्तिक दर्शन है। यह धारणा भयकर भूल भरी है, क्योकि जैन धर्म ईश्वर का सद्भाव मानता है। उसे परम वीतरागी चिदानन्द

मानते से वह विश्व रचना के चक्कर में फँसा नहीं मानते हैं। भगवान परम आत्मा है। जब जीव क्रोध, मान माया, लोभ, भय, काम, क्षुधा, प्यास, निद्रा, जरा, मरणादि विकारों से विमुक्त हो जाता है, तब वह परम अर्थात् श्रेष्ठ आत्मा, परमात्मा संज्ञा को प्राप्त करता है।

सब्भावसभावाणं जीवाणं तह य पोग्गलाणं च।
परियट्टणसंभूदो कालो णियमेण पण्णत्तो ॥
सद्भावस्वभावानां जीवानां तथा च पुद्गलानां च।
परिवर्तनसम्भूतः कालो नियमेन प्रज्ञप्तः ॥२३॥

सत्तारूप स्वभावयुक्त जीव, पुद्गल, धर्म अधर्म एवं आकाश इनके परिवर्तन से उत्पन्न नवीन तथा जीर्ण स्वरूप परिवर्तन का कारण काल द्रव्य - द्रव्य काल का सद्भाव सर्वज्ञ देव ने कहा है। द्रव्यों के परिणमन मे निमित्त रूप कालाणु रूप द्रव्यकाल है।

विशेष-- आचार्य जयसेन कहते हैं कि समय रूप सूक्ष्मकाल पुद्गल परमाणु से उत्पन्न रूप हैं। उसे ही निश्चयकाल कहते हैं। घण्टा पक्ष मास आदि समय रूप स्थूल काल को व्यवहार काल कहते हैं। जीव आदि द्रव्यो के परिणमन मे काल द्रव्य को सहकारी कारण निश्चय किया गया है। परिणमन होना द्रव्य का स्वभाव है। स्वय परिणमन करने वाले द्रव्यो के परिणमन के लिए निमित्त रूप सहायक काल द्रव्य को सर्वज्ञ देव ने कहा है।

कोई-कोई यह सोचते हैं कि निमित्त कारण नगण्य है। सच्चा कारण उपादान है। ऐसी कल्पना वश काल द्रव्य का ही अभाव हो जायेगा। यह काल द्रव्य सर्वज्ञ की दिव्यध्वनि द्वारा प्रतिपादित है। यह मिथ्या नही है। अत: निमित्त कारण महत्त्वपूर्ण है। वह नगण्य नही है। निमित्त-उपादान की मैत्री द्वारा कार्य निष्पन्न होता है। सुवर्ण रूप उपादान न हो तो स्वर्णकार स्वर्णाभरण नही बना सकता है। यदि स्वर्णकार रूप निमित्त न हो, तो भी अकेला सुवर्ण आभूषण रूपता को नही प्राप्त करता है।

ववगद-पण वण्णरसो ववगद-दो गंध अट्ठफासो य।
अगुरुलहुगो अमुत्तो वट्टणलक्खो य कालोत्ति ॥
व्यपगतपंच-वर्ण-रसो व्यपगतद्विगधाष्टस्पर्शश्च।
अगुरुलघुको अमूर्तो वर्तनलक्षणश्च काल इति ॥२४॥

जिसमें पंच प्रकार के वर्ण, पंच प्रकार के रस, दो प्रकार के गध तथा आठ प्रकार के स्पर्श का अभाव है जिसमे षड्गुणी हानि-वृद्धि रूप अगुरु लघु गुण हैं, जो अमूर्त है अर्थात् अतीन्द्रिय ज्ञान के गोचर है तथा अन्य द्रव्यों के परिवर्तन में कारण रूप वर्तनालक्षण युक्त है वह काल द्रव्य है।

विशेष---द्रव्य स्वयं परिणमन को प्राप्त होते हैं। उनके परिणमन मे सहायक काल द्रव्य की सत्ता स्वीकार की गई है; जैसे शीत ऋतु में स्वयं अध्ययन करने वाले पुरुष के लिए अग्नि का सद्भाव सहायक होता है। जैसे--- कुम्भकार के चके के नीचे की कील चक्र के भ्रमण में सहायक है, इसी प्रकार निश्चय काल अणुओं को द्रव्यों के परिवर्तन में सहायक स्वीकार किया है।

समओ णिमिसो कट्ठा कला य णाली तदो दिवारत्ती ।
मासो दु-अयण-संवच्छरो त्ति कालो परायत्तो ॥

समयो निमिषः काष्ठः कला च नाली दिवारात्रं ।
मासर्त्वयन–सवत्सरमिति कालः परायत्तः ॥२५॥

समय, निमिष, काष्ठा, कला, नाड़ी, दिवा, रात्रि, मास, ऋतु, अयन, संवत्सर, पल्योपम आदि रूप व्यवहार काल है। इसे परायत्व अर्थात पराधीन कहा गया है, क्योंकि यह व्यवहार काल निश्चय काल पर आश्रित है। निश्चय काल द्रव्य स्वाश्रित कहा गया है। और व्यवहार काल बहिरंग कारण से उत्पन्न होने से पराश्रित कहा गया है।

विशेष— गमन रूप परिणमन मे धर्म द्रव्य सहकारी कारण है। काल द्रव्य भी सहायक है। सहकारी कारण अनेक हुआ करते हैं। जैसे घट की उत्पत्ति मे उपादान मिट्टी के होते हुए भी कुभकार चक्र आदि को सहकारी कारण माना है।

सर्वार्थसिद्धि मे इस काल के विषय में लिखा है-

परमार्थकाले काल व्यपदेशो मुख्यः। भूतादिव्यपदेशो गौण.।

व्यवहारकाले भूतादिव्यपदेशो मुख्य·। कालव्यपदेशो गौण· [अध्याय ५ सू ३२ टीका]

परमार्थकाल मे काल सज्ञा मुख्य है। भूत, भविष्यत् आदि व्यपदेश गौण है। व्यवहार काल में भूत, वर्तमान आदि व्यपदेश मुख्य है। काल व्यपदेश गौण है।

काल द्रव्य के विषय मे यह बात ज्ञातव्य है कि सम्पूर्ण द्रव्यो की पर्यायो की जघन्य स्थिति एक क्षण मात्र है। उस क्षण को समय कहते है। निकटवर्ती दो परमाणुओं मे से एक परमाणु दूसरे परमाणु को जितने काल मे उल्लघन करे, उतने काल को एक समय कहते हैं। दूसरे समय की व्याख्या यह है - आकाश के एक प्रदेश पर स्थित एक परमाणु मद गति से अनन्तर प्रदेश पर जितने काल मे गमन करता है, उतने काल को एक समय कहते हैं। एक अविभागी परमाणु रूप पुद्गल आकाश के जितने क्षेत्र को अवगाहन करता है, उसे एक प्रदेश कहा जाता है।

समय, मुहूर्त, मास आदि व्यवहार काल के सख्यात असख्यात अनन्त भेद होते हैं। असंख्यात आवली प्रमाण अन्तर्मुहूर्त है। एक समय रहित आवली को जघन्य अन्तर्मुहूर्त कहते हैं एक समय कम मुहूर्त को उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त कहते हैं। इनके मध्यवर्ती भेद अन्तर्मुहूर्त मे गर्भित हैं।

गोम्मट सार जीवकाण्ड मे कहा है—

ववहारो पुण कालो माणुसखेत्तम्हि जाणिदव्वो दु।
जोइसियाण चारे ववहारो खलु समाणोत्ति ॥ ।५७६।

यह व्यवहार काल मनुष्य क्षेत्र मे ही समझना चाहिए। पंतालीस लाख योजन प्रमाण मनुष्य क्षेत्र मे सूर्य चन्द्र आदि ज्योतिषी देवो के विमान गमन करते हैं इनके गमन का काल तथा व्यवहार काल दोनों समान हैं।

वर्तमान काल एक समय प्रमाण है। भविष्यत् काल सम्पूर्ण जीव राशि के प्रमाण से तथा समस्त पुद्गल द्रव्य से अनन्त गुणा है। सिद्ध राशि का संख्यात आवली के प्रमाण से गुणा करने पर अतीत काल का प्रमाण आता है। लोकाकाश के जितने प्रदेश है, उतने ही काल द्रव्य हैं। वे कालाणु असंख्यात प्रदेश प्रमाण लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर स्थित हैं। ये असख्यात द्रव्य रूप कहे गए है।

पुद्गल द्रव्य के प्रमाण से अनन्तगुणा व्यवहारकाल का प्रमाण है। व्यवहारकाल के प्रमाण से अनन्त गुणी आकाश के प्रदेशों की संख्या है। लोकाकाश के एक एक प्रदेश पर रत्न राशि के समान पृथक २ कालाणु विद्यमान है। वह काल गुण पर्याय युक्त होने से द्रव्य है। इसका अस्तित्व है। इसमें परस्पर में पृथक्पना होने से काय रूपता नहीं मानी गई है।

* महापुराण मे जिनसेन स्वामी ने उत्सर्पिणी अवसर्पिणी ये दो भेद व्यवहारकाल के कहे हैं। जिस प्रकार शुक्लपक्ष के बाद कृष्णपक्ष आता है और कृष्णपक्ष के बाद शुक्लपक्ष आता है उसी प्रकार उत्सर्पिणी के बाद अवसर्पिणी और अवसर्पिणी के बाद उत्सर्पिणी रूप से व्यवहारकाल जन्य परिवर्तन हुआ करते हैं। जिसमें मनुष्य के बल आयु शरीर का प्रमाण बढ़ता जाए उसे उत्सर्पिणी कहते है। जिसमे वे बल आयु आदि क्रम २ से घटते जायें, उसे अवसर्पिणी कहते हैं। उत्सर्पिणी काल का प्रमाण दस कोडा कोडी सागर है। अवसर्पिणी काल का भी प्रमाण इतना ही है। दोनों का काल मिलाकर बीस कोडा कोड़ी सागर प्रमाण काल को कल्प काल कहते हैं।

इस समय भरत क्षेत्र में अवसर्पिणी काल विद्यमान है। उसके छ भेद हैं—[१] सुषमा सुषमा [२] सुषमा [३] सुषमा दु:षमा [४] दु:षमा सुषमा [५] दु:षमा [६] दु:षमा दु:षमा। इसी प्रकार के भेद उत्स-पिणी काल के भी हैं। इस समय भरत क्षेत्र मे पंचम दु:षमा नाम का अवसर्पिणी काल है, जिसके फल से सर्वत्र दु:ख की वृद्धि ही नजर आती है। सर्व साधन मिलने पर भी मनुष्य के लिए कोई न कोई संतापकारी सामग्री मिल ही जाया करती है। इसका दु षमा नाम सार्थक है। इस काल के स्वरूप को ध्यान में रखते हुए दु:खद प्रसंगों को प्राप्त होने पर शान्ति तथा धैर्य का आश्रय लेना चाहिये।

णत्थि चिरं वा खिप्पं मत्तारहिदं तु सा वि खलु मत्ता
पुग्गल-दव्वेण विणा तम्हा कालो पडुच्चभवो ।।

नास्ति चिरं वा क्षिप्रं मात्रारहितं तु सापि खलु मात्रा
पुद्गलद्रव्येण विना तस्मात्कालः प्रतीत्यभवः ।।२६।।

व्यवहार काल के परिमाण अथवा मात्रा के बिना दीर्घकाल, अल्प काल रूप व्यवहार नही हो सकता। शीघ्र और दीर्घकाल पुद्गल द्रव्य पर निर्भर है, इसीलिये यह काल पुद्गल द्रव्य के निमित्त को प्राप्त कर होता है।

विशेष—निश्चय दृष्टि से व्यवहारकाल द्रव्यकाल का परिणमन है, लेकिन उसकी उत्पत्ति पुद्गल द्रव्य के द्वारा होती है। जैसे घड़ी की सहायता से मिनिट, घंटा आदि व्यवहार काल का निश्चय किया जाता है।

शंका—समयरूप ही परमार्थ काल है। कालाणुरूप द्रव्य काल नहीं है।

समाधान—समयरूप जो सूक्ष्मकाल प्रसिद्ध है, वह काल द्रव्य नहीं है। वह कालद्रव्य की पर्याय है। उसे पर्याय कहने का कारण यह है कि वह उत्पन्न और ध्वस रूप पर्याय के लक्षण युक्त है। "समओ उप्पण्ण-पद्धंसी" रूप आगम प्रमाण है। पर्याय द्रव्य के बिना नही रहती। द्रव्य निश्चय दृष्टि से अविनश्वर है। वह कालपर्याय का उपादान कारण कालाणुरूप कालद्रव्य है।

---

*महापुराण— पर्व ३, पद्य १४ से २१

काल शब्द परमार्थकाल के अस्तित्व को बताता है। जैसे सिंह शब्द सिंह पदार्थ का परिज्ञान कराता है, इसी प्रकार कालशब्द मुख्य काल का परिज्ञान कराता है।

व्यवहार काल मुख्यकाल से सर्वथा स्वतन्त्र नहीं है। उसके आश्रय से ही वह उत्पन्न हुआ है। यह व्यवहार काल वर्तना लक्षण रूप निश्चय काल द्रव्य के द्वारा प्रवर्तित होता है। वह व्यवहार काल भूत, भविष्य, वर्तमान रूप होकर संसार का व्यवहार चलाने में सहायक होता है। मुख्य पदार्थ के बिना व्यवहार पदार्थ की सत्ता सिद्ध नहीं होती। वास्तविक सिंह के बिना किसी प्रतापी बालक में सिंह का व्यवहार नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार मुख्य काल के अभाव में घड़ी, मुहूर्त, घंटा आदि कालद्रव्य का व्यवहार नहीं हो सकता इसीलिये काल द्रव्य का सद्भाव मानना आवश्यक है।

लोकाकाश के असंख्यात प्रदेश प्रमाण जो असंख्यात कालाणु हैं वह परमार्थकाल है। जो समय, घंटा आदि रूप काल का व्यवहार होता है, वह व्यवहारकाल कहा गया है।

जीवोत्ति हवदि चेदा उवओग विसेसिदो पहू कत्ता।
भोत्ता य देहमत्तो ण हि मुत्तो कम्मसंजुत्तो॥

जीव इति भवति चेतयितोपयोगविशेषितः प्रभु: कर्त्ता।
भोक्ता च देहमात्रो न हि मूर्त्तः कर्मसंयुक्तः॥२७॥

यह आत्मा सुख, ज्ञान आदि भावप्राणों का धारक है इसीलिये निश्चयनय से इसे जीव कहा गया है। इन्द्रियादि द्रव्य प्राण को धारण करने के कारण इसे व्यवहारनयसे जीव कहा है। चिदात्मक होने से निश्चयनय की अपेक्षा जीव को चेतयिता कहा है। व्यवहारनय से यह जीव भेदरूप चैतन्य शक्ति युक्त होने से चेतयिता कहा गया है। निश्चयनय से अभेदरूप से यह उपयोग स्वरूप है। व्यवहारनय से पृथक् रूप चैतन्य परिणाम स्वरूप उपयोग से उपलक्षित होने से यह उपयोग रूप है।

यह आत्मा प्रभु है, क्योंकि यह निश्चयनय से अपने भाव कर्मों का आस्रव बंध, संवर निर्जरा तथा मोक्ष रूप कार्य करने में समर्थ है। द्रव्य कर्मों के आस्रवादि रूप कार्य करने में समर्थ होने से भी जीव प्रभु है। निश्चयनय से जीव रागादिभाव कर्मों का कर्त्ता है और व्यवहारनय से द्रव्यकर्मों का कर्त्ता है।

यह निश्चय दृष्टि से पौद्गलिक कर्मों के निमित्त से होने वाले राग द्वेष आदि विभाव परिणामों का कर्त्ता है तथा व्यवहारनय से आत्म परिणामो में निमित्त होने वाले पौद्गलिक परिणामो का कर्त्ता है। निश्चयनय से यह जीव शुभ–अशुभ कर्मों के निमित्त से होने वाले सुख दुःख परिणामों का कर्त्ता है। व्यवहार–नय से यह जीव शुभ-अशुभ कर्मों के द्वारा प्राप्त इष्ट अनिष्ट पदार्थों का भोक्ता है। यह जीव निश्चयनय से लोक प्रमाण कहा गया है। क्योंकि लोकपूरण समुद्घात की अपेक्षा यह लोकप्रमाण हो जाता है। सामान्यतः जीव छोटा अथवा बड़ा शरीर के अनुसार आकारयुक्त है, इसीलिये निश्चयनय से इस जीव को लोकप्रमाण और व्यवहारनय से शरीरप्रमाण कहा गया है।

निश्चयनय से जीव अमूर्त है क्योंकि इसमें वर्ण, रस, गन्ध स्पर्श रूप पुद्गल के गुण नहीं पाये जाते। रूपीपना पुद्गल का धर्म है। जीव पुद्गल से भिन्न है इसीलिये जीव का स्वरूप अमूर्तिकपना है। व्यवहारनय से जीव को मूर्तियुक्त कहा है क्योंकि संसारी जीव पुद्गल कर्मों के साथ एक क्षेत्र अवगाह रूप संश्लेषपने को धारण करता है।

विशेष—गोम्मटसार जीवकाण्ड में कहा है कि संसारी जीव रूपी है तथा कर्मरहित सिद्धपद को प्राप्त जीव अरूपी है। कहा है—संसारत्था रूवा कम्मविमुक्का अरूवगया ॥५६२॥ इससे यह बात निश्चय करली चाहिये कि सिद्ध पर्याय को ध्यान में रखते हुए जीवको रूप रसादिरहित अमूर्तिक मानना चाहिये, किन्तु जीव सर्वथा अमूर्तिक नहीं है। संसार अवस्था में पुद्गल रूपी कर्म के साथ संश्लेष सम्बन्ध होने के कारण उसे संसारावस्था में रूपी माना गया है। इसीलिये जीव सिद्धों की अपेक्षा कथंचित् अरूपी है। संसारी जीवों की अपेक्षा कथंचित् रूपी है।

प्रश्न—पुद्गल कर्म जीव का हानि लाभ नही कर सकता। चैतन्य रूप जीव का अचेतन द्रव्य क्या करेगा ?

उत्तर—संसार में जो अनन्त प्रकार का जीव राशि का खेल दिखाई देता है, तथा जो हमारी इन्द्रियों के गोचर होता है, उस संसारी जीव को मूर्तिक न मानना आगम युक्ति तथा अनुभव विरुद्ध है।

तत्त्वार्थसार मे लिखा है * कि संसारी आत्मा मूर्तिमान है क्योंकि मदिरा पान के द्वारा आत्मशक्ति की क्षति देखी जाती है। शराब पीने वाला आदमी बेहोश सरीखा हो आचरण करता है। यदि जीव मूर्ति रहित माना जाय, तो मूर्तिमान मदिरा का उस पर प्रभाव नही पडना चाहिये था। जैसे मूर्तिरहित आकाश मे मदिरा के द्वारा मद उत्पन्न नही होता। यदि चेतन पर मूर्तिमान मदिरा का प्रभाव न माना जाये तो अचेतन बोतल जिसमे मदिरा भरी है क्यो नहीं उन्मत्त पने के चिह्न दिखाती ? अतः जीव मूर्तिमान है।

इस सम्बन्ध में सर्वार्थसिद्धि मे पूज्यपाद स्वामी ने लिखा है—नायमेकान्तोऽमूर्तिरेवात्मेति। कर्मबन्धन-पर्यायापेक्षया तदावेशात्स्यान्मूर्तः। शुद्धस्वरूपापेक्षया स्यादमूर्तः॥

आत्मा अमूर्तिक है ऐसा एकान्तपक्ष नहीं है। कर्मबन्धन रूप पर्याय की दृष्टि से आत्मा कथंचित् मूर्त है। शुद्ध स्वरूप की अपेक्षा आत्मा अमूर्तिक है (अध्याय २ सूत्र ७ की टीका) यदि आत्मा कर्मों से बंधा न होता तो उसके स्वाभाविक ज्ञान, दर्शन आदि गुण पूर्ण रूप से सुविकसित मिलते। प्रत्येक जीव अनन्त सुख और अनन्त ज्ञान आदि का स्वामी होता। इसके विपरीत जगत् में जीवों की ऊँच नीच अवस्थाओं से उसकी बन्धन बद्ध अवस्था का पता लगता है। कर्मों की शक्ति विचित्र है। कार्तिकेय अनुप्रेक्षा मे लिखा है "अहो, पुद्गल की कितनी अद्भुत शक्ति है, जिसके द्वारा जीव का केवलज्ञान स्वभाव नष्ट हो गया है।

कावि अपुव्वा दीसदि पुग्गलदव्वस्स एरिसी सत्ती।
केवलणाणसहावो विणासिदो जाइ जीवस्स ॥२११॥ का अनु।

जो व्यक्ति अपार शारीरिक वेदना से पीड़ित हो, जोर-जोर से चिल्लाता है तथा रोता है, उसकी स्थिति को दृष्टि मे न रख कोई एकान्तवादी यह कहे कि यह जीव दुःखी नहीं है—यह अनन्त आनन्द का अनुभव कर रहा है, सिद्ध के समान सुखी है, तो प्रबुद्ध वर्ग ऐसी बातें करने वालों को उन्मत्त श्रेणी का गिनेगा। नय दृष्टि में विवेक ज्योति जागृत रहती है।

---

* तथा च मूर्तिमानात्मा सुराभिभवदर्शनात्।
नह्यमूर्तस्य नभसो मदिरा मदकारिणी ॥१६॥

कम्ममल विप्पमुक्को उड्ढं लोगस्स अंतमधिगंता ।
सो सव्वणाण दरिसी लहदि सुहमणिंदियमणंतं ।।
कर्ममलविप्रमुक्त ऊर्ध्वं लोकस्यांतमधिगम्य ।
स सर्वज्ञान-दर्शी लभते सुखमतीन्द्रिय-मनंतम् ।।२८।।

कर्मरूपी मल से पूर्णरूप से विमुक्त जीव लोक के अन्त को प्राप्त करता है – अर्थात् वह सिद्ध भूमि में विराजमान होता है । वह कर्ममल रहित आत्मा सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हो जाता है । वह इन्द्रियों के अगोचर, अनन्त सुख को प्राप्त करना है ।

विशेष— जब यह जीव द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म से छूटकर श्रेष्ठ सिद्ध पद का अधीश्वर बनता है तब वह आत्मा अपने ऊर्ध्वगमन स्वभाव के कारण लोक के अग्रभाग में जाकर विराजमान हो जाता है, जहाँ अनन्तानंत सिद्ध भगवान विराजमान हैं ।

आगम कहता है कि सूक्ष्म निगोदिया जीव तीन लोक में ठसाठस भरे हैं । वे जीव सिद्ध लोक में भी विद्यमान हैं । कैसी विचित्र बात है कि परमपद प्राप्त आत्मा अनन्त सुख और शान्ति का अनुभव करते हैं, वहाँ ये निगोदिया जीव अनन्त दुःखों के सागर में डूबे रहते हैं । सिद्ध भगवान जहाँ केवलज्ञान लक्ष्मी से शोभायमान होते हैं, वहाँ तीव्र पाप का फल अनुभव करने वाले इन एकेन्द्रिय जीवों के अक्षर के अनन्तवें भाग ज्ञान पाया जाता है । सिद्ध भगवान जन्म जरा मरण की व्याधि से पूर्णतया विमुक्त हो चुके हैं उनके निकट में स्थित ये निगोदिया जीव एक श्वास के अठारहवें भाग काल में जन्म मरण का कष्ट पाते हैं । इन सूक्ष्म निगोदिया जीवों की पीड़ा को भुलाकर इन्हें अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख, अनन्त दर्शन युक्त मानना अनुचित है ।

मूढ़ मनुष्य सब प्रकार के सुखों की सामग्री के मध्य में स्थित हो आँख बन्दकर अपने को परम आनन्द का भोक्ता शुद्ध परमात्मा कहता है, किन्तु क्षणभर में विपत्ति की घटा आने के बाद पागल की तरह रोता है, चिल्लाता है और शरीर के रोगी होने पर यह भूल जाता है कि मेरे आत्मा के कोई रोग नहीं है । और वह आत्मा के वैद्य जिनेन्द्र भगवान के चरणों का शरण छोड़कर अस्पताल के चक्कर लगाता है और डाक्टर को भगवान सरीखा मानता है । जैसा उनका आदेश होता है उसके अनुसार कार्य करता है । मिथ्यात्व कर्म के उदयवश जीव सर्वज्ञवाणी और सन्मार्ग की उपेक्षा कर स्वच्छन्द आचरण करता हुआ मरकर नरक गति या मनुष्य गति में जाता है ।

चतुर धर्मात्मा का कर्तव्य है कि वह सिद्ध भगवान को परम आदर्श और वन्दनीय मानें और जिनवाणी की देशना के अनुसार आचरण करें । आश्चर्य है कि पाप पंक में लिप्त गृहस्थ जिनवाणी के भाव को न समझकर अपने को सिद्ध भगवान सोचता है तथा खोटे कार्य करने से नहीं डरता है।जिस जीव का भवितव्य अच्छा है वह मूर्खता का मार्ग छोड़कर रत्नत्रय पथ का पथिक होकर बहिरात्मपने को त्यागकर अन्तरात्मा बनता है और सिद्ध परमात्मा को परम आराध्य मानता है । संसारी जीव परमात्मा बन सकता है । वर्तमान अवस्था में वह जन्म-जरा-मरण विमुक्त पद में प्रतिष्ठित नहीं है ।

जादो सयं स चेदा सव्वण्हू सव्वलोकदरसी य ।
पप्पोदि सुहमणंतं अव्वाबाधं सगममुत्तं ।।

जातः स्वयं स चेतयिता सर्वज्ञः सर्वलोकदर्शी च ।
प्राप्नोतिसुख मनंत–मव्याबाधं स्वकममूर्तम् ।।२९।।

वह कर्मरहित आत्मा स्वयमेव सर्वज्ञ तथा सर्वलोकदर्शी होता है। वह अनन्त अव्याबाध सुख को भोगता है। वह सुख अमूर्त है अर्थात् अतीन्द्रिय है वह आत्मीय सुख है।

विशेष— मलिन दर्पण से उसकी मलिनता दूर हो जाने पर उसमें स्वयं पदार्थ का प्रतिबिंब उसकी स्वच्छता के कारण दिखने लगता है। इसी प्रकार आठ कर्मों की मलिनता दूर होने पर सिद्ध परमात्मा के निर्मल ज्ञान में सम्पूर्ण लोकालोक के पदार्थ प्रतिबिंबित होते हैं। पूज्यपाद स्वामी ने लिखा है कि सिद्ध पद रूप आत्म स्वभाव की प्राप्ति सम्पूर्ण कर्मों के अभाव से होती है, और उस अवस्था में लोकालोक आत्मा में स्वयमेव प्रतिबिंबित होते हैं। धनंजय महाकवि ने विषापहार स्तोत्र में कहा है कि हे जिनेश, आप तीन लोक के पदार्थों के ज्ञाता इसलिए हैं कि और अन्य पदार्थ शेष नहीं है यदि अन्य वस्तु होती तो उसका भी आपको परिज्ञान हो जाता। कवि की वाणी इस प्रकार है-

त्रिकालतत्त्व त्वमवैस्त्रिलोकी स्वामीति संख्या नियते रमीषाम् ।
बोधाधिपत्यं प्रति नाभविष्यंस्तेन्येपि चेद् व्याप्स्यदमूनपीदम् ।।१६।।

हे भगवन्। आपने त्रिकालवर्ती पदार्थों का परिज्ञान कर लिया है। आप तीन लोक के ज्ञाता हैं। तीन लोक के स्वामी हैं। इस प्रकार उनकी सीमा बांधी जाती है। वास्तव में यदि लोक और भी होता तो उसके ज्ञान का स्वामित्व आप मे हुए बिना नहीं रहता। इसका भाव यह है कि जितने भी ज्ञेय पदार्थ होंगे, वे सब केवल ज्ञान मे प्रतिभासित हुए बिना न रहेंगे।

इस प्रसंग मे एक बात ध्यान देने की है कि किसी किताब के पढ़ने से अथवा किसी गुरु का चेला बनने से सर्वज्ञता नहीं आती है। जिस प्रकार सुवर्ण पाषाण की मलिनता दूर होने पर वह शुद्ध सुवर्ण बनता है, इसी प्रकार राग द्वेष मोह आदि विकारों के दूर होने पर आत्मा के ज्ञान पर पड़ा हुआ आवरण दूर हो जाता है और वह आत्मा सकलज्ञ सर्वज्ञ कहा जाता है। उच्च आत्मज्ञान की उपलब्धि श्रेष्ठ संयम और आत्म श्रद्धा के द्वारा प्राप्त होती है।

सिद्ध भगवान के अव्याबाध सुख के विषय में तत्त्वार्थसार में लिखा है—

संसार–विषयातीत सिद्धानामव्ययं सुखं ।
अव्याबाधमिति प्रोक्तं परमं परमर्षिभिः ।।

सिद्ध परमात्मा के अविनाशी संसार के विषयों से अतीत अव्याबाध सुख को महाऋषियों ने श्रेष्ठ सुख निरूपण किया है।

शंका—जब आठ कर्मों का नाशकर सिद्ध भगवान की प्रतिष्ठा जीव प्राप्त करता है, तब उसके नाम कर्म का अभाव होने से शरीर का सद्भाव नहीं रहता। वे शरीर रहित हो जाते हैं। इस प्रकार मुक्त आत्मा के किस प्रकार सुख की सम्भावना है?

उत्तर— लोक में सुख शब्द के विषय, वेदना का अभाव, कर्मविपाक तथा मोक्ष में चार अर्थ होते हैं। अग्नि आनद प्रद है, वायु प्रिय है इस प्रकार इंद्रिय के विषयों के सम्बन्ध मे सुख माना जाता है। दुःख के अभाव मे पुरुष कहता है, मै सुखी हूँ 'सुखितोस्मि'। पुण्य कर्म का उदय होने पर इंद्रियजनित इष्ट सुख प्राप्त होता है। कर्म क्लेश के दूर होने पर मोक्ष में परमोत्तम सुख मिलता है। लोक मे किसी पदार्थ के समान दूसरी वस्तु होती है तो उसकी उपमा दी जाती है। मोक्ष के समान सुख सम्पूर्ण जगत् में अन्यत्र नही है जिसकी उससे तुलना की जाये, इसलिए उसे निरुपम कहा है।

नियमसार में कुन्दकुन्द स्वामी ने लिखा है "आयु कर्म का क्षय हो जाने पर अयोग केवली के शेष कर्म प्रकृतियो का क्षय हो जाता है। और वह पवित्र आत्मा एक समय मात्र काल मे लोक के अग्रभाग में पहुँच जाता है जहाँ अनन्त सिद्ध विराजमान हैं। सिद्ध भगवान का स्वरूप इस प्रकार जानना चाहिये। वे जन्म, जरा, मरण रहित आठ कर्मों से रहित परम शुद्ध ज्ञान दर्शन सुख वीर्य स्वभाव धारी क्षयरहित अवि-नाशी तथा अच्छेद्य हो जाते हैं। मुक्त आत्मा के इन्द्रिय जनित दुख, सुख, पीडा, बाधा का अभाव है। जहाँ न मरण है, न जन्म। इस जन्म-मरणातीत अवस्था को निर्वाण कहते है।

निर्वाण और सिद्ध इनमे कोई भेद नही है। आचार्य कहते हैं—

णिव्वाणमेव सिद्धा, सिद्धा णिव्वाणमिदि समुद्दिट्ठा।
कम्म-विमुक्को अप्पा, गच्छइ लोयग्गपज्जत्तं ॥१८३॥

निर्वाण ही सिद्ध है और सिद्ध जीव ही निर्वाण है। दोनों मे कोई अन्तर नही है। कर्मरहित आत्मा लोक के अग्र भाग तक जाकर रुक जाता है।

शंका—यहाँ एक बात विशेष ध्यान देने की है कि सिद्ध भगवान ने अनन्तवीर्य गुण के कारण अनन्त शक्ति प्राप्त कर ली है। तब वे जैसे मध्य लोक से ऊर्ध्व लोक पर्यन्त सात राजू प्रमाण गये तब उनको लोकाग्र मे रोकने की किसमे शक्ति है? वहाँ वे क्यों रुक गये?

उत्तर—जैन धर्म मे सब पदार्थ अपने-अपने स्वरूप तथा नियमों से बँधे है। जिस वस्तु का जो स्व-भाव है उसे अनन्त शक्ति वाले भगवान भी नही बदल सकते। सिद्ध भगवान लोक के अग्रभाग से आगे नही जाते इसका विशेष कारण है—

धम्मत्थिकायाभावे, तत्तो परदो ण गच्छंति ॥८४॥

धर्मास्तिकाय के अभाव होने से वे भगवान लोक शिखर से आगे नहीं जाते। वस्तु का स्वभाव अद्-भुत है। धर्मद्रव्य गमन मे उदासीन सहायक है। उस द्रव्य की सहायता न मिलने से वे भगवान आगे नही जाते हैं। इससे निमित्त कारण का विशेष महत्व सूचित होता है।

सिद्धो की अवगाहना सवा पाँच सौ धनुष से लेकर साढ़े तीन हाथ पर्यन्त कही गई है। यह भी निमित्त कारण के प्रभाव को बताता है। पूर्व मे ससार अवस्था के शरीर प्रमाण आकार आत्मा का हो जाता है। यदि बाह्य प्रभाव न होता तो जिस तरह आठ कर्मों के अभाव मे आठ गुणों की परिगणना की गई है, उसी प्रकार सबके आत्मप्रदेश भी एक समान हो जाना चाहिये था किन्तु ऐसी बात नही है। कर्म रहित होने से सब बातो में समान होते हुए सिद्धो के आत्मप्रदेशों का आकार समान न होना एक विशिष्ट बात है। संसारावस्था के चरम शरीर प्रमाण आत्म प्रदेश है। उनके अंतिम शरीर प्रमाण आकार को कौन बदले? परिवर्तन का कारण नही है।

सिद्ध भगवान के ज्ञानावरण कर्म के नाश होने से केवल ज्ञान होता है। दर्शनावरण के क्षय से केवल दर्शन होता है। वेदनीय के प्रभाव में अव्याबाध सुख रूप गुण प्रकट होता है। आयु कर्म का उच्छेद होने पर सूक्ष्मत्व गुण होता है। नामकर्म के अभाव में अवगाहनत्व होता है। गोत्र कर्म के अभाव में अगुरु लघुपना प्रगट होता है। अन्तराय कर्म का क्षय होने से सिद्ध भगवान में अनन्त वीर्य गुण अभिव्यक्त होता है।

जनसाधारण में भी परमात्मा के विषय में यह धारणा विद्यमान है कि परमात्मा ऊपर है। उनसे पूछो कि भगवान कहाँ है? तो यही उत्तर मिलता है कि भगवान ऊपर है। उन सिद्ध परमात्मा के नाम व्यापक दृष्टि से भाव प्राभृत में कुन्दकुन्द स्वामी ने इस प्रकार बताये हैं—

णाणी सिव परमेट्ठी सव्वण्हू विण्हु चउमुहो बुद्धो।
अप्पो वि य परमप्पो कम्मविमुक्को य होइ फुडं ॥१४९॥

केवलज्ञान होने से भगवान ज्ञानी हैं। परम कल्याणमय लोकाग्र में जाते हैं, इसीलिये उन्हें शिव कहते हैं। परमपूज्य पद मे विद्यमान रहते हैं, इसीलिये वे परमेष्ठी है। सर्वलोकालोक को जानते हैं, इसलिये वे सर्वज्ञ है। केवल ज्ञान के द्वारा लोक अलोक में व्याप्त होने से विष्णु हैं। समवसरण में जिनेन्द्र के मुखों का चारों दिशाओं से दर्शन होता था, इसीलिये भूतपूर्व नय की अपेक्षा से उन्हे चतुर्मुख कहा है। सम्पूर्ण पदार्थों का बोध हो जाने से बुद्ध हैं। आत्मा भी परमात्मा हो जाता है जब वह कर्मों से विमुक्त हो जाता है। इस प्रकार सिद्ध भगवान को विविध नामो से स्मरण करते हैं। वास्तव मे वे वाणी के अगोचर हैं। मूर्तिक शब्द अमूर्तिक परमात्मा का कैसे वर्णन कर सकते हैं। महाकवि धनजंय ने आदि जिन की स्तुति करते हुए कहा है—

अशब्दमस्पर्शमरूपगन्धं त्वां नीरसं तद्विषयावबोधम्।
सर्वस्य मातारममेयमन्यैं जिनेंद्र मस्मार्यमनुस्मरामि ॥

हे जिनेश ! आप शब्द के अविषय हैं। स्पर्श, रूप, गंध तथा रस रहित हैं किन्तु इन सबके ज्ञाता हैं। सर्व पदार्थों के ज्ञान सयुक्त होते हुए आप छद्मस्थो के द्वारा नही जाने जाते। यद्यपि स्मरण के अगोचर हैं फिर भी मे आपका भक्त आपका स्मरण करता हूं।

आत्मा की परम विशुद्ध अवस्था समस्त कर्मों के क्षय होने पर प्राप्त होती है। उन सिद्ध भगवान रूप, उत्कृष्ट आत्म ज्योति को तीर्थंकर भगवान दीक्षा लेते समय स्मरण करते हैं। वे भगवान देव, अपनी आत्मा और सिद्ध परमात्मा इन तीन को साक्षी बनाकर "त्रिसाक्षिकम्" (१७–१९९) सम्पूर्ण परिग्रह का त्यागकर दीक्षा लेते हैं।

यहाँ यह विशिष्ट बात ज्ञातव्य है कि भगवान ऋषभदेव ने दीक्षा लेते समय देवो को तथा सिद्ध भगवान को साक्षी रूप में स्वीकार तो किया ही था। इनमें अपने आत्म देव की साक्षी भी सम्मिलित थी। इससे आत्मा के विषय में जिनेश्वर की उच्च दृष्टि स्पष्ट होती है। महापुराण में लिखा है—

ततः पूर्वमुखं स्थित्वा कृतसिद्धनमस्क्रियः।
केशानलुंचदाबद्धपल्यंक· पंचमुष्टिकम् ॥१७–२००॥

भगवान ने परिग्रह का परित्याग कर पूर्व दिशा की ओर मुख किया था, वे पद्मासन से विराजमान हुए थे तथा सिद्ध परमेष्ठी को नमस्कार कर उन्होंने पंचमुष्टि केशलोंच किया था।

आत्मा का विकास सिद्ध अवस्था में परिसमाप्त होता है। वे रूप, स्पर्श आदि रहित हैं। उनका परिज्ञान इंद्रियों के साधन से नहीं हो सकता। अरहंत भगवान की दिव्य देशना में उन सिद्ध निकल परमात्मा

का कथन किया गया है, इसलिए पंच नमस्कार मन्त्र में अष्टकर्म विनाशक मोक्ष पद प्राप्त सिद्ध परमेश्वर की अभिवंदना अरहंतों को प्रणामांजलि अर्पित करने के बाद की गई है। 'णमो अरहंताणं' के बाद 'णमो सिद्धाणं' पाठ आता है।

कुन्दकुन्द स्वामी ने कहा है कि शुद्ध आत्मा सर्वज्ञ होता हुआ अविनाशी, अव्याबाध सुख का अनुभव करता है।

पाणेहिं चदुहिं जीवदि जीवस्सदि जो हु जीविदो पुव्वं ।
सो जीवो पाणा पुण बलमिंदियमाउ उस्सासो ।।
प्राणैश्चतुर्भिर्जीवति जीविष्यति य खलु जीवित. पूर्वं ।
स जीवः प्राणाः पुनर्बलमिन्द्रियमायुरुच्छ्वासः ।।३०।।

जो चार प्राणो से जीता है, जीवेगा तथा पूर्व मे जीता था वह जीव है। बल, इद्रिय, आयु और श्वासोच्छ्वास ये चार प्राण कहे हैं। मुक्तात्माओ के चेतना रूप भाव प्राण पाया जाता है।

विशेष – प्राण का स्वरूप जीवकाड गोम्मटसार मे इस प्रकार कहा है —

बाहिरपाणेहिं जहा तहेव अब्भतरेहिं पाणेहिं ।
पाणंति जेहिं जीवा पाणा ते होंति णिद्दिट्ठा ।।१२८।।

जिस प्रकार अभ्यन्तर प्राणों के कार्यभूत नेत्रों का खोलना, वचन प्रवृत्ति, उच्छ्वास, नि.श्वास आदि बाह्य प्राणो के द्वारा जीव जीते हैं, उसी प्रकार जिन अभ्यन्तर कर्म के क्षयोपसमादि के द्वारा जीव मे जीवित पने का व्यवहार हो, उनको प्राण कहते हैं। प्राणों के सद्भाव से जीवितपने का और उनके वियोग होने पर मरणपने का व्यवहार होता है।

प्राणो के दस भेद हैं। स्पर्शनादि पच इन्द्रिय प्राण, मनोबल, वचनबल, कायबल रूप तीन बल प्राण, श्वासोच्छ्वास तथा आयु इस प्रकार दस प्राणहैं। पचेन्द्रिय सज्ञी जीव के दस प्राण हैं। असज्ञी जीव के मनो–बल को छोडकर नौ प्राण होते हैं। चतुरिन्द्रिय के कर्ण इन्द्रिय को छोडकर आठ प्राण हैं। त्रीन्द्रिय के चक्षु को छोडकर शेष सात प्राण हैं। द्वीन्द्रिय के दो इन्द्रिय, वचनबल, कायबल, श्वासोच्छ्वास तथा आयु इस प्रकार छ' प्राण हैं। एकेन्द्रिय के कायबल, स्पर्शनेन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास तथा आयु ये चार प्राण पाये जाते हैं। इन प्राणों के कारण संसारी जीव को प्राणी कहते हैं।

प्राण शब्द का प्रयोग एक वचन में न होकर प्राणा रूप बहुवचन मे होता है, क्योकि प्राणो की न्यून-तम सख्या एकेन्द्रिय की अपेक्षा चार प्राण हैं। लोक भाषा मे ऐसे वाक्य आया करते हैं– देवदत्त के प्राणों ने परलोक को प्रयाण किया। यहाँ प्राण शब्द के स्थान मे बहुवचन रूप प्राणो का कथन है। अन्य सम्प्रदाय में प्राणो के विषय मे इस प्रकार का स्पष्टीकरण नही है।

इन्द्रिय, शरीर, आयु आदि रहित सिद्ध भगवान मे चेतना लक्षण भाव प्राण कहा है। द्रव्यसग्रह मे लिखा है -

तिक्काले चदुपाणा इन्द्रिय बलमाऊ आणपाणो य ।
ववहारा सो जीवो णिच्चयणयदो दु चेदणा जस्स ।।३।।

जिसके तीनकाल में इन्द्रिय, बल, आयु तथा श्वासोच्छ्वास चार प्राण होते हैं, वह व्यवहार नय से जीव कहा गया है। निश्चय नय से जिसमें चेतना पाई जाती है, वह जीव है। इस प्रकार उभयनय प्रतिपादित स्वरूप की अवधारणा करना चाहिए।

अगुरूलहुगा अणंता तेहिं अणंतेहिं परिणदा सव्वे ।
देसेहिं असंखादा सियलोगं सव्वमावण्णा ॥

अगुरुलघुका अनंतास् तैरनंतैः परिणताः सर्वे ।
देशैरसंख्याताः स्याल्लोकं सर्वमापन्नाः ॥३१॥

सब जीवों में अगुरु लघु नामका गुण पाया जाता है। उसमें अनन्त अविभाग-प्रतिच्छेद पाये जाते हैं। ये अगुरु लघु गुण अनन्त कहे गये हैं। ये सभी जीवों मे विद्यमान हैं। संसारी जीव के असंख्यात प्रदेश युक्त शरीर न्यूनाधिक होता है। लोकपूरण समुद्घात की दृष्टि से जीव को लोकव्यापी कहा है। अन्य समय में जीव की अवगाहना लोक के असख्यात भाग आदि रूप कहे हैं। जीव की अवगाहना पुद्गल के समान एक प्रदेशी नहीं है। सूत्रकार ने तत्त्वार्थसूत्र में कहा है—"असङ्ख्येय भागादिषु जीवानाम्" [(१५) सूत्र अध्याय ५]

विशेष- मूलसरीर मछंडिय उत्तरदेहस्स जीवपिंडस्स ।
णिग्गमणं देहादो होदि समुग्घादणामं तु ॥६६७॥

अर्थ— मूल शरीर को न छोडकर तैजस, कार्माण रूप उत्तर देह के साथ-साथ जीवप्रदेशों के शरीर से बाहर निकलने को समुद्घात कहते हैं। समुद्घात के सात भेद हैं: वेदना, कषाय, वैक्रियिक, मरणान्तिक, तैजस, आहारक, केवल। यहाँ लोक पूरण समुद्घात का उल्लेख आया है। जब केवली भगवान का निर्वाण-गमन काल निकट आता है तथा उस समय आयु कर्म की स्थिति थोड़ी हो और शेष नाम, गोत्र तथा वेदनीय की स्थिति अधिक हो, तो इन तीन अघातियां कर्मों की स्थिति को आयु कर्म के बराबर करने के लिए दण्ड, प्रतर, कपाट तथा लोकपूरण समुद्घात केवली भगवान करते हैं। इसके द्वारा आयु के बराबर वेदनीय, नाम, गोत्र की स्थिति हो जाती है।

केचित्तु अणावण्णा मिच्छादंसण-कसाय-जोगजुदा ।
विजुदाय तेहिं बहुगा सिद्धा संसारिणो जीवा ॥

केचित्तु अनापन्ना मिथ्यादर्शन—कषाय—योगयुताः ।
वियुताश्च तैर्बहवः सिद्धाः संसारिणो जीवाः ॥३२॥

कोई जीव अनापन्न अर्थात लोकपूरण समुदघात रहित मिथ्यादर्शन तथा योग सहित होते है, वे जीव संसारी हैं। मिथ्या दर्शन कषाय तथा योगो से विहीन सिद्ध जीव है। जैसे संसारी जीव अनंत है उसी प्रकार सिद्ध जीव भी अनन्त है।

विशेष— सिद्ध राशि अनंत है। उनसे अनतगुणे जीव एक निगोदिया संसारी के शरीर में पाये जाते हैं। सर्वज्ञ देव ने कहा है, ऐसे भी अभी अनंतानंत जीव हैं, जिन्होंने दो इंद्रिय आदि त्रस पर्याय प्राप्त नहीं की है। गोम्मट्टसार में लिखा है—

एकणिगोद शरीरे जीवा दव्वप्पमाणदो दिट्ठा ।
सिद्धेहिं अणतगुणा सव्वेण विदीद कालेण ॥१९५॥

द्रव्य की अपेक्षा सिद्ध राशि से और सम्पूर्ण व्यतीत काल के समेब से अनतगुणे जीव एक शरीर निगोद मे रहते है।

अत्थि अणंता जीवा जेहिं ण पत्तो तसाण परिणामो।
भावकलक सुपउरा णिगोदवास ण मुचति ॥१९६॥

ऐसे अनंतानत जीव है जिन्होने त्रसो की पर्याय अब तक नही पाई है तथा जो दुर्लेश्या रूप मलिन परिणामो की प्रचुरता के कारण निगोद स्थान को नही छोडते।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि जिन्होने त्रस पर्याय नही पायी है और न जो पावेगे उनको नित्य निगोद कहते है। जिस निगोदिया जीव ने कभी त्रस पर्याय प्राप्त कर ली और फिर निगोद राशि मे उत्पन्न हो गया उसे इतर निगोद कहते है।

तीन सौ तियालीस राजू प्रमाण लोक मे सर्वत्र अनतानत जीव राशि पायी जाती है। सिद्ध भगवान सिद्ध शिला के ऊपर लोक के अग्रभाग मे विराजमान रहते है। निश्चय नय से वे सिद्ध भगवान अपने आत्म प्रदेशो मे अवस्थित हैं।

जह पउमरायरयणं खित्तं खीरं पभासयदि खीरं।
तह देही देहत्थो सदेहमत्तं पभासयदि ॥
यथा पद्मरागरत्न क्षिप्तं क्षीरे प्रभासयति क्षीर ।
तथा देही देहस्थ स्वदेहमात्र प्रभासयति ॥३३॥

जिस प्रकार दूध मे डाला गया पद्मरागमणि अपनी प्रभा से समस्त दूध को प्रकाशित करता है, सारा दूध उसी रग का दिखने लगता है, उसी प्रकार देह मे निवास करने वाला देही अर्थात् संसारी जीव अपने शरीर को प्रकाशित करता है।

विशेष—यहाँ उस अन्य सम्प्रदाय की मान्यता का निराकरण किया है कि जीव वट कणिका प्रमाण है। कोई २ यह मानते हैं कि जीव सर्वलोक मे व्याप्त है। जैन धर्म की मान्यता है कि ससारी जीव शरीर के प्रमाण रहता है। नाम कर्म के उदय के अनुसार जो जीव चीटी के शरीर मे व्याप्त रहता है, वही जीव हाथी बनने पर हाथी के बराबर आत्म प्रदेशो को बडा बना लेता है। जीव मे अपने प्रदेशों को संकोच और विस्तार कर छोटे बडे प्रमाण बनने की सामर्थ्य है।

सव्वत्थ अत्थि जीवो ण य एक्को एक्ककाय एकट्ठो ।
अज्झवसाणविसिट्ठो चिट्ठदि मलिणो रजमलेहिं ॥
सर्वत्रास्ति जीवो न चैक एककार्य ऐक्यस्थ. ।
अध्यवसायविशिष्टचेश्ष्टते मलिनो: रजोमलै: ॥३४॥

यह जीव संसार रूप अवस्था में होने वाली क्रमवर्ती पर्यायों में सर्वत्र पाया जाता है। यह क्षीर तथा नीर के समान शरीर से भिन्न होते हुए भी शरीर रूप दिखता है। वास्तव में जैसे दूध और पानी भिन्न हैं, उसी प्रकार देह तथा देही में भिन्नता है। संसारी जीव मिथ्यात्व रागादि रूप अध्यवसान अर्थात् भावों से युक्त हो ज्ञानावरण आदि कर्म रूप मलिनता को धारण करता है तथा अन्य भव में शरीर निर्माण हेतु सामग्री का संग्रह करता है।

विशेष जो आत्मा शरीर से भिन्न अनन्त ज्ञानादि गुणों से सम्पन्न कहा गया है, वही आत्मा संसार अवस्था में शुभ अशुभ संकल्प विकल्पों के कारण आगामी भव में शरीर आदि को प्राप्त करने के लिये प्रयत्न करता है। यह जीव अनादिकाल से कर्मबन्धन में पड़ा हुआ है। इसके तथा शरीर के स्वरूप में समानता नहीं है किन्तु अनादिकाल से मोह के उदयवश अज्ञानी होता हुआ यह जीव संसार परिभ्रमण की सामग्री का संचय करता रहता है।

जेसिं जीवसहावो णत्थि अभावो य सव्वहा तस्स।
ते होंति भिण्णदेहा सिद्धा वचिगोयरमदीदा ॥
येषां जीव स्वभावो नास्त्यभावश्च सर्वथा तस्य।
ते भवन्ति भिन्नदेहाः सिद्धा वाग्गोचरमतीता ॥३५॥

जिन जीवों के कर्मजनित द्रव्य प्राण, भाव प्राण रूप जीव स्वभाव नहीं है, किन्तु शुद्ध चैतन्य आदि भाव प्राण विद्यमान है वे शरीर से भिन्न एवं वाणी के अगोचर सिद्ध भगवान कहे गये हैं।

विशेष- यहाँ सिद्ध भगवान का स्वरूप वचनों से अगोचर कहा है। उनके शरीर से सम्बन्ध रखने वाले इन्द्रिय, बल, आयु तथा श्वासोच्छ्वास रूप द्रव्यभाव प्राण नहीं है। उनके चेतना लक्षण प्राण है। इसीलिये जैसे प्राणीपना संसारी जीव में है उसी प्रकार प्राणी शब्द वाच्यता सिद्ध भगवान में भी है। जिस प्रकार वे सिद्ध परमात्मा रूप, रस, गन्ध, स्पर्श रहित है, उसी प्रकार वे वाणी के अगोचर कहे गये है। ध्यान का वर्णन करते समय मुनीन्द्रों ने सिद्धों के ध्यान को रूपातीत ध्यान कहा है। इससे यह बात विदित होती है कि सिद्धों का ध्यान करना कितना कठिन है। धर्मध्यान के पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ इन तीन भेदों के पश्चात् रूपातीत ध्यान कहा गया है। सिद्ध भगवान वचनातीत तो है ही उनका ध्यान भी रूपातीत है। ज्ञानार्णव में लिखा है--

चिदानन्दमय शुद्धममूर्तं परमाक्षरम्।
स्मरेद्यत्रात्मनात्मानं तद्रूपातीतमिष्यते ॥१६॥ सर्ग ४०

जिस ध्यान में मुनीश्वर चिदानन्दमय शुद्ध, अमूर्त, अविनाशी आत्मा का ध्यान करते है, वह रूपातीत ध्यान है। यह ध्यान नित्य, निरंजन, निराकार, अनन्त गुण सम्पन्न सिद्धों को अपना ध्येय बनाता है। आँख बन्द करके गृहस्थ कहता है, मैं सिद्ध भगवान हूँ। ऐसा ही वह सोचता है। किन्तु क्षण भर में आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान उसको घेर लेते हैं। सिद्धों के ध्यान की पात्रता महामुनियों में पाई जाती है। गृहस्थों के लिये सिद्धोहं के स्थान में णमो सिद्धाणं का सदा स्मरण हितकारी है। आत्म हितार्थी प्रथम विषयों से उदास होता हुआ उदासोहं— मैं विषयों से उदास हूं, पश्चात् 'दासोहं' की श्रेणी आती है। यहां उदासोहं का 'उ' नहीं रहता है।

यह भक्ति रूप अवस्था 'दासोहं' में है। आगे की अवस्थामे 'दा' दूर होकर 'सोहं' की उच्चस्थिति आती है। इसके बाद 'स' भी चला गया, तो 'अहं' की अद्वैत दशा प्राप्त होती है।

ण कुदोचि वि उप्पण्णो जम्हा कज्जं ण तेण सो सिद्धो।
उप्पादेदि ण किंचि वि कारणमवि तेण ण स होदि ।।

न कुतश्चिदप्युत्पन्नो यस्मात् कार्यं न तेन सः सिद्धः।
उत्पादयति न किंचिदपि कारणमपि तेन न स भवति ।।३६।।

सिद्ध परमात्मा भाव कर्म रूप आत्म परिणाम तथा द्रव्य कर्म रूप पुदगल पिंड के क्षय हो जाने से किसी से उत्पन्न नहीं हुए है इसीलिये वे कार्यरूप नहीं है। द्रव्यकर्म भावकर्म का क्षय होने से निजस्वरूप को उत्पन्न करते हुए कर्म नो कर्म के लिये कारण रूप भी नहीं हैं।

विशेष सिद्ध अवस्था मे जीव स्वात्मोपलब्धि रूप शुद्ध पर्याय परिणत है। अब सिद्ध भगवान के द्रव्यकर्म व भावकर्म का क्षय हो गया है। वे अपनी आत्मा की शुद्ध अवस्था को उत्पन्न करते है। बाह्य कर्मों के वे कर्ता नहीं है और न उनके फलो के वे भोक्ता है, इसीलिये उन्हे कारण और कार्य रूप विशेषण से विमुक्त कहा है। जैसे शुद्ध सुवर्ण की जितनी अवस्थाएं होगी वे शुद्ध ही होगी। उस सुवर्ण का पूर्वकालीन अपनी मलिन अवस्था से सम्बन्ध छूट चुका है, इसी प्रकार की स्थिति सिद्ध भगवान की है, वे न शुभ अशुभ कर्मों के कारण हैं न उनके कार्य हैं। अब वे परम शुद्ध सिद्ध परमात्मा है।

जब तीर्थंकर भगवान दीक्षा ग्रहण करते समय सिद्धेभ्यो नम शब्द कहकर सिद्ध भगवान को प्रणाम करते हैं, तब सामान्य गृहस्थ का स्वय को सिद्धोह कहना अविवेकपूर्ण वाणी है। जो गृहस्थ तीर्थंकर से अधिक अपने को बुद्धिमान सोचता है, वह व्यक्ति शोचनीय बुद्धि वाला तथा मूढ शिरोमणि गिना जायगा। विवेकी व्यक्ति णमो अरहताणं, णमो सिद्धाण आदि पच परमेष्ठियोकी निरत अभिवन्दना द्वारा स्वहित सपादन करता हैं। क्रमानुसार साधना साधक को जयश्री प्रदान करती है।

सस्सदमध उच्छेदं भव्वमभव्वं च सुण्णमिदरं च।
विण्णाणमविण्णाणं ण वि जुज्जदि असदि सब्भावे ।।

शाश्वतमथोच्छेदो भव्यमभव्य च शून्यमितर च।
विज्ञान–मविज्ञान नापि युज्यते असति सद्भावे ।।३७।।

यदि मुक्ति की प्राप्ति होने पर जीव का उच्छेद हो जावे, तो सिद्ध पर्याय मे द्रव्य दृष्टि से ज्ञायक स्वभाव की अपेक्षा शाश्वतपना तथा पर्यायदृष्टि से अगुरु लघु गुण जनित षट्गुणित हानि वृद्धि की अपेक्षा नहीं होगा। निर्विकार चिदानन्द स्वभाव युक्त होने से भव्यपना, राग–द्वेष आदि पर्याय रूप परिणत न होने से अभव्यपना जीव के नही होगा। मुक्तजीव का अभाव मानने पर स्व स्वरूप की अपेक्षा अशून्यपना तथा परद्रव्य क्षेत्र काल तथा भाव की अपेक्षा शून्यपना नहीं होगा। शुद्ध आत्मा मे केवलज्ञान के कारण विज्ञानपना है। मतिज्ञान आदि क्षयोपशमिक ज्ञानो का क्षय होने से अविज्ञानरूपता नहीं होगी।

विशेष—सिद्ध भगवान मे शाश्वतपना है, अशाश्वतपना है। इसी प्रकार भव्यपना तथा अभव्यपना भी है। यह अभव्यपना पारिणामिक भावों के भेद अभव्यपने से भिन्न है। वह पारिणामिक भाव रूप अभव्यपना सिद्ध पर्याय की उत्पत्ति मे अत्यन्त प्रबल बाधक है। यहाँ सिद्धो के अभव्यपने का अर्थ मिथ्यात्वादि संसार की अवस्था की पर्यायोरूप परिणत न होना है। यहाँ अभव्य शब्द का उपयोग विशेष अवस्था की अपेक्षा से किया गया है। सिद्ध भगवान अपने गुणो की अपेक्षा अभाव रूप नही है, अर्थात् वे अशून्य हैं; पर द्रव्य क्षेत्र आदि की अपेक्षा वे अभाव रूप हैं। इसीलिये उन्हे शून्य कहा। केवलज्ञान से शोभायमान होने के कारण उन्हे विज्ञानरूप कहा है। उन्हे दूसरी दृष्टि से विज्ञान शून्य अविज्ञान रूपता युक्त कहा है। यदि बौद्ध धर्म की मान्यता के अनुसार प्रदीप के बुझ जाने के समान सिद्ध भगवान रूप आत्मा का विनाश मान लिया जाये, तो सिद्धो मे पाई जाने वाली उपरोक्त विशेषताओ का विनाश हो जायेगा।

स्याद्वाद दृष्टि से यहाँ सिद्ध भगवान को अविनाशी एव अनित्य, भव्य तथा अभव्य, शून्य तथा अशून्य विज्ञान रूप तथा अविज्ञान रूप विरोधी दिखने वाली विशेषताओ से संयुक्त कहा है।

गोम्मटसार मे पारिणामिक भाव की दृष्टि से सिद्ध भगवान को न भव्य माना है, न अभव्य। यह विशेष प्रतिपादन की पद्धति है। सिद्ध भगवान के सम्बन्ध मे यह बात ध्यान देने योग्य है, कि वे भव्य भी हैं, अभव्य भी हैं, और एक दृष्टि से न वे भव्य है और न अभव्य हैं। गोम्मटसार मे पारिणामिक भाव की अपेक्षा इस प्रकार स्पष्टीकरण किया है–

ण य जे भव्वाभव्वा मुत्तिसुहातीदणत ससारा।
ते जीवा णायव्वा णेव य भव्वा अभव्वा य ॥५५८॥

जिनका ससार का परिभ्रमण छूट चुका है और जो मुक्ति के सुख का अनुभव करते हैं, उन आत्माओं को भव्य एव अभव्य नही जानना चाहिये। जिसमे रत्नत्रय की पूर्ण अभिव्यक्ति होने की पात्रता है उन्हे भव्य कहते है। सिद्ध पद प्राप्त होने पर भव्यपने का परिपाक हो चुका है। अरहत अवस्था तक उन्हे भव्य कहा गया है। अब वे सिद्ध भगवान न भव्य है, न अभव्य हैं।

कम्माणं फलमेक्को एक्को कज्ज दु णाणमध एक्को।
चेदयदि जीव रासी चेदगभावेण विविहेण ॥
कर्माणां फलमेक एकः कार्य तु ज्ञानमथैकः।
चेतयति जीवराशिश्चेतकभावेन विविधेन ॥३८॥

एक प्रकार की जीव राशि मुख्यता से सुख तथा दुःख रूप कर्मफल का अनुभवन करती है। एक जीव राशि कर्मफल के वेदन सहित कर्म के कार्य का अनुभवन करती है तथा एक जीव राशि मोह का तथा ज्ञानावरण का क्षय हो जाने से स्वाभाविक सुख रूप केवलज्ञान चेतना का अनुभवन करती है।

विशेष—सामान्यतया जीव को ज्ञान तथा दर्शन रूप विविध चेतनायुक्त कहा जाता है। यहाँ ग्रन्थकार ने उस चेतना के विषय मे अन्य पद्धति से प्रतिपादन किया है। जो जीव राशि मुख्यता से कर्मफल का वेदन करती है, उसे स्थावर जीव कहा गया है। उनकी चेतना को कर्मफल चेतना कहते है। त्रस जीव समुदाय मे कर्मफल चेतना के सिवाय कर्मचेतना का भी सद्भाव पाया जाता है। केवलज्ञान से शोभायमान

केवली भगवान स्वाभाविक सुखरूप ज्ञान चेतना का अनुभवन करते हैं। एकेन्द्रिय में कर्मफल चेतना ही है। केवली भगवान में ज्ञान चेतना है तथा अन्य त्रस राशि में कर्मफल चेतना तथा कर्मचेतना, इन दो चेतनाओं का सद्भाव माना गया है।

सव्वे खलु कम्मफलं थावरकाया तसा हि कज्जजुदं।
पाणित्तमदिक्कंता णाणं विदंति ते जीवा॥

सर्वे खलु कर्मफलं स्थावरकायास्त्रसा हि कार्ययुतं।
प्राणित्वमतिक्रांताः ज्ञानं विदन्ति ते जीवाः॥३९॥

सम्पूर्ण स्थावर जीव राशि अव्यक्त सुख दुःख के अनुभव रूप शुभ तथा अशुभ कर्म के फल का वेदन करती है। द्वीन्द्रिय आदिक त्रस राशि विशेष रागद्वेष रूप कर्मचेतना के वेदन के साथ कर्मफल चेतना का भी अनुभवन करती है। प्राणी रूप संज्ञा रहित जो केवली भगवान हैं, वे ज्ञान चेतना का अनुभवन करते हैं।

विशेष— एकेन्द्रिय जीव अपने कर्मफल के अनुसार जो दुःख सुख का संवेदन करते हैं, वह व्यक्त नहीं हो पाता। उनका सुख दुःख का संवेदन अव्यक्त है—भाव को व्यक्त करने का साधन रसना इन्द्रिय उनके नहीं है। उदाहरणार्थ वृक्ष को जब तीव्र शीत पीडा देती है, तब वह अपने पूर्वोपार्जित कर्म का फल भोगता है। इस प्रकार एकेन्द्रिय जीव सुख दुःख रूप फल का अनुभवन करते हैं। उसे वे व्यक्त नहीं कर सकते। त्रस जीव में यह विशेषता है, कि उसके रसना इन्द्रिय होने से वह अपनी वेदना तथा सुख को व्यक्त करने की क्षमता युक्त है। यद्यपि त्रस जीव रसना इन्द्रिय के फलस्वरूप अपनी वेदना को प्रगट करता है, किन्तु वह स्पष्ट नहीं ज्ञात होता, इसीलिये उनके अनुभय वचन योग कहा है।

त्रस जीवों में कर्मफल और कर्मचेतना दो चेतनाओं का सद्भाव कहा है। केवली भगवान के मोहनीय कर्म का क्षय हो जाने से वे रागद्वेष युक्त अज्ञान चेतना, युगल अर्थात कर्म तथा कर्मफल चेतना से रहित होते हैं। वे ज्ञान चेतना के स्वामी हैं। वे केवली भगवान पूर्व कर्म का उदय आने पर सदा वीतराग परिणति युक्त रहते हैं, इसीलिये उनकी क्रिया बन्ध का कारण नहीं है। वे समवशरण में उपदेश देते हैं, लोक को सुखप्रदायी उनका विहार होता है। इत्यादि क्रियाओं के साथ उनका इच्छा रूप सम्बन्ध नहीं रहता है। इसीलिये उनके धर्मोपदेश आदि कार्यों के द्वारा बंध नहीं होता।

कोई-कोई अविरत सम्यक्त्वी के चौथे गुणस्थान में ही उस ज्ञानचेतना का सद्भाव सोचते हैं। ऐसी परिकल्पना ठीक नहीं है। ज्ञानचेतना राग द्वेष का सर्वथा क्षय हुए बिना नहीं होती। आचार्य अमृतचन्द्र ने कहा है "तत्र स्थावराः कर्म फल चेतयन्ते, त्रसाः कार्यं चेतयते। केवलज्ञानिनो ज्ञानं चेतयंत इति।" अर्थात स्थावर जीव कर्मफल अनुभवन रूप चैतन्य युक्त है। त्रस जीव कर्म चेतना का अनुभव करते हैं तथा केवली भगवान ज्ञान का अनुभवन करते हैं।

प्रवचनसार गाथा १२३ की टीका में आचार्य अमृतचन्द्र ने इस विषय को इस प्रकार स्पष्ट किया है-- 'ज्ञानपरिणतिर्ज्ञानचेतना, कर्मपरिणतिः कर्मचेतना, कर्मफलपरिणति कर्मफलचेतना" आत्मा की ज्ञान

स्वरूप परिणति ज्ञान चेतना है। कर्मरूप परिणति कर्मचेतना है। कर्मफल रूप परिणति कर्मफल चेतना है इसीलिये वीतराग केवली भगवान के ज्ञान चेतना परमागम में मानी गई है।

अनगार धर्मामृत में लिखा है—

सर्वे कर्मफलं मुख्यभावेन स्थावरास्त्रसाः।
स कार्यं चेतयन्ते स्त प्राणित्वा ज्ञानमेव च ॥

सभी संसारी जीव कर्मचेतना का अनुभवन करते हैं। मुख्य रूप से इसका अनुभवन स्थावरों के होता है। त्रस जीव कर्मफल अनुभवन के साथ कर्मचेतना का भी अनुभवन करते हैं। इन्द्रियादि क्षयोपशमिक ज्ञानरहित ज्ञानात्मक केवली भगवान ज्ञानचेतना का अनुभव करते हैं। गौण रूप से उनके अन्य चेतना भी है। यह पद्य मे 'च' शब्द द्वारा सूचित होता है।

कुंदकुंद आचार्य का अभिप्राय है कि केवलज्ञानी के ज्ञानावरण के क्षय से उत्पन्न ज्ञानचेतना है। वहां अज्ञानचेतना का सद्भाव नहीं है। "केवलज्ञानिनो ज्ञानमेव चेतयंत इति"। तेरहवे गुण स्थान के नीचे के जीवों के ज्ञानचेतना आचार्यों ने नही मानी है।

उवओगो खलु दुविहो णाणेण दंसणेण संजुत्तो।
जीवस्स सव्वकालं अणण्णभूदं वियाणीहि ॥
उपयोगः खलु द्विविधो ज्ञानेन दर्शनेन च संयुक्तः।
जीवस्य सर्वकालं अनन्यभूतं विजानीहि ॥४०॥

जीव के उपयोग के दो भेद हैं। पदार्थ के विशेष अंश को ग्रहण करने वाला ज्ञानोपयोग है। पदार्थ के सामान्य अंश को ग्रहण करने वाला दर्शनोपयोग है। ये दोनो उपयोग जीव से अभिन्न हैं तथा उसमें सर्वकाल पाए जाते है—

विशेष— ज्ञान का लक्षण गोम्मटसार मे इस प्रकार कहा है—

जाणइ तिकाल विसए दव्वगुणे पज्जए य बहुभेदे।
पच्चक्खं च परोक्खं अणेण णाणेत्ति णं बेंति ॥२९८॥

जिसके द्वारा जीव त्रिकालवर्ती द्रव्य, गुण तथा उनकी अनेक प्रकार की पर्यायो को जाने, उसको ज्ञान कहते हैं। इसके दो भेद है एक प्रत्यक्ष दूसरा परोक्ष। मति, श्रुत, अवधि और मन पर्यय ये चार क्षायोपशमिक ज्ञान परोक्ष है। कर्म के क्षय से उत्पन्न होने वाला केवलज्ञान प्रत्यक्ष है।

पदार्थ सामान्य और विशेष रूप कहा गया है। उसके सामान्य अंश को ग्रहण करने वाला दर्शन हैं, और विशेष को ग्रहण करने वाला ज्ञान कहा है। दर्शन के विषय मे लिखा है—

भावाण सामण्णविसेसयाणं सरूवमेत्तं ज।
वण्णण–हीणग्गहणं जीवेण य दंसण होदि ॥

सामान्य–विशेषात्मक पदार्थों का जो सत्तावलोकन, वचन अगोचर होता है, उसे दर्शन कहा है।

आभिणि-सुदोधि-मण-केवलणाणि णाणाणि पंचभेयाणि ।
कुमदि-सुद-विभंगाणिय तिण्णिवि णाणेहिं संजुत्ते ॥
आभिनिबोधिक-श्रुतावधि-मनःपर्ययकेवलानि ज्ञानानि पंचभेदानि ।
कुमति-श्रुत-विभंगानि च त्रीण्यपि ज्ञानैः सयुक्तानि ॥४१॥

आभिनिबोधिक ज्ञान अर्थात मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान मनःपर्ययज्ञान तथा केवलज्ञान, ये सम्यग्ज्ञान के पांच भेद हैं। इन ज्ञानों के साथ कुमति, कुश्रुत तथा विभगावधि रूप तीन अज्ञान भी हैं।

विशेष— सर्वार्थसिद्धि मे लिखा है—"येन येन प्रकारेण जीवादय पदार्था व्यवस्थितास्तेन तेनावगमः सम्यग्ज्ञानम् ।" (१-१)

जिस प्रकार से जीवादि पदार्थ व्यवस्थित है, उस प्रकार उनको सशय, विपर्यय और अनध्यवसाय दोष रहित ग्रहण करना सम्यग्ज्ञान है।

मतिज्ञान को अभिनिबोधक ज्ञान कहा गया है। मतिज्ञान द्वारा इंद्रिय और मन की सहायता से अभिमुख और नियमित पदार्थ का ज्ञान होता है इसलिए इसे आभिनिबोधिक कहते हैं। गोम्मटसार मे लिखा है –

अहिमुह-णियमिय-बोहण-माभिणिबोहिय-मणिदि-इंदियजम् । गाथा (३०५)

यह ज्ञान, इंद्रिय मन की सहायता से होता है। यह मतिज्ञान मिथ्यात्व के कारण अज्ञान कहा जाता है। आज जो भौतिक विज्ञान का विस्तार है, वह इस कुमतिज्ञान का कार्य है। आचार्य नेमिचद्र ने लिखा है कि बिना किसी उपदेश के विष, शस्त्र आदि के निर्माण की ओर जो ज्ञान की प्रवृत्ति होती है, वह मत्यज्ञान है।

वर्तमान युग मे भस्मासुर का रूप धारण करने वाला विज्ञान वास्तव मे वह कुमतिज्ञान रूप है।

उक्तच - विसजन-कूड-पजर-बधादिसु विणुवएस-करणेण ।
जा खलु पवहइ मई मइअण्णाणत्ति बेंति ॥३०२॥

बिना परोपदेश के जो प्राणघातक विष, यत्र, कूट (जिसके द्वारा चूहे आदि पकड़े जाते हैं), पजर (रस्सी मे गाठ लगाकर जो जाल बनाया जाता है) बध (हाथी को पकड़ने के लिए गड्ढे आदि बनाये जाते हैं) इत्यादि विनाशकार्य के निर्माण मे जो बुद्धि जाती है, वह कुमतिज्ञान है। यदि दूसरे के उपदेश पूर्वक इस सबध मे ज्ञान की प्रवृत्ति हुई तो, उसे कुश्रुतज्ञान कहा गया है। इस आगमवाणी मे जो बात कही गई है उसका प्रत्यक्षीकरण अणुबम आदि विनाशक आविष्कारों के रूप मे दिखाई दे रहा है। ये आविष्कार बिना उपदेश के हुआ करते हैं। इन्हें अग्रेजी मे Invention कहते हैं। जैनागम में पूर्व मे ही सकेत कर दिया है, कि बिना उपदेश के ज्ञान की क्रूर औरयौं दुष्ट का के विषय मे प्रवृत्ति होगी। पचमकाल होने के कारण ज्ञान का झुकाव दुःखवर्धक सामग्री के निर्माण की ओर होगा। यथार्थ मे इस काल का नाम दुःखमा पूर्णतया वास्तविक है। सारे विश्व मे तीव्र तृष्णा, अहकार, कलह, दुःख, असन्तोष, दूषित स्पर्धा आदि की ज्वाला जगत् को जला रही है। इस काल मे छोटे ज्ञान मे ही वृद्धि देखी जाती है। मिथ्यात्व सहित मतिज्ञान, श्रुतज्ञान जीव के ज्ञान को विपरीत बना दिया करते हैं।

इन्द्रिय और मन के द्वारा मतिज्ञान उत्पन्न होता है। "श्रुतं मतिपूर्वम्"—मतिज्ञान पूर्वक श्रुतज्ञान होता है। पूर्व शब्द के विषय में पूज्यपाद स्वामी ने लिखा है कि 'मतिपूर्वम् मतिकारणं'। मति पूर्व का अर्थ है कि मतिज्ञान श्रुतज्ञान का कारण है। श्रुतज्ञान के विषय में गोम्मटसार जीवकाण्ड में यह लक्षण दिया है—

अत्थादो अत्थंतरमुवलंभंत भणंति सुदणाण।
आभिणिबोहिय पुव्वं णियमेणहि सहजं पमुहं ॥३१४॥

मतिज्ञान के विषयभूत पदार्थ से भिन्न पदार्थ के ज्ञान को श्रुतज्ञान कहते हैं। यह नियम से मतिज्ञान पूर्वक होता है। इसके अक्षरात्मक अनक्षरात्मक दो भेद होते हैं।

द्वादशांग जिनवाणी इसी श्रुतज्ञान के अन्तर्गत है।

शंका – आप श्रुतज्ञान को मतिज्ञान पूर्वक कहते है, तब उस श्रुतज्ञान को आप अनादि, निधन कैसे कह सकते हैं ?

उत्तर—"श्रुतमनादिनिधनमिष्यते"—द्रव्यादि सामान्य की अपेक्षा श्रुत को अनादि निधन कहा है। विशेष की अपेक्षा उसका आदि तथा अन्त होने से मतिपूर्वक कहने में बाधा नही है। जैसे अंकुर बीज पूर्वक होता है, वह सन्तान परम्परा मे अनादि निधन है। बीज मे वृक्ष होता है—वृक्ष से बीज होता है. इस प्रकार श्रुत ज्ञान के विषय मे जानना चाहिये।

सबसे जघन्य ज्ञान सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव के उत्पन्न होने के प्रथम समय मे अक्षर के अनन्तवें भाग प्रमाण होता है। उस ज्ञान पर भी यदि ज्ञानावरण द्वारा आच्छादन हो जाय, तो जीव के ज्ञान का अभाव हो जायेगा। इस ज्ञान को पर्याय ज्ञान कहते है। यह ज्ञान सर्वजघन्य 'निरन्तर प्रकाशमान' तथा 'निरावरण' कहा है–

"णिच्चुग्घाड णिरावरणम् (३१९)"

केवली भगवान का ज्ञान निरावरण है, क्योकि उनके ज्ञानावरण कर्म का क्षय हो गया है। यहाँ निगोदिया के ज्ञान को भी निरावरण कहाहै। इसका भाव यह है कि इतने ज्ञान पर कोई आवरण नही आयेगा।

द्वादशांग रूप श्रुतज्ञान मे प्रथम अंग का नाम आचारांग है। इससे आचार विषयक ज्ञान की प्रमुखता प्रगट होती है। एकादशांग के सिवाय चतुर्दश पूर्व जिनागम है। यह बात उल्लेखनीय है कि चतुर्दश पूर्वो मे विद्यानुवाद नामका पूर्व है, जिसमे मन्त्र तन्त्र पूजा विधान आदि का वर्णन है। जो मुनि अंग तथा पूर्वो के ज्ञाता होते हैं, वे मन्त्र तन्त्र के भी ज्ञाता होतेहैं। वीतराग ऋषियो की दृष्टि जीवन शोधन की ओर विशेष रहती है। अत. वे मन्त्रशक्ति का लौकिक उपयोग नही करते। यह कह दिया जाता है कि जैनधर्म मे मन्त्रादि का वर्णन नही है, मिथ्या है। द्वादशांग जिनवाणी समुद्र है। कूपमण्डूक उसे समुद्र रूप मे नही जानते। मुनि ज्ञानी यह पढ़ते हैं—

अरहंत भासियत्थं गणधर देवेहिं गंथियं सम्मं
पणमामि भत्तिजुत्तो सुयणाण महोवहिं सिरसा।

जिसमे अरहंत द्वारा कथित पदार्थ है और जिनकी वाणी को गणधर देव के द्वारा ग्रन्थ रूपता प्रदान की गई सामग्री है, मैं उस श्रुतज्ञानरूपी महान समुद्र को प्रणाम करता हूँ।

संक्षेप मे तो जिनवाणी का सार पूज्यपाद स्वामी ने इष्टोपदेश में इन मार्मिक शब्दों में कहा है

जीवोऽन्य पुद्गलश्चान्य इत्यसौ तत्वसंग्रह.
यदन्यदुच्यते किंचित् साऽस्तु तस्यैव विस्तर. ॥५०॥

जीव भिन्न है। उससे पुद्गल भी भिन्न है। यह तत्त्व का सार है। इसके सिवाय जो अन्य कथन किया जाता है, वह इसका विस्तृत निरूपण है।

श्रुतज्ञान रूप जिनवाणी प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग रूप चार विभाग-युक्त है। महापुराण मे जिनसेन स्वामी ने लिखा है "श्रुतस्कंध के चार महाधिकार वर्णित किये गये हैं। प्रथमानुयोग मे तीर्थंकर आदि सत्पुरुषो के चरित्र का वर्णन है। करणानुयोगमें तीनो लोकों का वर्णन है। मुनियो और श्रावको के शुद्ध चरित्र का निरूपण चरणानुयोग मे है। द्रव्यानुयोग नाम के चतुर्थ महाधिकार मे प्रमाण, नय, निक्षेप, सत्संख्या, क्षेत्र स्पर्शन आदि के द्वारा द्रव्यों का स्वरूप निर्णय किया गया है। [महा पु अध्याय २९८–१०१] ये चारो अनुयोग जिनेन्द्र भगवान के वचनामृत से परिपूर्ण हैं। सम्यग्दृष्टि समस्त जिनवाणी को अपना प्राण और उसे परमपूज्य मानता है। मिथ्यात्व से मलिन बुद्धि अपने स्वच्छन्द जीवन को पोषण करने की सामग्री प्रदान करने वाले किसी एक ग्रन्थ को परमसत्य कहकर शेष जिनागम का असार सोचते है। जब मिथ्यात्व का तीव्र उदय होता है, तब इसी प्रकार की खोटी बुद्धि होती है। जिनेन्द्र भगवान की वाणी का भक्ति, प्रेम, आदर के साथ श्रवण मनन अध्ययन करने वाला भव्य जीव मोक्ष पद को प्राप्त करता है। यह पद्य मार्मिक है—

इह जिणवर वाणि विसुद्धमई जो णियमण धरई
सो सुर णरिंद सपइ लहइ केवलणाण विउत्तरई।

जो विशुद्ध परिणाम वाला व्यक्ति इस जिनवाणी को अपने हृदय में धारण करता है, वह सुरेन्द्र, नरेन्द्र की सम्पत्ति को प्राप्त करते हुए केवल ज्ञान का स्वामी होता है।

ज्ञान का तीसरा भेद अवधिज्ञान है। यह ज्ञान द्रव्य क्षेत्र काल भाव की मर्यादा लिए रूपी पदार्थ का स्पष्ट जानता है। तत्त्वार्थ सूत्र मे कहा है 'रूपिष्ववधे'। जीवकाण्ड गोम्मटसार में लिखा है

अवहीयदित्ति ओही सीमाणाणेत्ति वण्णियं समये
भव–गुण पच्चय विहियं जमोहिणाणेत्ति णं बेंति ॥३६९॥

द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव की अपेक्षा से जिसके विषय की सीमा हो उसको अवधिज्ञान कहते है। इस सीमा ज्ञान भी परमागम मे कहा है। सर्वज्ञ देव ने इसके भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय दो भेद कहे है।

भवप्रत्यय अवधिज्ञान देव नारकी के सिवाय तीर्थंकरो के भी होता है। यह ज्ञान पूर्ण अग मे उत्पन्न होता है। दूसरा भेद गुण प्रत्यय है, जो मनुष्य और तिर्यंचो मे भी पाया जाता है। गुण प्रत्यय अवधिज्ञान नाभि के ऊपर शंख, पद्म, वज्र स्वस्तिक, कलश आदि शुभ चिह्न युक्त स्थान के आत्म प्रदेशो से होता है। इस प्रकार का कथन भवप्रत्यय अवधि के बारे मे नही है।

अवधिज्ञान के देशावधि, परमावधि तथा सर्वावधि तीन भेद होते है। देव–नारकियों के देशावधिज्ञान है। गुणप्रत्यय अवधिज्ञान दर्शन विशुद्धि आदि गुणो के उत्पन्न होने के कारण सार्थक है। जघन्य देशावधि ज्ञान संयमी-असयमी मनुष्यो तथा तिर्यंचो के होता है। उत्कृष्ट देशावधि ज्ञान संयमी जीवो के होता है। परमावधि और सर्वावधि उसी भव से मोक्ष जाने वाले महामुनि के होता है।

ज्ञान का चौथा भेद मन:पर्यय ज्ञान है। उसके विषय में आचार्य नेमिचन्द्र ने इस प्रकार कथन किया है-

चिंतिय-मचिंतिय वा अद्धचिंतिय-मणेय भेयगय
मणपज्जव त्ति उच्चइ ज जाणइ त खु णरलोए ॥४३७॥

जिसका भूतकाल मे चिन्तयन किया हो, जिसका भविष्य मे चिंतवन किया जायेगा, जिसका वर्तमान मे चिंतवन अपूर्ण रूप से किया गया हो इस प्रकार अनेक भेद रूप दूसरे के मन मे स्थित पदार्थ जिसके द्वारा जाना जाय उस ज्ञान को मन.पर्यय ज्ञान कहते है। यह मन पर्यय ज्ञान अढाईद्वीप रूप मनुष्य क्षेत्र मे ही होता है, बाहर नही।

विपुलमति मन पर्यय ज्ञान अत्यन्त महान है। उसको धारण करने वाला नियम से उसी भव से मोक्ष जाता है। गोम्मटसार मे लिखा है ऋजुमति मन: पर्यय ज्ञान वाला दूसरे के मन मे स्थिति सरल पदार्थ को पहले मतिज्ञान के द्वारा जानता है पीछे प्रत्यक्ष रूप से नियम से ऋजुमति मन पर्यय ज्ञान के द्वारा जानता है। कूटनीतिज्ञ और मायाचारी लोगो के मन मे छुपी बात को जानने मे यह ऋजुमति ज्ञान समर्थ नहीं है। यह शक्ति विपुलमति मन पर्यय ज्ञान मे पाई जाती है। वह सभी प्रकार के सरल अथवा कुटिल परिणामों को प्रत्यक्ष रूप से जानता है।

दोनो मन पर्यय ज्ञान द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव की अपेक्षा से रूपी पुद्गल द्रव्य को तथा उसके संबंध से जीव द्रव्य को भी जानते है।

अवधिज्ञान वाला असख्यात द्वीप समुद्रों मे रहने वाले पदार्थों का भी परिज्ञान करता है यह बात मन: पर्यय ज्ञान मे नही है। इस मन पर्यय ज्ञान के द्वारा अढाई द्वीप के भीतर रहने वाले जीवो के मन की बात का परिज्ञान किया जाना है।

ज्ञान का पचम भेद केवलज्ञान है। उसकी महिमा वचनो के अगोचर है। लोक और अलोक के समस्त पदार्थ केवली भगवान के ज्ञानगोचर होते है। महाबध महाशास्त्र के मगलाचरण मे कहा है कि केवलज्ञान सूर्य के समान है। लौकिक सूर्य प्रभात मे उदय को प्राप्त होकर सध्या को अस्तगत हो जाता है। यह केवलज्ञान सूर्य विलक्षण है। मोहनीय कर्म ज्ञानावरण दर्शनावरण और अतराय इन चार घातिया कर्मो के क्षय होने पर यह केवलज्ञान सूर्य उदित होता है। किन्तु यह अस्त को प्राप्त नही होता। आचार्य वचन इस प्रकार है--

तिहुवण-भवण प्पसरिय पच्चक्खबोध-किरण-परिवेढो।
उइओवि अणत्थवणो अरहत दिवायरो जयउ।

त्रिलोक मे व्याप्त प्रत्यक्षज्ञान रूप किरणों से परिवेष्टित तथा उदय को प्राप्त होने हुए भी अस्तगत न होने वाला अरहत दिवाकर जयवत हो।

नियमसार में केवलज्ञान को स्वभाव ज्ञान कहा है। सुमति, सुश्रुत सुअवधि तथा मन पर्यय ये चार क्षायोपशमिक सम्यग्ज्ञान हैं। इनको विभाव सम्यग्ज्ञान कहा है। सम्यग्ज्ञान होते हुए भी ये स्वभाव ज्ञान नहीं है। यही कारण है कि ज्ञानावरण का क्षय होने पर मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान तथा मन.पर्यय ज्ञान का अभाव होकर एक केवलज्ञान सूर्य ही देदीप्यमान होता है। कुमति, कुश्रुत, कुअवधि को विभाव ज्ञान मानने में कोई भी बाधा नही आती है। आठ भेद युक्त ज्ञान मे एक केवलज्ञान ही स्वभाव ज्ञान है। शेष सात ज्ञान विभाव ज्ञान कहे गए है।

स्वामी समन्तभद्रने केवलज्ञान को दर्पण तुल्य 'दर्पणायते' कहा है। इसका कारण यह है कि पदार्थ को प्रकाशित करने की विशेषता दर्पण और केवलज्ञान मे है। किन्तु दोनों में अन्तर है। केवलज्ञान यथार्थ रूप से पदार्थ को प्रकाशित करता है। दर्पण मे जो पदार्थ प्रकाशित होता है यथा अर्थ-जैसा पदार्थ है, वैसा नही प्रकाशित होता है। दर्पण मे देखने वाले का सीधा कान उल्टा कान दिखेगा। लिखी पुस्तक को दर्पण के समक्ष रखने पर अक्षर उल्टे दिखेंगे, अत ज्ञान और दर्पण मे प्रकाशनपना मात्र समान है।

सम्यग्ज्ञान की जब तक सम्यक्चारित्र के साथ मैत्री नही होगी, तब तक निर्वाण का लाभ नही होगा। सर्वार्थसिद्धि के अहमिन्द्र तेतीस सागर पर्यन्त सम्यग्ज्ञान की गगा मे डुबकी लगाते है, किन्तु वे अविरत सम्यक्त्व गुणस्थान मे होने वाला निर्जरा कर पाते है। देशव्रती अल्पज्ञानी श्रावक की निर्जरा उनसे असख्यात गुणी अधिक कही गई है। चारित्र प्राभृत मे कहा है-

सम्मिज्ज-मसखिज्ज गुण च मामारि-मेरु भित्ताण।
सम्मत्त मणुचरता करति दुक्खक्खय धीरा ॥१६॥

जो सम्यक्त्वी चारित्र का पालन करते है, उनकी तथा चारित्र रहित सम्यक्त्वी की निर्जरा मे सरसो और मेरु समान अन्तर है। चारित्र पालने वाले धीर पुरुष समस्त दुःखो का क्षय करते है। तत्वार्थ सूत्र में देशव्रती की निर्जरा अविरत सम्यक्त्वी की अपेक्षा असख्यात गुण श्रेणी कही है। सम्यग्दृष्टि-श्रावक-विरता-नन्त वियोजक-दर्शनमोह-क्षपका-पशान्त मोह-क्षपक-क्षीण मोह जिना क्रमशोऽसख्येय गुण निर्जरा (९-४५। त सू)

ज्ञान की महिमा सर्वत्र स्वीकार की गई है। इस विषय मे जैन आगम मोक्ष के लिये अकेला ज्ञान अकार्यकारी मानता है। ज्ञान के साथ सम्यक्त्व और सम्यक् चारित्र आवश्यक है। सम्यक्त्व रहित ज्ञान मिथ्या रूपता को प्राप्त कर ससार वृद्धि का कारण बन जाता है। वही ज्ञान सम्यक्त्व रूप मे परिणत होकर मोक्ष प्रदाता बन जाता है। प्रवचनसार टीका मे कहा है - सयमशून्यात् श्रद्धानात् ज्ञानाद्वा नास्ति सिद्धि.। मोक्ष प्राप्त करने की क्षमता रत्नत्रय मे है।

कोई २ लोग सोचते है, वीतराग विज्ञानता के द्वारा मुक्ति प्राप्त होती है। यह मान्यता चिन्तनीय है। मोहनीय कर्म का उपशम तथा क्षय होने पर जीव उपशात कषाय क्षीण-कषाय हो जाता है। उसे वीतराग भी कहते है। ग्यारहवे गुणस्थान वाला नीचे गिरता है। वह सराग बन जाता है। राग और द्वेष दोनो कषाय के अन्तर्गत है।

षट्खडागम सूत्र मे उपशान्त कषाय को उवसत कसाय-वीयराय छदुमत्था तथा क्षीण कषाय को खीणकसाय वीयराय छदुमत्था कहा है (सूत्र १८८, १८९ सत्प्ररूपणा)

क्षीण कषाय वीतराग जीव जब तेरहवे गुणस्थान मे पहुँचकर केवलज्ञान रूपी परमज्योति को प्राप्त करता है, तब सयोगकेवली भगवान के वीतरागता के साथ सर्वज्ञता रूप श्रेष्ठ ज्ञान हो जाने से वीतराग की प्राप्ति पूर्ण हो गई। फिर भी तत्काल उन्हे मोक्ष नही प्राप्त होता। वह आत्मा देशोन एक कोटि पूर्व काल तक सयोगी अवस्था मे ससार मे रहता है। अयोगकेवली बनने के बाद योगो का निरोध हो जाने से अइउऋऌ रूप पच लघु अक्षर उच्चारण प्रमाण अल्पकाल मे मोक्ष प्राप्त हो जाता है। पहले श्रेष्ठ चरित्र जिसे परमयथाख्यात चारित्र कहते है, की प्राप्ति नही हुई थी। चौदहवे गुणस्थान मे उस सम्यक्चारित्र के प्राप्त होते ही मोक्ष प्राप्त होता है।

इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वीतराग विज्ञानता के होते हुए भी सिद्ध पद नही मिलता है। यदि वीतराग विज्ञानता के होते ही मोक्ष प्राप्त होता है, तो केवली भगवान की दिव्यध्वनि आदि द्वारा जीवों

का उद्धार कैसे होगा ? सयोग केवली को मुक्त जीव नही कहा है । वे तो संसारी है । जब तो संसारी आत्मा अयोगी जिन की स्थिति को प्राप्त करती है, तब वह अविलम्ब मोक्ष प्राप्त करती है । अत: मोक्ष का जनक सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र है । उपशात कषाय गुणस्थान वाला वीतराग मोक्ष नहीं जाता । जब वह क्षपक श्रेणी पर आरोहरण करता हुआ क्षीण कषाय वीतराग होता है, तो अल्पकाल मे केवली हो जाता है । सयोगी जिन का काल पूर्ण होने पर अयोगी अवस्था प्राप्त होती है, तब क्षण मात्र मे मोक्ष प्राप्त होता है । व्युपरत क्रियानिवृत्ति शुक्ल ध्यान रूप चारित्र का आश्रय ले अयोगी जिन मुक्त होते हैं । सयोगी जिन वीतराग विज्ञानता युक्त होते हुए भी तत्काल मोक्ष नही जाते ।

दंसणमवि चक्खुजुदं अचक्खुजुदमवि य ओहिणा सहियं
अणिधण मणंतविसयं केवलियं चावि पण्णत्तं ।।

दर्शनमपि चक्षुर्युं त मचक्षुर्युं त मपि चावधिना सहित ।
अनिधन मनंत–विषय कैवल्य चापि प्रज्ञप्तम् ।।४२।।

चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन तथा अविनाशी अनत पदार्थों को विषय करने वाला केवलदर्शन आगम मे प्रतिपादित किया गया है ।

विशेष जीव को उपयोग लक्षण युक्त कहा गया है "उपयोगो लक्षण" । उसके दो भेदों मे से ज्ञानोपयोग का प्रतिपादन करने के पश्चात दर्शनोपयोग के भेदो का यहाँ निरूपण किया गया है ।

पदार्थ सामान्य विशेष रूप है । सामान्य सत्तावलोकन रूप वस्तु को ग्रहण करने का नाम दर्शन है । दर्शन का स्वरूप इस प्रकार कहा गया है –

ज सामण्ण गहण जीवाण णेव कट्टु मायार ।
अविसेसिदूण अट्ठे दसणमिदि भण्णदे समये ।।४८१।।

सामान्य विशेषात्मक पदार्थ के विशेष अश का ग्रहण न करके केवल सामान्य अश का जो निर्विकल्प रूप से ग्रहण करता है उसको जिनागम मे दर्शन कहा है । यह दर्शन मोहनीय के अभाव से होने वाले सम्यग्दर्शन से भिन्न है । इस दर्शन मे पदार्थ के सामान्य अश का ग्रहण होता है । यह दर्शन निर्विकल्प है । नेमिचन्द्राचार्य ने इसे "वण्णण–हीण–ग्गहण" - वर्णन रहित अवभास कहा है । चक्षुजन्य मतिज्ञान के पूर्व होने वाले सामान्य प्रतिभास को चक्षुदर्शन कहते है । नेत्र के सिवाय चार इन्द्रियो तथा मन सम्बन्धी मतिज्ञान के पूर्व मे होने वाले सामान्य अवलोकन को अचक्षुदर्शन कहा है । अवधिदर्शन के विषय मे कहा है—

परमाणु–आदियाइ अतिम–खंधत्ति मुत्तिदव्वाइ ।
त ओहि दसण पुण ज पस्सइ ताइ पच्चक्ख ।।४८४।।

अवधिज्ञान होने के पूर्व समय मे अवधिज्ञान के विषयभूत परमाणु से लेकर महास्कन्ध पर्यन्त मूर्तद्रव्य सामान्य रूप से देखता है, उसे अवधिदर्शन कहते है । इस अवधिदर्शन के अनन्तर प्रत्यक्ष अवधिज्ञान होता है । जिस प्रतिभास मे लोक तथा अलोक दोनो का ग्रहण होता है ऐसे प्रकाश को केवलदर्शन कहते हैं ।

द्रव्यसंग्रह मे लिखा है—

दसणपुव्व णाण छदुमत्थाणं ण दुण्णि उवओगा ।
जुगव जम्हा केवलि णाहे जुगवंतु ते दो वि ।।४४।।

छद्मस्थो के दर्शनपूर्वक ज्ञान होता है। ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग एक साथ नही होते। केवली भगवान के ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग एक साथ होते है। वे समस्त पदार्थों के सामान्य और विशेष स्वरूप को एक साथ ग्रहण करते हैं। सम्पूर्ण दर्शनावरण के क्षय होने पर सम्पूर्ण मूर्त और अमूर्त द्रव्य के सामान्य पदार्थ का केवलदर्शन होता है। यह अनन्त विषययुक्त है।

चक्षुदर्शनावरण के क्षयोपशम होने पर तथा चक्षु इन्द्रिय का अवलम्बन प्राप्त कर जो मूर्तद्रव्य को विकलरूप से ग्रहण करता है, उसे चक्षुदर्शन कहते है। अचक्षुदर्शनावरण के क्षयोपशम होने पर चक्षु को छोड़कर शेष चार इन्द्रियो से तथा मन के अवलम्बन से मूर्त तथा अमूर्त द्रव्य को विकल रूप से सामान्य से ग्रहण करना अचक्षुदर्शन है। अवधि दर्शनावरण के क्षयोपशम होने पर मूर्त द्रव्य को विकल रूप से सामान्य से ग्रहण करना अवधिदर्शन है। सम्पूर्ण दर्शनावरण के क्षय होने पर समस्त मूर्त तथा अमूर्त द्रव्य को सामान्य रूप से ग्रहण करना स्वाभाविक केवलदर्शन है।

नियमसार मे (गाथा १३) केवलदर्शन को स्वभाव दर्शनोपयोग कहा है। चक्षु तथा अचक्षु तथा अवधिदर्शन को विभावदर्शन कहा है

तह दसण उवओगो ससहावेदर वियप्पदो दुविहो।
केवल मिंदिय रहिय असहाय त सहावमिदि भणिय ॥१३॥

ण वियप्पदि णाणादो णाणो णाणाणि होंति णेगाणि।
तम्हा दु विस्सरूवं भणियं दवियत्ति णाणीहि ॥

न विकल्पते ज्ञानात् ज्ञानी ज्ञानानि भवंत्यनेकानि।
तस्मात्तु विश्वरूप भणित द्रव्यमिति ज्ञानिभि. ॥४३॥

ज्ञानी ज्ञान से पृथक नही है। मतिज्ञानादि के भेद से ज्ञान अनेक प्रकार है। इस कारण सर्वज्ञ देव ने द्रव्य को अनन्त गुण और पर्यायो का आधार होने से जीव को विश्व रूप कहा है।

विशेष ज्ञान और ज्ञानी मे अभेदपना है। जीव को विश्व रूप कहने का यह अर्थ नही है कि जीव के प्रदेश लोक एव अलोक मे व्याप्त हो जाते है। लोकाकाश के बाहर तो आकाश के सिवाय अन्य द्रव्यो का असद्भाव कहा है। केवली भगवान का ज्ञान लोक और अलोक के लिये दर्पण सदृश है।

जदि हवदि दव्वमण्णं गुणदोय गुणा य दव्वदो अण्णे।
दव्वाणंतिय मधवा दव्वाभावं प कुव्वंति ॥

यदि भवति द्रव्यमन्यद् गुणतश्च गुणाश्च द्रव्यतोन्ये।
द्रव्यानतमथवा द्रव्याभाव प्रकुर्वन्ति ॥४४॥

यदि द्रव्यगुण से भिन्न हो तथा अनन्तगुणो का पुंज द्रव्य से पृथक हो तो द्रव्य अनन्त हो जायेगे। कारण प्रत्येक गुण का आश्रय पृथक-पृथक द्रव्य माना जायगा।

अथवा द्रव्य गुणो का समुदाय है। द्रव्य रूप समुदायी यदि गुण भिन्न हो तो द्रव्य का अभाव हो जायगा।

विशेष द्रव्य के सम्बन्ध मे गाथा दस में ग्रंथकार ने लिखा है "गुण–पज्जासयं दव्वम्" गुण और पर्याय का आश्रय द्रव्य है। जब गुण द्रव्य पर आश्रित है तब द्रव्य से भिन्न अनंत गुणों को आश्रय प्रदान करने के कारण अनंत द्रव्य की संख्या स्वीकार करनी होगी, क्योंकि गुणा हि क्वचिदाश्रित.। यत्राश्रिता: तद्द्रव्यम् — गुणों को कही आश्रय चाहिए, जो उनका आश्रय है उसे द्रव्य कहते है। यदि अनंत गुणो को आश्रय प्रदान करने वाली द्रव्यो की परिकल्पना की जाये तो अनंत गुणो के आश्रय रूप अनंत द्रव्य हो जायेंगे। जीव के ज्ञान गुण की आश्रय भूमि आत्मा होगी। सुख गुण की आश्रय भूमि भी होनी चाहिए। वह भी पृथक आत्मा होगी। इस प्रकार जो–जो गुण द्रव्य का द्रव्य से भिन्न रहेगा, उसकी आश्रय भूमि होने से नवीन–नवीन द्रव्य मानना होगा। इसलिए अमृतचंद्र आचार्य ने कहा है– 'द्रव्यस्य गुणेभ्यो भेदे द्रव्यानतम्" – द्रव्य का गुण से भेद होने से द्रव्यो की संख्या अनंत हो जायेगी।

यदि अभेद पक्ष के स्थान मे सर्वदा द्रव्य और गुण का भेद माना जाये, तो द्रव्य का ही अभाव हो जायेगा। गुणों का समुदाय द्रव्य है। गुण यदि समुदाय से भिन्न है तो वह गुणा का समुदाय किस रूप होगा ? द्रव्य से गुणो का सर्वथा भेद मानने पर द्रव्य का अभाव होगा।

गुणों का समुदाय द्रव्य है। गुण समुदाय रूप द्रव्य मे गुणों का एकांत रूप से भेद मानने पर गुण समुदाय रूप द्रव्य का अस्तित्व नही होगा। इस प्रकार से द्रव्य गुणो मे सर्वथा भिन्नता स्वीकार करने पर बाधा आवेगी।

अविभत्तमणण्णत्तं दव्वगुणाणं विभत्तमण्णत्तं।
णिच्छंति णिच्चयण्हू तव्विवरीदं हि वा तेसिं॥
अविभक्त मनन्यत्वं द्रव्यगुणानां विभक्तमन्यत्वं।
नेच्छन्ति निश्चयज्ञा स्तद्विपरीतं हि वा तेषा ॥४५॥

निश्चय दृष्टि वाले द्रव्य तथा गुणो मे अविभक्तपना एव अनन्यपना मानते हैं। वे द्रव्य और गुणो मे विभक्तपना और अन्यपना स्वीकार नही करते हैं।

विशेष सूक्ष्मता से विचार करने पर यह बात ध्यान मे आयेगी कि द्रव्य और गुण अलग-अलग नही रहते। जैसे जीव द्रव्य के बारे मे विचार करे तो ज्ञान, दर्शन, प्रमेयत्व सुख आदि जो जीव के गुण हैं वे जीव से भिन्न नही पाये जाते। संसारी जीवो मे हम देखते है, जहाँ जीव है वहाँ ही उसके गुण है। यदि जीव से ज्ञान गुण अविभक्त और अनन्य न होता, तो जीव रहित ज्ञान गुण की प्रतीति होती। अनुभव के अनुसार द्रव्य और गुणों मे कथंचित् अभिन्नपना जैन आगम मे स्वीकार किया गया है।

ववदेसा संठाणा संखा विसया य होंति ते बहुगा।
ते तेसिमणण्णत्ते अण्णत्ते चावि विज्जंते॥
व्यपदेशाः संस्थानानि संख्याविषयाश्च भवन्ति ते बहुकाः।
ते तेषामनन्यत्वे अन्यत्वे चापि विद्यन्ते ॥४३॥

द्रव्य तथा गुणो मे व्यपदेश, संस्थान, संख्या तथा विषयों की अपेक्षा बहुत्व पाया जाता है। इससे द्रव्य और गुणो के अनन्यत्व तथा अभिन्नता मे बाधा नही आती, क्योंकि व्यपदेश आदि उनके अन्यपने और अनन्यपने में भी पाये जाते हैं।

विशेष— द्रव्य तथा गुणों में नाम, संस्थान आदि की दृष्टि से कथंचित् भिन्नता भी पाई जाती है। यह भिन्नता द्रव्य और गुणों के बीच में शाश्वतिक विद्यमान अभिन्नता को मानने में बाधक नहीं है।

जीव में ज्ञान, दर्शन, सुख आदि गुण राशि पाई जाती है। ये सभी गुण द्रव्य से अभिन्न हैं, अखण्ड रूप हैं। फिर भी ज्ञान, दर्शन, सुख आदि गुणों की परस्पर में पाई जाने वाली भिन्नता को नहीं भुलाया जा सकता। जहाँ सामान्य दृष्टि से जीव से ज्ञानादि गुणों की एकता अंगीकार की गई है, वहाँ उन गुणों में परस्पर में स्वरूप आदि की अपेक्षा भिन्नता को भी स्वीकार करना उचित है। इसीलिये आगम में द्रव्य तथा गुणों में कथंचित् भिन्नता और कथंचित् अभिन्नता स्वीकार की गई है।

णाण धणं च कुव्वदि धणिणं जह णाणिणं च दुविधेहिं।
भण्णंति तह पुधत्तं एयत्तं चावि तच्चण्हू ॥
ज्ञान धन च करोति धनिनं यथा ज्ञानिनं च द्विविधाभ्यां।
भणंति तथा पृथक्त्वमेकत्व चापि तत्वज्ञाः ॥४७॥

ज्ञान के योग से जीव ज्ञानी कहा जाता है तथा धन के कारण धनी व्यपदेश पाया जाता है। ज्ञानी एवं धनी कथन एकत्व तथा पृथक्त्व को बताता है। यह दोनों दृष्टियों का कथन तत्त्वों के ज्ञाता मुनीन्द्रों ने किया है।

विशेष- धन के सम्बन्ध से धनी शब्द का व्यवहार होता है। धन और धनी दोनों भिन्न हैं। उनमें संयोग सम्बन्ध है। धन का जीव के साथ तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है। ज्ञान और ज्ञानी में जो सम्बन्ध है वह तादात्म्य सम्बन्ध है। ज्ञान से सर्वथा भिन्न ज्ञानी का असद्भाव है। संयोग सम्बन्ध और तादात्म्य सम्बन्ध में भिन्नता है, जीव और ज्ञान में एकत्व स्वीकार किया गया है।

णाणी णाण च सदा अत्थंतरिदो दु अण्णमण्णस्स।
दोण्हं अचेदणत्तं पसजदि सम्मं जिणावमदं ॥
ज्ञानी ज्ञान च सदा अर्थान्तरितो तु अन्यमन्यस्स।
द्वयो रचेतनत्व प्रसजति सम्यक् जिनावमत ॥४८॥

ज्ञानी जीव और उसका ज्ञान गुण सर्वथा पृथक् हो तथा उनमें संयोग सम्बन्ध स्वीकार किया जाये तो ज्ञान और ज्ञानी दोनों अचेतनपन को प्राप्त होंगे यह कथन जिनेन्द्र भगवान की देशना के विपरीत है।

विशेष--जैसे अग्नि का गुण उष्णता उससे पृथक नहीं है इसी कारण अग्नि के द्वारा दाह कार्य सम्पन्न होता है। इसी प्रकार जीव भी ज्ञान से अभिन्न है। ज्ञान शून्य जीव जड़ होगा और जीव से पृथक ज्ञान मानने पर ज्ञान भी चेतनता हीन बन जायेगा। जीव के अस्तित्व का परिज्ञान और निश्चय उसमें पाये जाने वाले तादात्म्य सम्बन्ध युक्त ज्ञान गुण के कारण होता है। जीव का उसके गुणों के साथ अभेद सम्बन्ध माना गया है।

ण हि सो समवायादो अत्थंतरिदो दु णाणदो णाणी ।
अण्णाणोति य वयणं एगत्तप्पसाधगं होदि ।।
न हि सः समवायादर्थांतरितस्तु ज्ञानतो ज्ञानी ।
अज्ञानीति च वचनमेकत्व–प्रसाधकं भवति ।।४६।।

जीव से ज्ञान पृथक् है । वह समवाय सम्बन्ध के कारण ज्ञानी होता है । यह कथन ठीक नहीं है । अज्ञान के साथ एकत्व होने से अज्ञानी यह कथन ज्ञान और ज्ञानी के एकत्व का साधक होता है ।

विशेष अज्ञान के समवाय से अज्ञानी कहना अनुचित है । कारण अज्ञानी मे अज्ञान का समवाय सम्बन्ध मानना व्यर्थ है । अज्ञान के साथ एकत्व होने से अज्ञानी है । इसी प्रकार ज्ञान के साथ एकत्व होने से ज्ञानी कहना उचित है । उनमे समवाय सम्बन्ध की कल्पना करना व्यर्थ है । जब ज्ञान और ज्ञानी अभिन्न हैं तब यह मानना कि ज्ञान का ज्ञानी के साथ समवाय सम्बन्ध है अनुचित है । ज्ञान का ज्ञानी जीव के साथ तादात्म्य संबध है । ज्ञान रहित जीव नही है । जीव के अभाव मे ज्ञान नही है । जीव और ज्ञान में एकात्मपना है ।

समवत्ती समवाओ अपुधब्भूदो य अजुदसिद्धो य ।
तम्हा दव्वगुणाणं अजुदा सिद्धित्ति णिद्दिट्ठा ।।
समवर्तित्व समवायः अपृथग्भूतमयुतसिद्धंच ।
तस्मात् द्रव्यगुणानां अयुता सिद्धिरिति निर्दिष्टा ।।५०।।

द्रव्य तथा गुणो मे विद्यमान अनादि निधन सहवृत्ति को समवाय कहा है । इस समवाय की दृष्टि से गुण और गुणी मे भेद मानते हुए भी वस्तुत्व की अपेक्षा उन्हें अपृथक् रूप कहते है । इसको अयुतसिद्ध भी कहते हैं, क्योंकि गुण और गुणी मे पृथक् रूप से अस्तित्व का अभाव है ।

विशेष- जैन-दृष्टि से ज्ञान और आत्मा मे अनादि निधन सहवृत्ति को समवाय सम्बन्ध कहा है । यह सम्बन्ध तादात्म्यपना रूप है । इसे अयुतसिद्धपना भी कहते हैं, क्योंकि गुण–गुणी मे पृथक्त्व नहीं है । गुण तथा गुणी मे तादात्म्यपना है -

वण्ण रस गंध फासा परमाणु परुविदा विसेसा हि ।
दव्वादो य अणण्णा अण्णत्त पगासगा होंति ।।
वर्ण रस गध स्पर्शः परमाणु प्ररूपिता विशेषा हि ।
द्रव्यतश्च अनन्याः अन्यत्व–प्रकाशकाः भवन्ति ।।५१।।

दंसण णाणाणि तहा जीवणिबद्धाणि णण्णभूदाणि ।
ववदेसदो पुधत्तं कुव्वंति हि णो सभावादो ।।
दर्शनज्ञाने यथा जीवनिबद्धे अनन्यभूते ।
व्यपदेशतः पृथक्त्वं कुरुते हि नो स्वभावात् ।।५२।।

परमाणु में वर्ण, रस, गन्ध तथा स्पर्श रूप गुणों का सद्भाव निरूपण किया गया है। वे वर्ण, रस आदि गुण संज्ञा आदि की भिन्नता से अनन्य रूप होते हुए भी पृथक् रूप कहे जाते हैं। इसी प्रकार जीव में विद्यमान दर्शन और ज्ञान जीव से पृथक् न होते हुए भी संज्ञादि की अपेक्षा पृथक् निरूपण किये जाते हैं। स्वभाव की अपेक्षा वे ज्ञान, दर्शन गुण जीव से अभिन्न हैं।

विशेष- परमाणु वर्ण, रूप आदि की अपेक्षा उनसे अभिन्न है किन्तु संज्ञा आदि की अपेक्षा उन्हें द्रव्य से कथंचित् भिन्न भी कहते है। इसी प्रकार ज्ञान दर्शन जीव से अभिन्न है, किन्तु संज्ञा लक्षण आदि की अपेक्षा कथंचित् भिन्न भी है।

जीवा अणाइ णिहणा संता णंता य जीवभावादो ।
सब्भावदो अणंता पंचग्गगुणप्पधाणा य ॥

जीवा अनादि-निधनाः सांता अनंताश्च जीवभावात् ।
सद्भावतोऽनंता पचाग्र-गुण-प्रधानाः च ॥५३॥

जीव अपने पारिणामिक भावों की अपेक्षा अनादि अनन्त है, क्योंकि उसके जीवत्व रूप पारिणामिक भाव सदा पाया जाता है। अपने औदयिक क्षयोपशमिक तथा औपशमिक भावो की अपेक्षा सादि तथा सान्त है। क्षायिक भाव की अपेक्षा जीव सादि तथा अनन्त है। जीव स्वभाव से शुद्ध है यह निश्चयनय की अपेक्षा कहा गया है। अनादि काल से कर्मों से बद्ध होने के कारण जीव के औदयिक आदि पच भाव प्रधान रूप से कहे गये हैं।

विशेष— तत्त्वार्थसूत्र मे औपशमिक, क्षायिक, मिश्र, औदयिक तथा पारिणामिक रूप पाँच भावो को जीव का स्वतत्त्व कहा है "औपशमिक-क्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्व-मौदयिकपारिणामिकौ च।" (सूत्र १ अध्याय २) इन पच भावो मे पारिणामिक भाव को अनादि-निधन कहा है। क्षायिक भाव को सादि तथा अनत कहा है। औपशमिक, औदयिक, क्षयोपशमिक भाव सादि एव सान्त हैं।

नियमसार मे कहा है

णो खइय-भाव-ठाणा णो खउवसम-सहाव ठाणा व ।

ओदइ भाव ठाणा णो उवसमणे सहावठाणा वा ॥४१॥

कर्मोपाधि रहित शुद्ध जीव मे क्षायिक भाव स्थान, क्षयोपशम भाव स्थान, औदयिक भाव स्थान, उपशम भाव स्थान नही है।

शका यहाँ गाथा मे क्षायिक भाव को सादि-अनत माना है, कारण केवलज्ञानावरण रूप भाव कर्मों के क्षय होते है। उत्पन्न होने से सादि हैं और इनका अत न होने से इन्हे अनत कहा है। नियमसार मे कहा है—जीवस्स णो खइय भाव ठाणा, जीव के क्षायिक भाव स्थान नही कहा है। यह कथन पूर्वापर विरोधी है।

समाधान एकान्तवाद मे विरोध आता है। सापेक्ष कथन द्वारा विरोध का निराकरण होता है। आचार्य नेमिचद्र ने द्रव्यसग्रह मे कहा है "सव्वे सुद्धाहु सुद्ध णया" (१३) शुद्धनय अर्थात् शुद्ध निश्चय की अपेक्षा संसारी जीव भी शुद्ध हैं। कर्म रहित क्षायिक भाव कर्म क्षय की अपेक्षा रखता है। जब शुद्ध दृष्टि की

अपेक्षा सभी सिद्ध हैं । अभव्य भी सिद्ध हैं । कर्म बद्ध कोई नहीं है, तब कर्म क्षय जनित भाव भी नहीं माना जायगा । इस प्रकार वस्तुस्थिति है ।

पंच परावर्तन रूप ससार में परिभ्रमण करने वाले ससारी जीव के कर्म क्षय होने पर जो भाव होता है, वह क्षायिक भाव है । इसी अपेक्षा से जीव के औपशमिक, तथा क्षायोपशमिक भाव कहे गये हैं ।

एवं सदो विणासो असदो जीवस्स होइ उप्पादो ।
इदि जिणवरेहिं भणिदं अण्णोण्ण-विरुद्ध-मविरुद्धं ।।
एव सतो विनाशोऽसतो जीवस्य भवत्युत्पादः ।
इति जिनवरै र्भणितमन्योन्य -विरुद्ध—मविरुद्धम् ।।५४।।

इस प्रकार पंचभाव परिणत जीव के कदाचित् औदयिक भाव की दृष्टि से मनुष्य की मनुष्यत्व आदि पर्याय का विनाश होने से सत् का विनाश तथा देवत्व आदि के उत्पाद की अपेक्षा असत् का उत्पाद होता है,इस प्रकार कथचित् सत् का क्षय और असत् का प्रादुर्भाव जिनेन्द्र द्वारा कहा गया है ।

विशेष- शका यहाँ सत् का विनाश और असत् का उत्पाद कहा । यह कथन ग्रन्थ में पूर्वोक्त गाथा न १५ से विपरीत पड़ता है—

भावस्स णत्थि णासो णत्थि अभावस्य चेव उप्पादो ।
गुणपज्जएसु भावा उप्पाद—वए – पकुव्वन्ति ।।

उत्तर- -सम्पूर्ण पदार्थ स्याद्वाद की मुद्रा से अंकित है । इस प्रकाश मे विरोध का परिहार होता है । द्रव्यदृष्टि से परिवर्तन होते हुए भी मूल वस्तु रही आती है । सुवर्ण के ककण का विनाश तथा अन्य आभू-षण का उत्पाद होते हुए सुवर्ण का सद्भाव दोनो अवस्थाओ में विद्यमान रहता है । इसी प्रकार पर्यायों के उत्पन्न और विनष्ट होने पर सत् के अविनाशीपन को बाधा नही आती ।

षट्खण्डागम के बधसामित्तविचय खण्ड मे लिखा है—दव्वट्ठियणयम्मि संताण पज्जायाण कधमभावो? को भणदि तेसिं तत्थाभावोत्ति, किन्तु ते तत्थ अप्पहाणा अविवक्खिया अणप्पिया इदि तेसिं दव्वत्तमेव ण तत्थ पज्जायत्त ।

प्रश्न जो पर्याय विद्यमान हैं, उनका द्रव्यार्थिक नय से किस प्रकार अभाव हो जाता है ?

उत्तर-- उन पर्यायो का अभाव कौन कहता है । वे पर्याय विद्यमान रहती हैं किन्तु उनको अप्रधान, अविवक्षित, अनर्पित किये जाने से उनको द्रव्यत्व रूपता प्राप्त होती है । उस समय पर्याय रूपता नही है ।

तत्त्वार्थसार मे कहा है— सामान्य, अन्वय, उत्सर्ग ये शब्द गुण के वाचक हैं । व्यतिरेक, विशेष और भेद पर्याय के वाचक हैं । गुणो के बिना द्रव्य नही होता । द्रव्यो के बिना गुण नही होत । इसीलिए द्रव्य और गुणमे अभिन्नता पायी जाती है । पर्याय के बिना द्रव्य नही होती । बिना द्रव्य के पर्याय नही होती । इस कारण महर्षियो ने द्रव्य और पर्यायों मे अभिन्नता मानी है ।

आचार्य कहते हैं—

न च नाशोऽस्ति भावस्य न चाभावस्य सम्भव ।
भावाः कुर्युर्व्ययोत्पादौ पर्यायेषु गुणेषु च ।।१३।।

पदार्थ का नाश नही होता । जिसका अभाव है, उसकी उत्पत्ति नही होती । पदार्थ के गुण और पर्यायो मे व्यय और उत्पाद पाया जाता है । ये द्रव्य नित्य कहे गये है क्योंकि इनमे तद्भावपने का विनाश नहीं होता । पदार्थ मे यह वही है इस प्रकार का प्रत्यभिज्ञान का कारणपना तद्भाव है । (१०–१४)

द्रव्य दृष्टि से सत् का विनाश और उत्पाद नही होता । पर्याय की अपेक्षा सत्‌का विनाश एव उत्पाद माना है । इसकी सत्यता सबके अनुभवगोचर है ।

णेरइय-तिरिय-मणुआ देवा वि णामसंजुवा पयडी ।
कुव्वंति सदो णासं असदो भावस्स उप्पाद ।।
नारक–तिर्यङ्‌ मनुष्या देवा इति नाम सयुताः प्रकृतयः ।
कुर्वन्ति सतो नाश मसतो भावस्योत्पादम् ।।५५।।

नारकी, तिर्यञ्च, मनुष्य तथा देव नाम कर्म की प्रकृतियो की अपेक्षा सत् का नाश तथा असत् रूप भाव का उत्पाद कहा है ।

विशेष– सरोवर मे एक जगह हमे सत् का नाश, असत् का उत्पाद और उत्पाद विनाश रहित सत् का स्वरूप उपलभ्यमान होता है । पवन का सचार होने पर लहरो का उत्पाद तथा लहरो का व्यय दिखाई देता है । इन अवस्थाओ के मध्य जलराशि की दृष्टि से नित्यता भी दृष्टिगोचर होती है । स्याद्वाद पक्ष श्रेयस्कर है ।

आचार्य जयसिह नदि ने 'वरागचरित्र' मे स्याद्वाद के बारे मे कहा है–

मणय पद्मरागाद्या पृथगत पृथक स्थिता
रत्नावलि सज्ञा ते न विंदन्ति महर्घिण । ६१ ।
यथैव कुशलैरेन्ते यथास्थाने नियोजिता
रत्नावल्यो हि कथ्यन्ते प्रत्येकाख्या त्यजन्ति ते । ६२ ।

पद्मरागादि मणि अलगर रहते हुए रत्नावली रूप बहुमूल्य सज्ञा को नही प्राप्त करते । जैसे कुशल व्यक्ति के द्वारा ये मणि यथायोग्य स्थान पर रखकर माला रूपता को प्राप्त होते है, उस समय इन्हे रत्नावली कहते है । उन रत्नो के जुदे–जुदे नामो का परित्याग हो जाता है ।

तथैव च नया सर्वे यथार्थं विनिवेशिता
सम्यक्त्वाख्या प्रपद्यन्ते प्राक्तनी सत्यजन्ति च ।।६३।।

इसी प्रकार सम्पूर्ण नय रूप दृष्टियाँ वस्तु स्वरूप के अनुसार होने पर सम्यक्त्व स्वरूपता को प्राप्त करती है तथा पूर्व की भिन्नता का परित्याग करती है ।

यहाँ ग्रन्थकार ने सत् का नाश नही होना और असत् का उत्पाद नही होता । इसके विपरीत दूसरी अपेक्षा का कथन किया है, कि देवादि गति नाम कर्म के भेद है उनमे देखा जाता है,कि मनुष्य पर्याय का व्यय होकर देव पर्याय का उत्पाद होता है । स्याद्वाद दृष्टि भिन्नता मे मैत्री स्थापित करती है ।

उदयेण उवसमेण य खयेण दुहि मिस्सिदेहि परिणामे ।
जुत्ता ते जीवगुणा बहुसु य अत्थेसु विच्छिण्णा ।
उदयेनोपशमेन च क्षयेण च द्वाभ्यां मिश्रिताभ्या परिणामेन
युक्तास्ते जीवगुणा बहुषु चार्थेषु विस्तीर्णाः ।।५६।।

उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम तथा परिणाम से युक्त औदयिक औपशमिक, क्षायिक, क्षयोपशमिक तथा परिणामिक ये जीव गुण (भाव) अनेक अर्थों मे विस्तार पूर्वक कहे गये हैं।

कर्मों के उदय से औदयिक भाव होता है। उपशम से औपशमिक भाव, क्षय से क्षायिक भाव, जो कर्मों के क्षयोपशम से हो उसको क्षायोपशमिक भाव कहते हैं। जो उपशम, क्षय, क्षयोपशम वा उदय की अपेक्षा न रखता हुआ जीव का स्वभाव मात्र हो उसको पारिणामिक भाव कहते हैं। भव्य जीव के पाँचों भाव होते है। अभव्य के औपशमिक और क्षायिक भाव नही होते।

औदयिक भाव बध का कारण है। औपशमिक, क्षायोपशमिक तथा क्षायिक भाव मोक्ष के कारण हैं। पारिणामिक भाव न मोक्ष का कारण है न बध का।

भाव त्रिभंगी मे श्रुत-मुनि ने यह पद्य उद्धृत किया है -

मोक्ष कुर्वंति मिश्रौपशमिक-क्षायिकाभिधा।
बधमौदयिका भावा निःक्रिया पारिणामिकाः ।।पृ. २३४।।

मिश्र, औपशमिक, क्षायिक भाव मोक्ष के कारण है। औदयिक भाव बध का हेतु है। पारिणामिक भाव की बध तथा मोक्ष मे हेतुता नही है।

आचार्य वीरसेन ने जयधवला टीका मे आगम की यह गाथा दी है—

ओदइया बधयरा उवसम-खय-मिस्सया य मोक्खयरा।
भावोदु पारिणामओ करणो भय-वज्जिओ होई ।। १ ।।

औदयिक भाव बध के कारण है। उपशम, क्षय तथा क्षयोपशम भाव मोक्ष के कारण हैं। पारिणामिक भाव बध और मोक्ष का कारण नही है।

शका जो क्षायोपशमिक भाव अभव्य के होता है, उसे मोक्ष का कारण कैसे कहा जायगा ?

समाधान क्षायोपशमिक भाव के विषय मे यह बात ज्ञातव्य है कि उसके इस प्रकार अठारह भेद कहे हैं। चार सम्यक् ज्ञान-सुमति, सुश्रुत, सुअवधि तथा मन पर्यय ज्ञान, तीन अज्ञान-कुमति, कुश्रुत, कुअवधि, चक्षु, अचक्षु और अवधि दर्शन तीन दर्शन, पाँच लब्धि-दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य सम्यक्त्व और चारित्र सयम तथा असयम य अठारह भेद क्षायोपशमिक भाव के है। इन भावो मे सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र, देशसयम, चार सम्यक्ज्ञान य सम्यक्त्वी के ही होते है, इसीलिये इनकी अपेक्षा क्षायोशमिक भाव को मोक्ष का हेतु परमागम मे निरूपण किया गया है। ये भाव अभव्य मे नही है। अन्य भाव है।

सम्यग्दृष्टि के इस काल मे धर्म ध्यान रूप क्षायोपशमिक भाव कहा है। महापुराणकार ने धर्मध्यान का कथन करते हुए कहा है कि उस ध्यान युक्त जीव के क्षायोपशमिक भाव होता है। "क्षायोपशमिक भाव स्वसात्कृत्य विजृम्भितम्।" (सर्ग २१-१५७) यह धर्मध्यान क्षायोपशमिक भाव को स्वाधीन करता हुआ वृद्धि को प्राप्त होता है। धर्मध्यान रूप भाव मोक्ष का कारण कहा गया है 'परे मोक्षहेतू' (तत्त्वार्थ सूत्र अ. ९) धर्मध्यान और शुक्लध्यान मोक्ष के कारण है। इससे यह बात ज्ञात होती है कि क्षायोपशमिक भाव सहित धर्मध्यान युक्त जीव के परिणाम मोक्ष के कारण है।

जिनसेन स्वामी ने लिखा है—

स्वर्गापवर्ग-सम्प्राप्ति फलमस्य प्रचक्षते।
साक्षात् स्वर्ग-परिप्राप्ति पारम्पर्यात परम्पदम् ।। (म. पु. २१-१६३)

क्षायोपशमिक भाव वाले जीव के धर्मध्यान का फल स्वर्ग तथा मोक्ष की प्राप्ति कहा है। स्वर्ग की प्राप्ति तो साक्षात् फल है तथा मोक्ष की प्राप्ति परम्परा फल है। क्षायोपशमिक भाव वाला धर्मध्यानी व्यक्ति के अविरत, देशविरत, प्रमत्त, अप्रमत्त, सयत गुणस्थान कहे गये हैं। इन गुणस्थानों में क्षायोपशमिक भाव का सद्भाव परमागम मे माना है। गोम्मटसार मे आचार्य नेमिचन्द्र ने कहा है-

देस विरदे पमत्ते इदरे य खओ–समियव–भावो दु।
सो खलु चरित्त मोहं पडुच्च भणिय तहा उवरिं ॥ (१३)

देशविरत, प्रमत्त–अप्रमत्त गुणस्थानो मे क्षायोपशमिक भाव है। यह कथन चारित्र मोहनीय की अपेक्षा किया है। आगामी गुणस्थानो का कथन भी कहेंगे। अविरत सम्यकत्वी के दर्शन मोहनीय की अपेक्षा औपशमिक, क्षायिक तथा क्षायोपशमिक ये तीन भाव कहे हैं– "अविरद सम्मम्मि तिण्णेव (११)"

इस विवेचन से यह बात स्पष्ट होती है कि सम्यक्दर्शन सहित क्षायोपशमिक भाव मोक्ष का कारण है। मिथ्यादर्शन, कुज्ञान आदि से युक्त क्षायोपशमिक भाव मोक्ष का कारण नही होगा।

शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा जीव के कर्मनिमित्तक औपशमिक, क्षायोपशमिक, औदयिक भाव कहे हैं कर्मों के क्षय से उत्पन्न होने वाला मोक्ष का हेतु क्षायिक भाव कहा है। पारिणामिक भाव का बध तथा मोक्ष हेतु कोई सम्बन्ध नही है।

जयसेन टीका मे यह कथन उद्धृत किया गया है–
मोक्ष कुर्वन्ति मिश्रौपशमिक–क्षायिकाभिधा.।
बधमौदयिका भावा निष्क्रिया पारिणामिका।

मिश्र औपशमिक तथा क्षायिक भाव मोक्ष प्रदाता है। औदयिक भाव बध का कारण है। पारिणामिक भाव निष्क्रिय है।

कम्मं वेदयमाणो जीवो भावं करेदि जारिसयं।
सो तेण कत्ता हवदित्ति य सासणे पढिद ॥
कर्म वेदयमानो जीवो भाव करोति यादृशक।
स तेन तस्य कर्ता भवतीति च शासने पठित ॥५७॥

पूर्वोपार्जित ज्ञानावरणादि कर्मों के उदय काल मे उनके फल का अनुभव करने वाला जीव जिस प्रकार के परिणामो को करता है, वह उन भावों का कर्त्ता है। इस प्रकार परमागम मे कहा है।

विशेष - जीव अपने परिणामों के अनुसार कर्मों का बध करता है। जब उन कर्मों का उदय आता है, तब उन कर्मों का फल भोगने वाले जीव के कर्मोदय के काल मे जिस प्रकार के भाव होते है उस प्रकार आगामी कर्मों का बध होता है। यदि कर्मों के उदयकाल मे अशुभ परिणाम हुए तो पाप का बध होगा। यदि शुभ परिणाम हुए, तो पुण्य का बध होगा और यदि राग-द्वेष रहित साम्यभाव हुए तो पूर्व बंधे कर्मों की निर्जरा तथा पाप का सवर होगे।

पाण्डवो पर मुनि अवस्था मे जब घोर उपसर्ग किया गया था तथा अग्नि मे पूर्णरूप से सतप्त लोहमयी आभूषण दुष्ट विरोधियो ने पहनाये थे उस अशुभ कर्म के उदयकाल मे उन्होने समताभाव को धारण किया था। विशुद्ध समता के प्रसाद से युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन इन तीन महामुनियो ने शत्रुञ्जयगिरि से मोक्ष

प्राप्त किया था। नकुल और सहदेव दो मुनिबन्धुओं के परिणामों मे कुछ न्यूनता होने के कारण वे सर्वार्थसिद्धि पहुँचे। जीव ने जो कर्म बांधे हैं, उनका उदय आये बिना नही रहता। तीर्थंकर पार्श्वनाथ भगवान के अशुभोदय वश कमठ के जीव पापी संवर नामके देव ने महाभीषण वर्षा, प्रचण्ड पवन तथा वज्रपात द्वारा जो भयंकर उपद्रव किया था वह तपस्वी-शिरोमणि पार्श्वप्रभु के साम्यभाव को क्षति नहीं पहुँचा सका। समन्तभद्र स्वामी ने लिखा है कि उस भीषण उपसर्ग के समय "महामनायो न च चाल योगतः" (१३१ स्वयंभू) महान् मनोबल धारण करने वाले प्रभु पार्श्वनाथ अपने साम्य योग से विचलित नहीं हुए। वे शान्ति और साम्यभाव की मूर्ति रहे। इस प्रकार मोक्ष जाने वाली महान आत्माएँ कर्मोदयकाल में अपना मानसिक सन्तुलन बनाये रखती है। समाधिमरण पाठ में निर्मल परिणाम वाले पाण्डवो के विषय मे लिखा है—

लोहमयी आभूषण गढके ताते कर पहराये।
पाँचो पाण्डव मुनि के तन मे तो भी नाहिं चिगाये॥
यह उपसर्ग सह्यो धर थिरता आराधना-चितधारी।
तो तुमरे जिय कौन दुःख है मृत्यु-महोत्सव भारी॥

इससे यह बात स्पष्ट होती है, कि कर्मों के फलो का अनुभव करने के समय जिस प्रकार जीव के परिणाम होते हैं उस प्रकार कर्मों का बंध, संवर, निर्जरा हुआ करती है।

जिन ने आत्मा को सर्वथा अबद्ध मान लिया है उनके भ्रम का इस कथन से निवारण होता है क्योंकि यहाँ कुन्दकुन्द स्वामी ने कर्म बद्ध जीव के कर्मों के उदय के विषय में निरूपण किया है। आत्मा सर्वथा अबद्ध नही है, वह आगमवाक्य मानना चाहिये।

कम्मेण विणा उदयं जीवस्सण विज्जदे उवसमंवा।
खइयं खओव समियं तम्हा भावं तु कम्मकदं॥
कर्मणा विनोदयो जीवस्य न विद्यते उपशमोवा।
क्षायिक क्षायोपशमिकस्तस्माभ्दावस्तु कर्मकृतः॥५८॥

कर्म के बिना जीव के उदय, उपशम, क्षय तथा क्षयोपशम नही पाये जाते, इस कारण औदयिक, औपशमिक, क्षायिक तथा क्षायोपशमिक भाव कर्मकृत हैं। पारिणामिक भाव अनादि-निधन होने से स्वाभाविक है।

विशेष प्रश्न क्षायिक भाव कर्मों के क्षय से होता है। उसे कर्मकृत् क्यों कहा है ?

उत्तर "क्षायिकस्तु स्वभाभिव्यक्तिरूपत्वादनंतोपि कर्मण क्षयेनोत्पद्यमानत्वात्सादिरिति कर्मकृत एवोक्तः"—क्षायिक भाव स्वभाव की अभिव्यक्ति रूप होने से वह अनत है। कर्म के क्षय से वह उत्पन्न होता है, इसलिए वह सादि है और उसे कर्मकृत् कहा है। शुद्ध निश्चयनय से आत्मा के बंध का अभाव है इसलिए कर्मों का सद्भाव नही है। जब कर्म ही नही है तो कर्मों के क्षय से उत्पन्न क्षायिक भाव कैसे होगा ? इसलिए इस नय की अपेक्षा नियमसार मे लिखा है कि "जीवस्स णो खइय भावठाणा" (४१) जीव के क्षायिक भाव रूप स्थान नही है।

प्रश्न— शुद्ध निश्चयनय के अनुसार यदि वस्तु स्वरूप को सर्वथा शुद्ध मान लिया जाये तो क्या बाधा है ?

उत्तर– व्यवहारनय के अस्तित्व को अस्वीकार करने वाली दृष्टि को ही पूर्ण सत्य का प्ररूपक मानने पर अदभुत मान्यताओं का उदय होगा। हिमालय पर्वत, शिखर जी, समुद्र, सूर्य, चन्द्र, तारे निश्चय-नय में अपना अस्तित्व खो बैठते हैं क्योंकि वह नय परमाणु को ही परमार्थ मानता है। वह स्कंध की सत्ता को अस्वीकार करता है। उसके अनुसार अभव्य को भी सिद्ध मानना होगा। अल्पज्ञ को निश्चयनय केवलज्ञानी कहता है। वह हाथी, घोडा, बैल, वराह आदि को भगवान् स्वीकार करता है। वेदना से छटपटाते और तड़फते हुए दुःखी और रोते हुए व्यक्ति को यह नय कहता है कि वह बिल्कुल दुःखी नहीं है अनंत सुखी है। उसके पास आनंद का भण्डार है। ऐसी मान्यता लोक में उपहास पूर्ण है और जैन संस्कृति की अनुभव समर्थित मान्यताओं का मूलोच्छेद करती है। इसलिए आचार्यों ने निश्चय और व्यवहार दोनों नयों के प्रतिपादनों को सत्य स्वीकार किया है। दोनों नयों में जब मैत्री होती है, तब सत्य का दर्शन होता है। परमाणु को ही सत्य मानने वाली निश्चय दृष्टि हिमालय जैसी महान वस्तु को मानने से इंकार करती है किंतु व्यवहारनय उस दृष्टि की सहायता करता है। वह कहता है मेरी अपेक्षा हिमालय, शिखरजी, सूर्य, चंद्र आदि सभी पदार्थ सत्य है। जिनवाणी के व्यवहारनय और निश्चयनय दोनों युगल पुत्र है। दोनों सर्वज्ञ प्रतिपादित तत्त्व को मानते हैं।

इस प्रकाश में जहाँ क्षायिक भाव को कर्मकृत् कहा वह कथन उतना ही सत्य है, जितना कि यह कथन कि आत्मा में क्षायिक भाव नहीं हैं। दोनों दृष्टियाँ परस्पर में सापेक्ष होकर हमें सत्य के समीप पहुँचाती है।

समयसार में कुंदकुंद स्वामी ने कहा है कि--

कम्मं बद्धमबद्धं जीवे एवं तु जाण णयपक्खं।
पक्खातिक्कतो पुणभण्णदि जो सो समयसारो ॥१४२॥

जीव में कर्म बंधे हैं। यह एक नय का कथन है। दूसरा नय जीव को कर्म बंधन से रहित मानता है। किंतु जो शुद्ध समयसार रूप ज्ञान है वह बद्ध और अबद्ध पक्षों की मान्यता न देता हुआ पक्षों से अतिक्रांत मानता है। वह दोनों पक्षों (विकल्पों) से रहित है। 'णयपक्ख परिहीणो' (१४३) असली समयसार न व्यवहार दृष्टि में है, न निश्चय दृष्टि में। दोनों प्रकार का तत्त्व चिंतन श्रुतज्ञान में संबंधित है। केवलज्ञान उत्पन्न होने पर श्रुतज्ञान का अभाव हो जाता है। इसलिए निश्चय दृष्टि और व्यवहार दृष्टि रूप श्रुतज्ञान का भी अभाव स्वयं सिद्ध होता है। कुंदकुंद स्वामी ने लिखा है–

सव्वणय पक्ख रहिदो भणिदो जो सो समयसारो ॥१४४॥

सम्पूर्ण नय पक्षों से रहित है, वह समयसार है। इस कारण जिनवाणी के तत्त्व को ठीक रूप से समझने के लिए सत्य का द्वार खोलने वाली स्याद्वाद रूपी चाबी आवश्यक है।

गौतम गणधर ने व्यवहारनय को बहुत जीवों का कल्याण करने वाला कहा है (बहुजीव अणुग्गहकारी)। वे मुनीन्द्र यह भी कहते हैं–'सोचेव समस्सिदव्वो' उस व्यवहारनय का अवलंबन लेना चाहिए और मैं भी उस व्यवहारनय का आश्रय लेता हूँ। इस कथन से एकांतवाद की अंधियारी दूर हो जानी चाहिए। तब ही तत्त्वज्ञान का अमृत रस पान करने का आनंद मिलेगा। विवेकी व्यक्ति सन्मार्ग का धारण ग्रहण करता है दुराग्रही सत्पथ से विमुख रहता है।

भावो जदि जीवकदो अत्ता कम्मस्स होदि किध कत्ता ।
ण कुणदि अत्ता किंचिवि मुत्ता अण्णं सगं भावं ।।

भावो यदि कर्मकृत. आत्मा कर्मण: भवति कथं कर्ता ।
न करोत्यात्मा किंचिदपि मुक्त्वान्य स्वकं भावं ।।५६।।

यदि औदयिक भाव आदि कर्म के द्वारा किये गये हैं तो आत्मा कर्मों का कर्त्ता कैसे कहा जाएगा ? जीव अपने आत्म स्वभाव को छोडकर अन्य को नही करता है ।

विशेष औदयिक आदि भाव कर्मों के फल है । उन्हे कर्मकृत कहते हैं । इसलिए उन भावो का कर्त्ता जीव को नही कहा जा सकता है । वास्तविक दृष्टि से जीव अपने स्वभाव के सिवाय अन्य भावों का कर्त्ता नही है । इस विषय मे द्रव्यसग्रह का यह विवेचन विषय को स्पष्ट करता है--

पुग्गल कम्मादीण कत्ता ववहारदो दु णिच्चयदो ।
चेदण कम्माणादा सुद्धणया सुद्धभावाण ।।८।।

व्यवहारनय से आत्मा पुद्गल कर्मों का कर्त्ता है । अशुद्ध निश्चयनय से रागादि भाव कर्मों का कर्त्ता है । शुद्ध निश्चयनय से वह शुद्ध भावो का कर्त्ता है ।

स्याद्वाद शासन की यह अपूर्वता है, कि इसमें समन्वयभाव पूर्वक विविध दृष्टि से तत्त्व का समीक्षण हुआ है ।

भावो कम्मणिमित्तं कम्मं पुण भावकारणं हवदि ।
ण दु तेसिं खलु कत्ता ण विणा भूदा दु कत्तारं ।।

भाव. कर्म निमित्तं ! कर्म पुनर्भाव कारण भवति ।
न तु तेषा खलु कर्त्ता न बिना भूतास्तु कर्त्तार ।।६०।।

द्रव्य कर्म जीव के रागादि भावो मे निमित्त कारण है तथा रागादि भाव द्रव्य कर्म मे निमित्त कारण है । द्रव्यकर्म और भावो मे उपादान रूप कर्त्तापना नही है । वे द्रव्य कर्म और रागादि भाव कर्म अपने–अपने उपादान कर्त्ता के बिना नही है ।

विशेष- जीव के रागादि परिणाम और द्रव्य कर्मो मे परस्पर मे उपादानरूप कर्त्तापने का अभाव है, किन्तु निमित्तपने का अभाव नही है । द्रव्य कर्म रागादि भावो मे निमित्तकारण है । रागादि भाव द्रव्य कर्म मे निमित्त कारण हैं । भिन्न पदार्थों में उपादान उपादेय सम्बन्ध नही पाया जाता । वे भिन्न पदार्थ अपने उपादान से सम्बन्धित हैं । इसीलिये जीव के रागादि भाव द्रव्य कर्म मे उपादान कारण नही है । द्रव्य कर्म जीव के रागादि भावो में उपादान कारण नही है । जीव के रागादि भावो का उपादान कारण जीव है । पुद्गल कर्मों का उपादान कारणपना पुद्गल द्रव्य में है । यहाँ द्रव्य कर्म और रागादि भावो मे उपादन कर्त्तापने का निषेध किया है ।

पदार्थ का समुद्भव उपादान तथा निमित्त कारण युगल द्वारा होता है । मृत्तिका रूप उपादान द्वारा घट बना । वह मृत्तिका पिण्ड पर्याय का परित्याग कर घट रूप हुई । कुभकार चक्रादि सामग्री का योग न दे, तो घट का निर्माण नही होगा । कुभकार आदि निमित्त रूप साधन मृत्तिका के समान घट रूप नही

बनते, किन्तु यह बात भी ध्यान मे रहनी चाहिये, कि उपादान और निमित्त की मैत्री से घट प्राप्त हुआ। दोनों की सापेक्षता न होने पर घट नही प्राप्त होगा, इसी प्रकार द्रव्य कर्म पुद्गल रूप है, वह भाव कर्म का निमित्त कारण है। भाव कर्म भी द्रव्यकर्म का निमित्त कारण है, यह आर्षवाणी आदरणीय है।

कुव्वं सगं सहाव अत्ता कत्ता सगस्स भावस्स ।
न हि पोग्गल कम्माण इदि जिणवयणं मुणेयव्वं ।।

कुर्वन् स्वकं स्वभाव आत्मा कर्त्ता स्वकस्य भावस्य ।
न हि पुद्गल–कर्मणामिति जिनवचनं ज्ञातव्य ।।६१।।

आत्मा अपने चैतन्य भावो को करता हुआ अपने निज भावो का कर्त्ता है। निश्चयनय से वह आत्मा पुद्गल कर्मों का कर्त्ता नही है। ऐसा जैनागम का कथन जानना चाहिए।

विशेष यहाँ जीव पुद्गल कर्मों का उपादान कारण नहीं है। वह जीव अपने चेतन भावो का कर्त्ता है यह निश्चय दृष्टि से कहा गया है जीव और कर्मों मे निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध माना है। जीव सचेतन हैं। कर्म अचेतन पुद्गल है। उनमे उपादान उपादेयपना मानना अनुचित है यह जिनवाणी की देशना है। कभी उपादान की मुख्यता मे कथन किया जाता है, कभी निमित्त को मुख्यता प्रदान की जाती है। जो दृष्टि मुख्य होती है, वह अन्य दृष्टि को गौण रूपता प्रदान करती है। एकान्त पक्ष वालो का समंतभद्र स्वामी ने (१ आप्त मीमासा मे) 'स्व–परवैरी' कहा है। एकान्त पक्षवाला अनेकान्त का शत्रु बनकर स्वय अपने पक्ष का घात करता है।

कम्मवि सगं कुव्वदि सगेण सहावेण सम्ममप्पाणं ।
जीवो वि य तारिसओ कम्मसहावेण भावेण ।।

कर्मापि स्वक करोति स्वेन स्वभावेन सम्यगात्मानं ।
जीवोपि च तादृशक. कर्म स्वभावेन भावेन ।।६२।।

कर्म अपने स्वभाव से कर्म का कर्त्ता है। इसी प्रकार जीव भी स्वभाव से अपने भावो का कर्त्ता है। अर्थात जीव पुद्गल कर्म का कर्त्ता नही है और पुद्गल कर्म जीव के भावो के कर्त्ता नही है।

विशेष -निश्चय दृष्टि से जीव पुद्गल कर्मों का कर्त्ता नही कहा गया है किन्तु व्यवहारनय जीव तथा कर्म मे निमित्त कारण की अपेक्षा कर्त्ता होना स्वीकार करता है। दोनो कथन अपनी–अपनी अपेक्षा मे सत्य है। एकान्तपक्ष मानने पर वे दोनो दृष्टियाँ निरपेक्ष होने से मिथ्या हो जाती है।

कुन्दकुन्द स्वामी ने द्वादशानुप्रेक्षा मे जीव को कर्मों का कर्त्ता कहा है –

जत्तेण कुणइ पाव विसय–णिमित्तं च अहणिसं जीवो ।
मोहंधयार सहियो तेण दु परिपडदि संसारे ।।३४।।

यह जीव मोहाध होकर दिन रात विषयो के निमित्त पाप कर्मों को करता है। इस पाप के फलस्वरूप वह ससार सागर मे गिरता है।

एक्को करेदि पाव विसयणिमित्तेण तिव्वलोहेण ।
णिरय–तिरियेसु जीवो तस्स फलं भुजदे एक्को ।।१५।।

यह जीव विषयों के निमित्त से तीव्र लोभयुक्त होता हुआ पाप कर्म का बंध करता है। पश्चात् वही जीव नरक तथा पशु पर्याय में अपने द्वारा किये गये पाप के फलस्वरूप अपार दुःख भोगता है।

एक्को करेदि पुण्णं धम्मणिमित्तेण पत्तदाणेण ।
मणुवदेवेसु जीवो तस्स फलं भुंजदे एक्को ॥१६॥

एक जीव धर्म के निमित्त से तथा पात्र दान के कारण पुण्य कर्म का बँध करता है। वही जीव मनुष्य एव देव पर्याय में उस पुण्य कर्म का फल भोगता है इस कथन मे यह बात सिद्ध होती है कि ससारी जीव पाप कर्म का बँध करता है तथा वह पुण्य कर्म का भी बँध करता है। और जब उन कर्मो का उदय आता है तब वह उनका फल भोगता है।

कम्मं कम्मं कुव्वदि जदि सो अप्पा करेदि अप्पाणं ।
किध तस्स फलं भुंजदि अप्पा कम्मं च देदि फलं ॥
कर्म कर्म करोति यदि स आत्मा करोत्यात्मानं ।
कथं तस्य फल भुंक्ते आत्मा कर्म च ददाति फल ॥६३॥

पुद्गल कर्म कर्म को करता है और आत्मा आत्मा को करता है। आत्मा द्रव्य कर्म को नही करता। इस प्रकार की निश्चय नय की मान्यता को स्वीकार करने पर आत्मा कर्मो का फल क्यो भोगता है तथा ज्ञानावरणादि कर्म जीव को सुख दु ख आदि फल क्यो प्रदान करते हैं ?

विशेष यहाँ एक महत्त्वपूर्ण बात ग्रन्थकार ने कही है। जब आत्मा कर्मों का कर्त्ता नही है, तो फिर वह सुख दु ख रूप कर्मों के फल को किस प्रकार भोगता है। कर्त्ता को भोक्ता मानना उचित है। कर्तृत्वहीन भोक्तृत्व मानना कैसे उचित होगा। इस शका का निराकरण ग्रन्थकार ने आगे किया है।

ओगाढ-गाढ णिचिदो पोग्गल कायेहिं सव्वदो लोगो ।
सुहमेहिं बादरेहिं य णंताणंतेहिं विविहेहिं ॥
अवगाढ–गाढ–निचित. पुद्‌लकायैः सर्वतोलोक· ।
सूक्ष्मैर्बादरै. चानंतानतैः विविधैः ॥६४॥

यह लोक सर्वत्र अत्यन्त सूक्ष्म तथा स्थूल अनेक प्रकार के अनन्तानंत पुद्गल समुदाय से अत्यन्त गाढ रूप से भरा है।

विशेष—इस लोकाकाश मे सूक्ष्म तथा स्थूल रूप अनतानत नाना प्रकार के पुद्गल अत्यन्त घनीभूत रूप से ठसाठस भरे हैं। जहाँ जीव के प्रदेश हैं, वहाँ अनंतानंत कर्मरूप परिणमन की योग्यता सहित पुद्गल का पुंज पाया जाता है। जब जीव के परिणाम रागद्वेष आदि रूप होते हैं तब वह निकटवर्ती पुद्गल पुंज कर्म रूप परिणमन करता है।

इस सम्बन्ध मे गोम्मटसार का यह कथन उपयोगी है—

आहारवग्गणादो तिण्णि सरीराणि होंति उस्सासो ।
णिस्सासो वि य तेजो वग्गण खंधा दु तेजग ॥६०६॥

तेईस प्रकार की पुद्गल वर्गणाओं में से आहार वर्गणा के द्वारा औदारिक वैक्रियिक तथा आहारक ये तीन शरीर तथा उच्छ्वास और निःश्वास होते हैं। तेजो वर्गणा रूप स्कन्ध द्वारा तैजस शरीर बनता है।

भास-मण-वग्गणादो कमेण भासा मण च कम्मादो।
अट्ठ कम्मदव्व होदित्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं ॥६०७॥

भाषा वर्गणा द्वारा वचन, मनो वर्गणा से द्रव्यमन तथा कार्मण वर्गणा से आठ प्रकार के कर्म बँधते हैं।

ओरालिय-वेगुव्विय-आहारय-तेजो-णाम कम्मुदये।
चउ णोकम्मसरीरा कम्मेव य होदि कम्मइय ॥२४३॥

औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस नाम कर्मोदय से होने वाले चार औदारिक आदि नो-कर्म शरीर कहे गए हैं। कार्मण शरीर नाम कर्म के उदय से होने वाले ज्ञानावरणादि आठ कर्मों के समूह को कार्मण शरीर कहा गया है।

परमाणूहिं अणंतहिं वग्गण सण्णा हु होदि एक्का हु।
ताहि अणंतहिं णियमा समय पबद्धो हवे एक्को ॥२४४॥

अनंत परमाणुओं के समुदाय रूप एक वर्गणा होती है। अनंत वर्गणाओं का नियम से एक समय प्रबद्ध होता है। एक समय में बद्ध कर्म तथा नो कर्म परमाणुओं को समय-प्रबद्ध कहा है -

जीवादो णंतगुणा पडि परमाणुम्हि विस्सोवचया।
जीवेण य समवेदा एक्केक्क पडि समाणा हु ॥२४८॥

कर्म और नो कर्म की प्रत्येक परमाणु पर समान संख्या को लिये हुये जीव राशि से अनन्त गुणे विस्रसोपचय रूप परमाणु जीव के साथ सम्बद्ध है, ये परमाणु कर्म रूप नहीं है, किन्तु इनमे कर्म रूप परिणमन करने की पात्रता है।

जीव के रागादि भावों के निमित्त से कर्मरूप परिणत होने योग्य पुद्गलों का कर्मरूप परिणमन होता है। रागादिभाव जीव के अनन्य परिणाम है। वे पुद्गल कर्मों के परिणमन में सहायक कारण हो सकते है। भिन्न द्रव्यों में उपादान-उपादेयपना नहीं होता यह बात कही जा चुकी है।

अत्ता कुणदि सहावं तत्थ गदा पोग्गला सभावेहिं।
गच्छन्ति कम्मभाव अण्णोण्णागाह-मवगाढा ॥

आत्मा करोति स्वभाव तत्र गता. पुद्गला. स्वभावै.।
गच्छन्ति कर्मभाव अन्योन्यावगाहावगाढा ॥६५॥

संसारी आत्मा अनादिकाल से कर्मबंधन युक्त होने से रागद्वेष मोह रूप भावों को करती है, उस समय वहाँ विद्यमान कर्मरूप परिणमन करने योग्य पुद्गल जीव के प्रदेशों में परस्पर अवगाहन के कारण अनुप्रविष्ट होकर स्वभाव से कर्मरूप परिणमन करते हैं।

विशेष—संसारी जीव अनादि काल से कर्मों में बद्ध है। वह मुक्तावस्था सहित सिद्ध परमात्मा सदृश कर्म रहित नहीं है। वह संसारी जीव राग, द्वेष तथा मोह रूप मलिनता युक्त रहता है। जब वह राग द्वेष

मोह के भावों करता है, उस समय कर्मरूप परिणमन योग्य पुद्गल कर्मस्वरूपता के प्राप्त होता है तथा उसका संसारी जीव के प्रदेशों से एक क्षेत्रावगाह रूप संबंध होता है। कर्मरूप परिणमन करने योग्य अनंतानंत पुद्गल सर्व जगत् में ठसाठस भरे है। इससे उनको कर्मरूप परिणमन होते विलम्ब नही लगता।

भावकर्म, द्रव्यकर्म मे निमित्त रूप होते हैं। द्रव्यकर्म भावकर्म मे निमित्त है। समयसार मे कहा है कि रागादि भाव जीव के अनन्य परिणाम है

रागो दोसो मोहो जीवस्सेव य अणण्णपरिणामा। (३७१)

राग द्वेष मोह, क्रोध मान, माया, लोभ रूप परिणाम जड दीवाल मे नही पाए जाते है। ये भाव शुद्ध जीव मे भी नही है। ये भाव जीव के परिणामों का वैभाविक परिणमन हैं। बाह्य पुद्गल जीव के इन परिणामों के होने मे निमित्त रूप है। प्रवचन सार मे कहा है —

आदा कम्ममलीमसो परिणाम लहदि कम्मसजुत्त ।

तत्तो सिलिसदि कम्म तम्हा कम्म तु परिणामो ।१२१।

अनादिकाल मे कर्मो के कारण यह ससारी जीव कर्मो से मलिन हो रहा है। यह रागद्वेषादि मलिन परिणामों को प्राप्त करता है। उन मलिन भावो के द्वारा द्रव्य कर्म रूप पुद्गल आकर्षित होकर जीव के साथ सश्लेष भाव को प्राप्त करता है इसलिए जीव के परिणाम भाव कर्म है, जो द्रव्य कर्म के बध मे कारण है।

आत्मा रागादि रूप परिणामो का कर्ता होने से उपचार से द्रव्य कर्मो का कर्त्ता कहा गया है—

"तथात्मा चात्म-परिणाम-कर्तृत्वाद्द्रव्यकर्म-कर्ताप्युपचारात्" (गाथा १२१ टीका)

साख्यदर्शन जीव (पुरुष) को सदा शुद्ध मानता हुआ ससार के प्रपंच का कर्तापना प्रकृति मे मानता है। जैन दृष्टि इससे भिन्न है। सिद्ध पर्याय प्राप्त आत्मा पूर्णतया शुद्ध है, किन्तु असिद्ध दशा मे जीव रागादि विभाव भावो को करता है और उनके निमित्त से विविध प्रकार का पुद्गल के साथ एक क्षेत्रावगाह संबध होता है।

जह पुग्गल दव्वाणं बहुप्पयारेहि खंधणिव्वत्ती ।
अकदा परेहिं दिट्ठा तह कम्माणं वियाणाहि ।।
यथा पुद्गल द्रव्याणां बहुप्रकारैः स्कधनिर्वृत्तिः ।
अकृता परैर्दृष्टा तथा कर्मणा विजानीहि ।।६६।।

जैसे अन्य कर्त्ता के बिना पुद्गल द्रव्यो मे विविध रूप स्कन्ध का प्रादुर्भाव होना है, उसी प्रकार जीव रूप उपादान कारण के बिना रागादि परिणत ससार अवस्था मे ज्ञानावरणादि अनेक रूप से पुद्गल परिणत होते हैं।

विशेष—आकाश मे सूर्य की किरणे बिना प्रयत्न के मेघ मडल के निमित्त को पाकर अनेक वर्ण रूप मे परिणमन करती हैं, इसी प्रकार जीव के रागादि भावो के निमित्त को पाकर पुद्गल द्रव्य ज्ञानावरणादि रूप होते हैं। ज्ञानावरणादि रूप पुद्गल के परिणमन मे जीव के भाव उपादान दृष्टि से कर्त्ता नही है। निमित्त कारण की अपेक्षा उन भावो से पुद्गल द्रव्य का परिणमन होता है।

जीवा पुग्गलकाया अण्णोण्णागाढ–गहण पडिबद्धा ।
काले विजुज्जमाणा सुहदुक्ख दिंति भुंजंति ।।

जीवा पुद्गलकाया. अन्योन्यावगाढ-ग्रहण प्रतिबद्धाः ।
काले वियुज्यमाना सुखदुःख ददाति भुजंति ।।६७।।

रागादि भाव युक्त जीव तथा पुद्गल स्कन्ध परस्पर मे अवगाढ सम्बन्ध को प्राप्त कर बंधन बद्ध होते हैं । उदयकाल के प्राप्त होने पर वे कर्म निर्जीर्ण होने के समय जीव को सुख तथा दुःख देते हैं व रागी जीव कर्मों के उदयानुसार सुख तथा दुःख को भोगता है ।

विशेष रागादि युक्त जीव का पुद्गल के साथ एक क्षेत्रावगाह सम्बन्ध हो जाता है । उस कर्म मे स्थिति बन्ध रहता है स्थितिपूर्ण होने के पूर्व वे कर्म उदयकाल मे जीव को सुख दुःख देते है । जीव मे यह विशेष बात है, कि वह सुख दुःख रूप फलानुभवन करता है । पुद्गल द्रव्य अचेतन है, इसीलिए द्रव्य कर्म मे सुख दुःख का भोक्तापना नही पाया जाता । जीव मे भोक्तापना सचेतन होने के कारण पाया जाता है । सुख दुःख का अनुभवन चैतन्य परिणाम से सम्बन्धित है । अचेतन पुद्गल कर्म सुख दुःख देते हैं, किन्तु वे स्वय उसका फल नही भोगते । चेतन गुण युक्त होने से जीव ही भोक्ता है निश्चयनय से जीव आत्मभावों का कर्ता है । व्यवहारनय से ससारी जीव कर्मों का कर्त्ता और भोक्ता है । द्रव्यसग्रह मे कहा है

जीवो उवओगमओ अमुत्ति कत्ता सदेह परिमाणो ।
भोक्ता ससारत्थो सिद्धो सो विस्सोड्ढगई ।।

वह जीव उपयोगमय, अमूर्तीक, कर्त्ता, स्वदेहप्रमाण, भोक्ता, ससारस्थ, सिद्ध तथा स्वभाव से उर्ध्व-गमन करने वाला है ।

जीव मे कर्मो का कर्तृत्व तथा फल भोक्तृत्व दोनो हैं । कर्मो मे केवल कर्तृत्व पाया जाता है ।

तम्हा कम्मंकत्ता भावेण हि संजुयोध जीवस्स ।
भोत्ता दु हवदि जीवो चेदगभावेण कम्मफलं ।।

तस्मात् कर्म कर्ता भावेन हि सयुतमथ जीवस्य ।
भोक्ता तु भवति जीव श्चेतकभावेन कर्मफलं ।।६८।।

इस कारण रागादि भावो से सहित जीव कर्म सुखादि का कर्त्ता है । चैतन्य युक्त जीव कर्मफल को भोगता है ।

विशेष— रागादि भाव युक्त ससारी जीव शुभ अशुभ कर्मों का बध करने के कारण कर्मों का कर्त्ता है । वही जीव कर्मों के विपाककाल मे सुख तथा दुःख को भोगता है । वह सुखानुभवन दुःखानुभवन करता है । जैसे जो जीव मलिन भावों के कारण नारकी हुआ है, वह वहा अपने पूर्वोपार्जित कर्मों के अनुसार वचनातीत वेदना को भोगता है । उज्ज्वल भावो के फलस्वरूप देव पर्याय प्राप्त करने वाला जीव अपने शुभ कर्मों के उदय आने मे आनद का अनुभव करता है ।

कोई–कोई मनुष्य पर्याय मे हीन कार्य करते हुए तथा मलिन जीवन व्यतीत करते हुए कह बैठते है

स्वर्ग के सुख मे क्या रखा है। वे नरक के दुःखों को ध्यान में न ला स्वर्ग के आनन्द का उपहास करते हैं। उन्हें इष्टोपदेश का महर्षि पूज्यपाद रचित पद्य मार्गदर्शन करता है—

हृषीकज मनातंक दीर्घकालोपलालितं ।
नाके नाकौकसा सौख्यं नाके नाकौकसामिव ।।

स्वर्ग मे जो सुख प्राप्त होता है, वह इन्द्रिय जन्य है, वह आतक रहित है अर्थात् सर्व प्रकार के क्षोभ के कारणो से रहित है। वह सुख सागरो पर्यन्त दीर्घकाल तक प्राप्त होता है। उस सुख की उपमा योग्य अन्य सासारिक सुख नही है। इससे स्वर्ग मे देवताओ का सुख देवताओ के समान है अर्थात् वह उपमातीत है। उसके समान इंद्रियजन्य सुख अन्य नही है।

जब आत्मा मे विवेकज्ञान ज्योति का उदय होता है, तब अतीन्द्रिय सुख की यथार्थता हृदय में निश्चित की जाती है। वह सच्चे सुख को प्राप्त करने के हेतु सर्व वैभव आदि का त्यागकर श्रमण वृत्ति को स्वीकार करता है। प्रवचनसार मे कहा है " पडिवज्जदु सामण्णं जदि इच्छदि दुक्खपरिमोक्खं २०१। यदि दु खो का क्षय चाहते हो तो यथा जात मुनिपद का आश्रय लो।

एवं कत्ता भोत्ता होज्जं अप्पा सगेहिं कम्मेहिं ।
हिंडति पारमपारं संसारं मोहसंछण्णो ।।

एव कर्ता भोक्ता भवन्नात्मा स्वकै कर्मभि ।
हिंडते पारमपार ससारं मोह सछन्न ।।६९।।

इस प्रकार जीव अपने कर्मो का कर्त्ता है तथा भोक्ता भी है। वह जीव अपने कर्मों के कारण मोहाकुल हो इस ससार मे परिभ्रमण करता है। भव्य जीव की अपेक्षा यह ससार पार युक्त अर्थात् सान्त है तथा अभव्य की अपेक्षा यह अपार अर्थात् अनन्त है।

विशेष—शुद्ध नय मे शुद्ध आत्मा कर्मों के कर्तृत्व तथा फल-भोक्तृत्व रहित है। अशुद्ध नय मे जीव अनादिकाल से ससार मे भटक रहा है। अभव्य जीव का यह ससार का परिभ्रमण अनादि एवं अनन्त है। भव्य जीव के ससार अनादि होते हुए उसे सान्त बताया है। वह जीव ससार के निकट आने पर रत्नत्रय का आश्रय लेकर संसार का उच्छेद करता है।

अकलक स्वामी ने स्वरूप सबोधन मे कहा है—

कर्त्ता य कर्मणा भोक्ता तत्फलाना स एव तु।
बहिरन्तरूपायाभ्या तेषा मुक्तत्वमेव हि ।।१०।।

जो आत्मा अपने रागादि भावो के द्वारा ज्ञानावरणादि कर्मों का कर्त्ता है, वही आत्मा अपने द्वारा अर्जित कर्मों के फलस्वरूप सुख तथा दुःख का अनुभव करता है। वही जीव अन्तरग एव बाह्य सामग्री के सन्निधान होने पर उन कर्मों से मुक्ति प्राप्त कर लेता है। किसी जीव के कर्मों का क्षय दूसरा जीव नही कर सकता।

गौतम गणधर ने वीर भगवान के विषय मे कहा है "वीरेणाभिहत: स्वकर्म निचय:"— वीर प्रभु ने अपने ही कर्मों का क्षय किया था। जैन दृष्टि आत्माश्रयी है। वह आत्मदेव का अवलम्बन कर चिदानन्द रूप परमपद को प्राप्त कर सकता है। पुरुषार्थी आत्मा प्रमाद का परित्याग कर अपना विशुद्ध भाग्य निर्माण कर

सकता है। सम्यक्त्वादि की जब तक जीव को प्राप्ति नही होती, तब तक वह जीव ससार सिधु से नही निकल पाता। रत्नत्रय नौका का अवलबन ससार से पार होने का उपाय है।

उवसंत खीणमोहो मग्गं जिण भासिदेण समुवगदो।
णाणाणु-मग्ग-चारी णिव्वाणपुरं वजदि धीरो ॥
उपशात-क्षीणमोहो मार्गं जिनभाषितेन समुपगत ।
ज्ञानानु मार्गचारी निर्वाणपुर व्रजति धीर. ॥७०॥

उपशम सम्यक्त्व, क्षायिक सम्यक्त्व, क्षयोपशम सम्यक्त्व को प्राप्त करने वाली आत्मा जिनागम रूप मार्ग का शरण लेता है। वह धीर पुरुष ज्ञान मार्ग के अनुसार आचरण करता हुआ मोक्षपुरी को जाता है।

विशेष- यहाँ मूल गाथा मे "उवसत-खीणमोहो" शब्द आया है। उसका भाव उपशम सम्यक्त्व, क्षायिक सम्यक्त्व तथा क्षयोपशम सम्यक्त्व रूप त्रिविध सम्यक्त्व ग्रहण किया गया है। मोक्षपुरी का पथिक तीनो प्रकार के सम्यक्त्व द्वारा आत्म साधना की समुचित सामग्री प्राप्त करता है। जयसेनीय टीकामे कहा है "अत्रोपशमशब्देनौपशामिक सम्यक्त्व, क्षीण शब्देन क्षायिकसम्यक्त्व द्वाभ्यात् क्षयोपशमसम्यक्त्वमिति ग्राह्य (पृ० १२२)

यहाँ आचार्य कहते हैं जिनेन्द्र वाणी के द्वारा जीव मोक्षपुरी के मार्ग को प्राप्त करता है।

मोक्षमार्ग मे जिनवाणी का मार्गदर्शन परम आवश्यक है। सर्वज्ञ वीतराग वाणी के आदेशानुसार प्रवृत्ति करने वाला पथिक निर्वाणपुर मे प्रविष्ट होता है। प्रवचनसार मे कहा है-

आगम चक्खू साहू इंदिय चक्खूणि सव्वभूदाणि ।
देवा य ओहि चक्खू सिद्धा पुण्ण सव्वदो चक्खू ॥२३४॥

मुनीश्वरो के नेत्र आगम है। जो आगम मे कहा है उसका वे पूर्णतया परिपालन करते हैं। जिसने आगम को छोड स्वच्छद पथ को पकडा वह ससार सिधु से कभी भी नही निकल सकता। सच्चा साधु आगम की देशना को अपनी पथ प्रदर्शिका मानता है। ससारी जीवो के नेत्र इद्रिय रूप चक्षु है। देवो के नेत्र अवधि ज्ञान है। कर्मक्षय करने वाला सिद्ध परमात्मा सर्वज्ञ होने से सर्व चक्षु कहे गये है। यहाँ कहा है कि ज्ञान मार्ग पर चलने वाला सम्यक्त्वी सिद्धि को प्राप्त करता है। वह ज्ञान मार्ग दो प्रकार का है। तत्त्वार्थसार मे लिखा है --

निश्चय व्यवहाराभ्या मोक्षमार्गो द्विधा स्थित ।
तत्राद्य साध्यरूप स्यात् द्वितीयस्तस्य साधनम् ॥

यह मोक्ष मार्ग दो प्रकार है एक निश्चय मोक्षमार्ग दूसरा व्यवहार मोक्षमार्ग। निश्चय मोक्षमार्ग साध्य है तथा व्यवहार मोक्षमार्ग उसका साधन है। साधन के बिना साध्य नही होता, इसलिए व्यवहार मोक्षमार्ग के बिना निश्चय मोक्षमार्ग भी नही होगा।

जिन्होने व्यवहार मोक्षमार्ग की उपेक्षा कर निश्चय पथ को ही अपना ध्येय बनाया, वे इष्ट सिद्धि को प्राप्त नही करते। निश्चय मोक्षमार्ग के लिए अर्थात् अभेद रत्नत्रय के लिए व्यवहार रत्नत्रय आवश्यक है। उस व्यवहार रत्नत्रय मे व्यवहार सम्यग्दर्शन ज्ञान तथा चारित्र का समावेश है। व्यवहार सम्यग्दर्शन के बिना निश्चय सम्यग्दर्शन नही होगा। अनादिकाल से मिथ्यात्व रूप महान व्याधि से ग्रस्त जीव क्षीण शक्ति हो गया

है। उसका कल्याण अपनी शक्ति के अनुसार गुरु की आज्ञा का परिपालन करना है। सर्वप्रथम सम्यक्त्व के आधारभूत आप्त, आगम तथा निर्ग्रंथ गुरु का श्रद्धान आवश्यक है। स्वामी समंतभद्र ने श्रावको के कल्याणार्थ रचित रत्नकरंड श्रावकाचार मे कहा है— आचार्यवाणी इस प्रकार है—

श्रद्धानं परमार्थानामाप्तागमतपोभृताम् ।
त्रिमूढापोढमष्टाङ्गम् सम्यग्दर्शनमस्मयम् ।।४।।

सच्चे देव, सच्चा शास्त्र तथा दिगम्बर गुरु के विषय मे श्रद्धा धारण करना चाहिए। वह श्रद्धा देव-मूढता, गुरु मूढता, लोक-मूढता रहित होनी चाहिए। उस सम्यग्दर्शन के आठ अग, सम्यक्त्वी को आवश्यक हैं। नि शकित, नि काक्षित, निर्विचिकित्सा अमूढ दृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य तथा प्रभावना ये आठ अग हैं। अंग हीन सम्यग्दर्शन मुक्ति प्रदाता नही है। सम्यक्त्वी मे आठ मद नही चाहिए। ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, बल, ऋद्धि, तप, शरीर इनका अहकार नही करना चाहिए। इस सामग्री के बिना मिथ्यात्व रोग नही जायेगा। जैसे— चतुर चिकित्सक द्वारा बताई दवा का सेवन आरोग्यप्रद है, उसी प्रकार जिनेन्द्र देव द्वारा बताई दवा का सेवन तथा अपथ्य त्याग आत्मा के रोग को दूर करता है।

एको चेव महप्पा सो दुवियप्पो त्ति-लक्खणो होदि ।
चदु चकमणो भणिदो पचग्ग-गुणप्पधाणो य ।।
एक एव महात्मा स द्विविकल्पस्त्रिलक्षणो भवति ।
चतुश्चंक्रमणो भणित· पञ्चाग्रगुणप्रधानश्च ।। ७१ ।।

छक्का पक्कमजुत्तो उवउत्तो सत्तभंग-सब्भावो ।
अट्ठासओ णवत्थो जीवो दस-ट्ठाणगो भणिदो ।।
षट्का प्रक्रमयुक्त: उपयुक्त: सप्तभगसद्भाव: ।
अष्टाश्रयो नवार्थो जीवो दशस्थानको भणित:।।७२।।

यह जीव संग्रहनय की अपेक्षा नित्य चैतन्य युक्त होने से महान आत्मा रूप एक है। ज्ञान और दर्शन की दृष्टि से उसके दो भेद हैं। इस जीव के उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य लक्षणों की अपेक्षा तीन भेद होते है, अथवा कर्म फल चेतना, कर्म चेतना तथा ज्ञान चेतना ये तीन लक्षण है। यह जीव चारो गतियो मे भ्रमण करता है इस अपेक्षा से उसे चतुर्विध माना है। यह पारिणामिक, औदयिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औपशमिक रूप पच भाव युक्त होने से पच अग्रगुण प्रधान है। यह चार दिशा तथा अधोलोक और ऊर्ध्वलोक मे गमन करने से छ· प्रकार है। अस्ति नास्ति आदि सप्तभग युक्त होने मे सप्तविध है। आठ गुणो या आठ कर्मो का आश्रय होने से यह जीव अष्टाश्रय है। पदार्थो की अपेक्षा यह नवार्थ है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, साधारण वनस्पति वेइंद्रिय, त्रीन्द्रिय चौइंद्रिय, पचेन्द्रिय रूप दश स्थान युक्त होने मे जीव को दशस्थानक कहा है।

विशेष— यहाँ जीव के स्वरूप को विविध प्रकार से समझाने को उसे दशविध कहा गया है। यह अनेकात दृष्टि से ही सुसंगत होगा।

पयडि–ट्ठिदि–अणुभागप्पदेस–बंधेहि सव्वदो मुक्को ।
उड्ढं गच्छदि सेसा विदिसावज्जं गदिं जंति ।।

प्रकृति–स्थित्यनुभाग–प्रदेशबंधैः सर्वतोमुक्तः ।
ऊर्ध्वं गच्छति शेषाः विदिग्वर्ज्या गतिं यान्ति ।। ७३ ।।

प्रकृति बंध, स्थिति बंध, अनुभाग बंध तथा प्रदेश बंध रूप बंध चतुष्टय से पूर्णतया उन्मुक्त जीव लोक के अग्रभाग की ओर गमन करता है। शेष संसारी जीव मरण के पश्चात् विदिशाओं को छोडकर छह दिशाओं में गमन करते हैं। मरण करते समय जीव का दिशा में गमन होता है। "अनुश्रेणि: गति." २–२६ त सू ।

विशेष—तत्वार्थ सूत्र में बंध का स्वरूप इस प्रकार कहा है—

सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान्पुद्गलानादत्ते स बंध. । (८–२)

जीव कषायभाव युक्त हो कर्म रूप परिणत होने योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है इसे बंध कहते हैं।

राजवार्तिक में कहा है– यथा भाजनविशेषे प्रक्षिप्तानां विविधरस–बीजपुष्पफलानां मदिराभावेन परिणामः तथा पुद्गलानामपि आत्मनि स्थितानां योगकषायवशात्कर्मभावेन परिणामो वेदितव्यः" (८–३ पृ. २६८)

जैसे विशेष भाजन में डाले गये अनेक प्रकार के रस, बीज, पुष्प, फल का मदिरा रूप में परिणमन होता है, इसी प्रकार आत्मा में स्थित पुद्गल समूह का योग और कषाय के वश से कर्मरूप परिणमन होता है।

समयसार में कहा है, जिस प्रकार पुरुष के द्वारा ग्रहण किया गया आहार उदराग्नि के वश से मांस, वसा, रुधिर आदि रूप परिणमन करता है, उसी प्रकार जीव के द्वारा गृहीत पुद्गल का विविध रूप से परि–णमन होता है। (१७९–गाथान)

जिस प्रकार शरीर में तेल लगाकर कोई व्यक्ति धूलि वाले प्रदेश में व्यायाम करता है और उसके शरीर में रज का बंध होता है, इसी प्रकार यह जीव अपने उपयोग में रागादिभावों को करता हुआ कर्म रूपी रज से लिप्त होता है।

बज्झदि कम्मं जेण दु चेदणभावेण भावबंधो सो ।
कम्मादपदेसाणं अण्णोण्णपवेसणं इदरो ।। द्र स. ।।३२।।

जीव के जिन भावों से कर्मों का बंध होता है उसे भावबंध कहा है। कर्म तथा आत्म प्रदेशों का पर–स्पर में प्रवेश हो जाना द्रव्यबंध है। इस बंध अवस्था में कर्म और जीव दोनों पराधीन होते हैं। कर्म जीव से जब तक बंधे हैं. तब तक वे स्वतंत्र नहीं हैं। इसी प्रकार जब तक जीव कर्मों से संश्लेषपने को प्राप्त है,तब तक वह भी स्वतंत्र नहीं है। इस बंध दशामें जीव का एवं कर्मों का अस्वतन्त्रीकरण हो जाता है। जीव और कर्मों के बंध होने पर रासायनिक प्रक्रिया समान तृतीय प्रकार की स्थिति उत्पन्न होती है। कहा है—

हरदीन जरदी तजी चूना तज्यो सफेद ।
दोऊ मिल एकहि भए रह्यो न काहू भेद ।।

मन वचन तथा काय के निमित्त से आत्म प्रदेशों में परिस्पंदन होता है, उसे योग कहते हैं। उससे कर्मों का आस्रव होकर पश्चात् बंध होता है, उस बंध के चार भेद यहाँ गाथा में गिनाए गए हैं।

जैसे नीम की प्रकृति अर्थात स्वभाव तिक्तता है, गुड़ का स्वभाव या प्रकृति मधुरता है, उसी प्रकार ज्ञानावरण की प्रकृति पदार्थ का ज्ञान न होने देना है। पदार्थों का दर्शन न होने देना दर्शनावरण की प्रकृति है। सुख दुःख का संवेदन साता असाता वेदनीय का लक्षण है। तत्त्वार्थ का श्रद्धान न होने देना दर्शन मोहनीय की प्रकृति है। संयम भाव को न होने देना चारित्र मोहनीय की प्रकृति है। मनुष्य आदि पर्याय मे जव को धारण करना आयु कर्म की प्रकृति है। जीव के नारक आदि नामकरण नामकर्म की प्रकृति है। उच्च नीच स्थानों को प्रदान करना उच्च नीच गोत्र की प्रकृति है। इसके कारण लोक पूजित अथवा लोक निन्दित कुलों में जन्म प्राप्त होता है। दान, लाभ, भोग उपभोग आदि कार्यों में विघ्न करना अन्तराय कर्म की प्रकृति है।

ज्ञानावरण आदि कर्मोके कारण ज्ञान न होने देने का कार्य जब तक रहता है, उस स्वभाव से अप्रच्युति होने देना स्थितिबंध है। कर्म पुद्गलो की स्वगत विशेष सामर्थ्य को अनुभव कहते हैं। कर्मभाव परिणत पुद्-गल स्कन्धों के परमाणुओ की सख्या की अवधारणा प्रदेश बध है।

कहा भी है—

"प्रकृति. परिणाम. स्यात्स्थितिः कालावधारणम्।
अनुभागो रसो ज्ञेयः प्रदेश· प्रचयात्मकः ॥"

परिणाम अर्थात स्वभाव को प्रकृति कहते हैं। बध के काल का निश्चय स्थिति है। कर्मों मे जो फल-दान शक्ति अर्थात् रम है उसे अनुभाग कहते है। कर्म परमाणुओं के समुदाय को प्रदेश सज्ञा प्रदान की गई है। योग के कारण प्रकृति प्रदेश बध होते है। कषाय के कारण स्थिति और अनुभाग बध होते हैं।

समयसार मे कहा है—

भावो रागादिजुदो जीवेण कदो दु बंधगो भणिदो।
रागादिविप्पमुक्को अबंधगो जाणगो णवरि ॥१६७॥

जीव के द्वारा किए गए राग, द्वेष, मोहादि अध्यवसान-परिणाम बध के कारण कहे गए है। रागादि रहित परिणाम बंध के कारण नही है। ऐसा रागादि रहित जीव अबधक है।

यह वीतराग भाव रूप परिणति यथाख्यात चारित्र युक्त उपशात कषाय तथा क्षीण कषाय गुणस्थान मे पाई जाती है। दशमे सूक्ष्म सम्पराय गुण स्थान तक कर्म बध होता है। जब दशम गुण स्थान पर्यन्त बंध होता है, तब चौथे गुण स्थान मे अबधपने की परिकल्पना ठीक नही है।

अविरत सम्यक्त्वी रूप ज्ञानी से लेकर सूक्ष्म सापराय गुणस्थान पर्यन्त सम्यक्त्वी के बंध का अभाव नही है। जब तक यथाख्यात चारित्र रूप परिणति नही होती है, तब तक कर्म बंध नियम से होता है। अमृत-चद्र सूरि समयसार की गाथा १७१ की टीकामे कहते हैं—'यथाख्यातचारित्रावस्थाया अधस्तादवश्यं भाविराग सद्भावात् बध हेतुरेव स्यात्' ज्ञानगुण यथाख्यात चारित्र रूप अवस्था से नीचे नियमत· राग का सद्भाव होने से वह बध का कारण है।

दसण णाण चरित्तं जं परिणमदे जहण्णभावेण।
णाणी तेण दु बज्झदि कम्मेण विविहेण ॥१७२॥ समयसार

जब तक दर्शन, ज्ञान, चारित्र का जघन्य रूप से परिणमन होता है, तब तक उस जघन्य भाव से ज्ञानी विविध कर्मों के द्वारा बंध को प्राप्त होता है। समयसार के पुण्य-पाप अधिकार में जिनवचन का रहस्य इस प्रकार कहा है—

रत्तो बंधदि कम्म मुचदि जीबो विरागसज्जुत्तो ।
एसो जिणोवदेसो तम्हा कम्मेसु मा रज्ज ॥१५०॥

रागी जीव कर्मो का बध करता है। राग भाव रहित जीव कर्म बंध से छूट जाता है। इस प्रकार जिनेन्द्र भगवान की देशना है। इस कारण कर्मों के विषय मे आसक्ति का त्याग करो।

जिन्होंने यह धारणा बना ली है कि सम्यक्त्वी के बंध नही होता, चाहे वह अविरत सम्यक्त्वी हो, वे समयसार की इस गाथा को प्रमाण रूप मे उपस्थित करते हैं।

रागो दोसो मोहो य आसवा णत्थि सम्मदिट्ठिस्स॥१७७॥

सम्यक्त्वी के राग द्वेष, मोह का आश्रव नही होता है। इसकी व्याख्या मे अमृतचद्र सूरि कहते है— "रागद्वेषमोहा न संति सम्यग्दष्टेसम्यग्दृष्टित्वान्यथानुपपत्ते" सम्यग्दृष्टिपने की अन्यथा उपपत्ति न होने से सम्यक्त्वी के राग द्वेष तथा मोह नही होते है।

इस विषय में यह बात जानने योग्य है कि सम्यक्त्वी के दो भेद हैं–(१) सराग सम्यक्त्वी (२) वीत-राग सम्यक्त्वी। राग, द्वेष, मोह कषाय के भेद है। सूक्ष्म सांपराय के नाम के दशमे गुण स्थान मे सूक्ष्म लोभ पाया जाता है। अत वहां तक के सम्यक्त्वी के राग, द्वेष, मोह का अभाव मानना आगम विरुद्ध है। इसलिए दशमे गुणस्थान पर्यन्त प्रकृति, प्रदेश, स्थिति तथा अनुभाग रूप चारो प्रकार के बध माने गए है। जहां तक कषाय है, वहां तक चारो प्रकार के बध माने है। कषाय के अभाव मे भी योग के कारण प्रकृति बध तथा स्थिति बध होते हैं।

इस बात को ध्यान मे रखकर षट्खडागम सूत्र मे कहा है—"केवलणाणी बधावि अत्थि अबधा वि अत्थि (खुद्दाबधपृ ३१८) सयोगी जिनके योग होने से केवलज्ञानी को बध कहा है, अयोगी जिनके बध का कारण योग का अभाव होने से अयोग केवली को अबध कहा है।

तत्वार्थ सूत्र मे मिथ्यादर्शनाविरति–प्रमाद–कषाययोगा बधहेतव· (८–१ त. सू) मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय तथा योग को बंध का हेतु कहा है। इनका सवर करके बद्ध कर्मो की निर्जरा करने द्वारा अत मे मोक्ष प्राप्त होना है। तत्वार्थ सूत्र मे कहा है—"बधहेत्वभावनिर्जराभ्या कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्ष (अ १०–सूत्र २) बध के कारणो का अभाव अर्थात् सवर और निर्जरा द्वारा सम्पूर्ण कर्मो का क्षय हो जाना मोक्ष है। कर्मों के क्षय का यह अर्थ नही है कि सत् का नाश हो जाता है। अकलक स्वामी ने अष्टशती मे कहा है--'सतो विनाशानुपपत्त' सत् का क्षय नही होता है। कर्म क्षय का भाव है कि पुद्गल की कर्मत्व पर्याय का क्षय हुआ है। अब पुद्गल अन्य पर्याय रूप मे विद्यमान है। द्वादशानुप्रेक्षा मे कुदकुद स्वामी ने कहा है कि निर्जरा दो प्रकार की है।

सा पुण दुविहा णेया सकालपक्का तवेण कयमाणा ।
चदुगदियाण पढमा वयजुत्ताण हवे बिदिया ॥६७॥

वह निर्जरा दो प्रकार की है। स्वकाल पूर्ण होने पर होने वाली निर्जरा चारो गतियो के जीवों की होती है। व्रत युक्त व्यक्तियो द्वारा तप के द्वारा अकाल मे होने वाली दूसरी निर्जरा है। तप के द्वारा काल क्रम से होने वाली निर्जरा को उसके पूर्व अकाल मे सपन्न करना मोक्ष के लिए आवश्यक है। क्रमबद्ध निर्जरा के विपरीत यहां मोक्ष जाने वाले तपस्वी ध्यानाग्नि द्वारा महान कर्म राशि जो पर्वत समान है, अल्प समय मे निर्जीर्ण कर देते है। अत क्रमबद्ध पने की धारणा समीचीन नही है। वह मोक्ष गमन मे विघ्न रूप है।

द्रव्यसंग्रह में लिखा है कि ध्यान के द्वारा मुनिराज मोक्ष को प्राप्त करते हैं। इसीलिये मुक्तिप्रेमी को प्रयत्नशील होकर ध्यान का अभ्यास करना चाहिये।

दुविहं पि मोक्खहेऊँ झाणे पाउणदि जं मुणी णियमा।
तम्हा पयत्तणिता जूयं झाणं समब्भसह ॥ ४७ ॥

जयधवला टीका में रयणसार की यह गाथा उद्धृत की गई है--

णाणेण झाणसिद्धी झाणादो सब्बकम्मणिज्जरण।
णिज्जरफल च मोक्ख णाणब्भास तदो कुज्जा ॥

ज्ञान के द्वारा ध्यान की सिद्धि होती है। ध्यान के द्वारा सम्पूर्ण कर्मों की निर्जरा होती है। निर्जरा का फल मोक्ष है इसीलिये ज्ञान का अभ्यास करना चाहिये।

इस प्रकार शुक्ल ध्यान द्वारा केवली भगवान चतुर्विध कर्मों का क्षय करके ऋजुगति से लोक के अग्र-भाग में जाकर अनत सिद्धो के समूह मे सम्मिलित हो जाते हैं।

शका—सिद्ध पद प्राप्त होने पर अव्याबाध सुख उत्पन्न होता है वह विनाश को नही प्राप्त होता है। क्या उस सुख को भोगते २ उनकी आत्मा विरक्ति को नही प्राप्त करती ?

उत्तर—सर्वज्ञ सिद्ध भगवान अपने स्वरूप मे स्थित रहते हुए ससार का नाटक देखते हैं। संसारी जीवो का अभिनय सदा अभिनव रूप धारण करता है, इसमे विरक्ति की स्थिति ही नही आती है। अनगार धर्मामृत मे लिखा है—

पश्यन् ससृतिनाटकं स्फुटरस–प्राग्भार–किर्मीरितम्।
स्वस्थश्चर्वति निर्वृत्त सुखसुधा–मात्यतिकीमित्यरम्।
ये सन्त. प्रतियंति तेऽत्र विरला देश्य तथापि क्वचित्।
काले कोपि हित श्रयेदिति सदोत्पाद्यापि शुश्रूषताम् ॥१२॥

मुक्त आत्मा आत्म स्वरूप मे स्थित है। वे अनेक प्रकार के रसो से युक्त विविध रूप को धारण करने वाले अनत ससारी जीवो के नाटक को देखते हैं। वे निर्विकल्प–अनुभव करते हुए आतक और अन्य व्यापारो से रहित होकर सुखामृत का अनतकाल तक रस पान करते रहते हैं।

इस प्रकार के उपदेश के अनन्तर इस दुष्माकाल मे ऐसे सच्चे श्रद्धालु कम हैं, फिर भी परहित निरत आचार्यों को श्रोताओ मे धर्म सुनने की रुचि उत्पन्न कर धर्म की देशना अवश्य देना चाहिए। संभव है कोई श्रोता कल्याण में लग जायें। यहाँ ग्रंथकार ने उपरोक्त श्लोक मे संसार को नाटक की उपमा दी है। जिस प्रकार नाटक को देखकर दर्शक हर्षित होते हैं उसी प्रकार अपने विशुद्ध स्वरूप को अवस्थित होते हुए मुक्तात्मा ससार का नाटक देखते है। उनके समस्त कर्मों का क्षय हो जाने से उनकी निर्मल स्थिति अबाधित रहती है।

सिद्ध भगवान के विषय मे यह बात ज्ञातव्य है कि, उन्होने आठ कर्मो का नाश कर सम्यक्त्व, ज्ञान आदि आठ गुणो को प्राप्त किया है।

शंका—सिद्धों के आठ गुणो मे चारित्र का उल्लेख नहीं है, इसलिए चारित्र आत्मा का गुण नही है।

समाधान—सिद्धों के आठ कर्मों के अभाव होने से प्रत्येक कर्म के अभाव मे एक-एक गुण का निरूपण किया है। इसलिए उनमे विद्यमान चारित्र गुण का उल्लेख नही किया है। आगम मे उसका उल्लेख है।

सिद्ध भक्ति में इस प्रकार का पाठ पाया जाता है—

इच्छामि भंते ! सिद्धभत्ति . ...सम्मणाण–सम्मदसण सम्मचारित्तजुत्ताण अट्ठविहकम्मविप्प मुक्काणं...... ..सव्वसिद्धाणं सया णिच्चकालं अंचेमि, वंदामि, पूजेमि, णमंस्सामि.........

यहाँ सम्पूर्ण सिद्धो को सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान तथा सम्यग्चारित्र युक्त कहा है।

तत्त्वार्थसार मे आचार्य अमृतचंद्र ने लिखा है –

ज्ञानदर्शनचारित्रागुरुलघ्वाह्वया गुणा: ।
दर्शन–ज्ञान–चारित्रमस्यात्मन एव ते ।।१६।।

दर्शन, ज्ञान, चारित्र, अगुरुलघु नाम के गुण हैं वे दर्शनज्ञान चारित्रमय आत्मा मे ही पाये जाते हैं।

इस प्रकार आत्मा को ज्ञान, दर्शन और चारित्रमय कहा गया है। सिद्ध पर्याय को प्राप्त अनत आत्माओं का निवास लोक का अग्र भाग है। तनुवात वलय के अन्त मे सम्पूर्ण सिद्धों के मस्तक हैं। जहाँ सिद्ध आत्माओं का निवास है, उस पृथ्वी को ईषत् प्राग्भार नाम की आठवी पृथ्वी कहा गया है। यह सर्वार्थसिद्धि से १२ योजन ऊँचाई पर है। उस पृथ्वी के मध्य मे रजतमय देदीप्यमान अर्ध चद्राकार पैंतालीस लाख योजन प्रमाण सिद्ध शिला है। उसका मध्य विस्तार आठ योजन है। वह आगे क्रमश: हीन होता गया है। (सिद्धात-सार दीपक पृ. ५६० अधिकार १६) जहाँ ऊर्ध्वलोक मे विराजमान निकल परमात्मा सिद्धो को प्रणाम करतेहैं, वहाँ उसी स्थान मे अनतानंत सूक्ष्म एक इंद्रिय निगोदिया भी विद्यमान है। एक अनत ससारी है दूसरे परम सिद्धि को प्राप्त त्रिभुवन पूज्य सिद्ध भगवान है। एक के अक्षर के अनतवे भाग ज्ञान है, तो सिद्ध भगवान के अनंत ज्ञान है। सिद्धो मे आत्मा का चरम विकास है, उन निगोदियो के जीवन मे आत्मा की अत्यन्त हीन दशा पाई जाती है।

खंधा य खंधदेसा खंधपदेसा य होंति परमाणु।
इदि ते चदुवियप्पा पुग्गल काया मुणेयव्वा ।।
स्कंधाश्च स्कंधदेशा: स्कधप्रदेशाश्च भवति परमाणव: ।
इति ते चतुर्विकल्पा: पुद्गलकाया ज्ञातव्या. ।।७४।।

पुद्गलकाय के स्कंध, स्कंधदेश, स्कधप्रदेश तथा परमाणु ये चार भेद ज्ञातव्य है।

विशेष— पुद्गल के अणु और स्कध रूप दो भेद तत्वार्थ सूत्रकार ने कहे हैं अणव स्कंधाश्च (५-२५) पुद्गल का अविभागी सूक्ष्म द्रव्य परमाणु कहा गया है। परमाणु समूह को स्कंध कहते है। पूज्यपाद स्वामी ने लिखा है—"अनतभेदा अपि पुद्गला अणुजात्या स्कधजात्या च द्वैविध्यमापन्ना सर्वे गृह्यन्ते" पुद्गल के अनंत भेद हैं। वे अणु तथा स्कध रूप द्विविध रूप मे ग्रहण हो जाते है। स्कधो की उत्पत्ति भेद, सघात तथा भेद सघात द्वारा होती है। "भेदसघातेभ्यः उत्पद्यन्ते" (५–२६)

अणोरुत्पत्तिर्भेदादेव, न सघातान्नापि भेदसघाताभ्यामिति"

अणु की उत्पत्ति भेद से ही होती है। वह सघात तथा भेद सघात से नही होती है।

प्रश्न— परमाणु इद्रियो के द्वारा ग्रहण नही किये जाते, तब उनका सद्भाव कैसे माना जाय ?

उत्तर— कार्यरूप साधन से परमाणु का सद्भाव सिद्ध होता है। राजवार्तिक मे लिखा है–"कार्यलिग हि कारण, नासत्सु परमाणुषु शरीरेन्द्रियमहाभूतादिलक्षणस्य कार्यस्य प्रादुर्भाव इति" (५.१३६) कार्यरूप–लिंग मे कारण का अवबोध होता है। यदि परमाणुओं का सद्भाव न माना जाय, तो शरीर इंद्रिय, पचमहा-भूतादि लक्षण कार्य का प्रादुर्भाव नही होगा।

परिप्राप्तबंधपरिणामा. स्कन्धाः—परमाणु जब बंध पर्याय को प्राप्त करते हैं, तब उनकी स्कंध संज्ञा प्राप्त होती है। "अनंतानंतपरमाणुबंधविशेषः स्कंधः" अनंतानंत परमाणुओं का जो विशेष बंध है, वह स्कंध है। 'तदर्धं देशः अर्धार्धं प्रदेशः' स्कंध का आधा भाग देश है। उसका भी आधा भाग प्रदेश कहा गया है। उस स्कंध की पृथ्वी, जल, अग्नि तथा वायु, स्पर्श, शब्द आदि पर्याय कही गई हैं। (राजवार्तिक पेज २३७)

अणु के विषय मे जैन धर्म की सूक्ष्मता के बारे में लोगों को परिज्ञान नही है। परमाणु इंद्रियों के गोचर नही होता और जो इंद्रिय के द्वारा ग्रहण किया जाता है, वह परमाणु नही है। प्राचीन भारत के कोई-कोई दार्शनिक सूर्य के प्रकाश मे दृश्यमान पुद्गल कणों को परमाणु मानते है। जैन दृष्टि मे वह परमाणु नहीं, स्कंध है। आज जिसे अणु बम (एटम बम) कहते है, वह अणु के समुदाय रूप होने से स्कंध रूप है। लोक मे मान्य अणुओ के जो यथार्थ में स्कध हैं, टुकडे हो सकते हैं।

परमाणु मे शीतउष्ण में से एक तथा स्निग्ध रूक्ष में से एक इस प्रकार दो स्पर्श के गुण पाये जाते हैं। परमाणुओ के बंध द्वारा जो स्कंध उत्पन्न होता है, उसमे स्निग्ध रूक्ष गुण कारण है। "स्निग्धरूक्षत्वाद्बन्धः" (५–३३) स्निग्ध तथा रूक्ष गुणो के कारण बंध होता है। जघन्य गुणों से युक्त परमाणुओ का बंध नहीं होता। दो गुण अथवा उससे अधिक गुण वाले परमाणुओ का बंध होता है। दो गुण स्निग्ध के साथ तीन गुण का भी बध नही होगा। दो गुण युक्त परमाणु का चार गुण युक्त परमाणु से बध होगा। परमाणुओ में बंध के लिए दो गुण की अधिकता कही गई है।

खंधं सयलसमत्थं तस्स तु अद्धं भणंति देसोत्ति।
अद्धद्धं च पदेसो परमाणू चेव अविभागी ॥

स्कन्धः सकलसमस्तस्तस्य त्वर्ध भणंति देश इति।
अर्धार्धः च प्रदेश. परमाणुश्चैवाविभागी ॥७५॥

स्कन्ध समस्त लक्षण युक्त है। उसके अर्द्ध को देश कहते हैं। आधे के आधे को प्रदेश कहा है। अविभागी पुद्गल को परमाणु कहा है।

विशेष—'सयलसमत्थ' को जयसेन टीका मे स्कन्ध को सकल समस्त लक्षण युक्त कहा है। गोम्मटसार जीवकाड में यह गाथा आई है। वहाँ स्कन्ध को सकल सामर्थ्य युक्त सर्वांग मे पूर्ण बताया है। (गाथा ६०३)

परमाणु को अविभागी कहा है। नियमसार मे निश्चयनय से परमाणु को पुद्गल द्रव्य कहा है तथा व्यवहारनय से स्कन्ध को पुद्गल द्रव्य कहा है। ग्रन्थकार के शब्द इस प्रकार है—

पोग्गलदव्वं उच्चइ परमाणू णिच्छएण इदरेण।
पोग्गल दव्वोत्ति पुणो ववदेसो होदि खंधस्स ॥२९॥

स्कन्ध में पुद्गल के बीस गुण कहे गये है और परमाणु मे एक रस, एक रूप, दो स्पर्श, एक गन्ध इस प्रकार पाँच स्वभाव गुण माने गये हैं। यदि स्कन्ध रूप विभाव पर्याय को असत्य मान लिया जाये, तो तत्त्व व्यवस्था में बडी गड़बड़ी हो जायेगी। स्कन्ध रूप कार्य का कारण कोई होना चाहिये; इसीलिये परमाणु जो इन्द्रिय गोचर नहीं है, माना जाता है। यदि स्कन्ध रूप विभाव पर्याय होने से मिथ्या हो जाये, तो परमाणु

का अस्तित्व भी सकट मे पड जायेगा ऐसी दशा मे दृश्यमान जगत् और उसके पदार्थ अस्तित्व शून्य हो जायेंगे। अत आगमानुसार स्वभाव तथा विभाव पर्याय दोनों को सत्य मानना चाहिये। समंतभद्र स्वामी की वाणी महत्त्वपूर्ण है।

कार्यभ्रान्तेरणुभ्राति कार्यलिंग हि कारणम्।
उभयाभावतस्तत्स्थ गुणजातीतरय न ॥६८॥

जब विश्व रूप कार्य यदि भ्रम रूप है - मिथ्या है—अवास्तविक है तो उस का कारण परमाणु भी असत्य होगा। कार्य के असत्य होने पर कारण भी सत्य नहीं होगा। जब परमाणु और विश्व मिथ्या हो गये तब उनके गुण जाति आदि भी अभाव को प्राप्त होगे।

बादर सुहुमगदाण खंधाणं पुग्गलोत्ति ववहारो।
ते होंति छप्पयारा तेलोक्कं जेहिं णिप्पण्णं॥

वादर–सौक्ष्म्यगताना स्कधाना पुद्गल इति व्यवहारः।
ते भवन्ति षट् प्रकारः त्रैलोक्य यै. निष्पन्न ॥७६॥

बादर तथा सूक्ष्म परिणमन को प्राप्त स्कन्धो मे पुद्गल यह व्यवहार किया जाता है। वे स्कन्ध छह प्रकार हैं, जिनके द्वारा तीनो लोको का निर्माण हुआ है।

विशेष— पुद्गल शब्द का व्यवहार वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श के द्वारा पूरन और गलन करने से स्कन्ध के समान परमाणु को भी पुद्गल कहा है। निश्चय से परमाणु को पुद्गल कहा गया है। व्यवहारनय से द्वयणुक आदि अनन्त परमाणु के पिण्ड रूप बादर, सूक्ष्म स्कन्धपने को प्राप्त भी पुद्गल कहे गये है। यह बात आचार्य जयसेन की टीका मे इस प्रकार दी है—

"वर्ण गन्ध रस स्पर्शे पूर्णं गलन च यत।
कुर्वन्ति स्कधवत तस्मात्पुद्गला परमाणव ॥"

इति श्लोककथितलक्षणा परमाणव किल निश्चयेन पुद्गला भण्यते। व्यवहारेण पुनर्द्व्यणुकाद्यनत परमाणुपिंडरूपा बादरसूक्ष्मस्कधा अपि पुद्गला इति व्यवह्रियते।

ये पुद्गल के स्कन्ध छह प्रकार के कहे गये है—

पुढवी जल च छाया चउरिंदिय-विसय-कम्मपाओग्गा कम्मातीदा येव छब्भेय पोग्गला होंति ॥१॥

पृथ्वी, जल, छाया, चक्षु इन्द्रिय को छोडकर शेष चार इन्द्रियो के विषय भूत पदार्थ, कर्म होने योग्य पुद्गल तथा जिनमे कर्म होने की योग्यता नही ऐसे स्कन्ध है।

इस प्रकार छह भेद युक्त स्कन्ध कहे है।

विशेष – इन स्कन्धो के विषय मे यह बात ज्ञातव्य है—काष्ठ पाषाण आदि बादर बादर है। घी, दूध आदि द्रव पदार्थ बादर है। छाया, चाँदनी अन्धकार आदि बादर सूक्ष्म हैं। स्पर्शन, रसना, घ्राण और कर्ण इन चार इन्द्रियों के विषय को सूक्ष्म बादर कहा है। कर्म वर्गणा सूक्ष्म है, क्योकि वे इन्द्रियो के अगोचर है। कर्म वर्गणा से नीचे द्वयणुक स्कन्ध पर्यन्त सूक्ष्म स्कन्ध है इस प्रकार यहाँ छह प्रकार के स्कन्धों का कथन किया गया है।

गोम्मटसार में स्कन्ध के सिवाय पुद्गल परमाणु को भी ध्यान में रखते हुए पुद्गल द्रव्य के छह भेद इस प्रकार कहे हैं जिनमें परमाणु का भी स्थान है।

पुढवी जलं च छाया चउरिंदिय-विषय-कम्म-परमाणू ।
छव्विहभेयं भणियं पुग्गलदव्वं जिणवरेहिं ॥६०१॥

जिनेन्द्र देव ने इस प्रकार पुद्गल द्रव्य के छह भेद कहे हैं—(१) पृथ्वी (२) जल (३) छाया (४) नेत्र को छोड़कर शेष चार इन्द्रियों का विषय (५) कर्म (६) परमाणु। ग्रंथकार ने स्कन्ध के ही छह भेद कहे हैं अतः उन्होंने परमाणु को ग्रहण नहीं किया है। परमाणु के विषय में पृथक् प्रतिपादन किया गया है।

सव्वेसिं खंधाणं जो अंतो-तं वियाण परमाणू ।
सो सस्सदो असद्दो एक्को अविभागी मुत्तिभवो ॥
सर्वेषां स्कन्धानां योऽन्त्यस्तं विजानीहि परमाणुं ।
स शाश्वतोऽशब्दः एकोऽविभागी मूर्तिभवः ॥७७॥

सम्पूर्ण स्कन्ध पर्यायों का जो अन्तिम भेद है, वह परमाणु है। वह शाश्वत है, शब्द रहित है, एक प्रदेश रूप है, अविभागी है, वह स्पर्श, रस, गंध तथा वर्ण रूप मूर्ति युक्त स्कन्ध से उत्पन्न होता है।

विशेष जहां स्कन्ध के विषय में यह कहा है 'भेद संघातेभ्यः उत्पाद्यते' भेद; संघात, तथा भेद और संघात से वे उत्पन्न होते हैं, वहां परमाणु केवल भेद (विभाजन) द्वारा उत्पन्न होता है। स्कन्ध के टुकड़े करते-करते जब अविभागी वस्तु आ जाय, तब उसको ही परमाणु कहते हैं। स्कन्ध में शब्द पर्याय पाई जाती है, परमाणु में शब्द पर्याय नहीं है। शब्द परमाणुओं के समुदाय रूप स्कन्ध से उत्पन्न होता है। इससे परमाणु को "असद्दो" - अशब्द कहा है। आचार्य अकलंक देव ने यह गाथा राजवार्तिक में उद्धृत की है—

अत्तादि अत्तमज्झं अंतं ते णेव इंदिए गेज्झं ।
जं दव्वं अविभागी तं परमाणु वियाणीहि ॥

जो आत्म रूप ही, आदि, मध्य तथा अंत हो, कभी भी इंद्रियों के द्वारा ग्राह्य न हो, जिसका विभाग न हो, उसको परमाणु जानो।

राजवार्तिक में यह पद्य भी आया है—

कारणमेव तदन्त्यं सूक्ष्मोनित्यश्च भवति परमाणुः ।
एक रस-गंध-वर्णो-द्विस्पर्शः कार्यलिंगश्च ॥

यह परमाणु द्वयणुकादि कार्य रूप स्कन्धों की उत्पत्ति में निमित्त होने से कारण कहा गया है। यह स्कन्धों का अन्तिम भेद रूप है, सूक्ष्म है, द्रव्य स्वरूप का परित्याग नहीं करने से नित्य है। इसमें एक रस, एक गन्ध, एक वर्ण तथा शीत और उष्ण इनमें से एक तथा स्निग्ध और रूक्ष में से एक तथा दो स्पर्श पाये जाते हैं। यह कार्य रूपी लिंग के द्वारा जाना जाता है। इसीलिये इसे कार्य लिंग अनुमान का विषय कहा है।

आदेशमत्त-मुत्तो धादुचदुक्कस्स कारणं जो दु ।
सो णेओ परमाणू परिणाम गुणो सयमसद्दो ॥
आदेश मात्र मूर्तः धातुचतुष्कस्य कारणं यस्तु ।
सज्ञेयः परमाणुः परिणामः गुणः स्वयमशब्दः ॥७८॥

परमाणु इन्द्रियो के द्वारा गोचर नही होता है। उसके द्वारा उत्पन्न परमाणु समुदाय रूप स्कंध इंद्रिय गोचर होता है। इसलिए परमाणु को विशेष अपेक्षा से मूर्त कहा है। दूसरी अपेक्षा से वह इंद्रियों के अगोचर है। इस कारण उसे आदेश मात्र मूर्त कहा है। वह पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु रूप धातु चतुष्क का कारण है। अमृतचंद्र स्वामी ने पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु रूप धातु चतुष्क का कारण परमाणु को कहा है—"पृथिव्यप तेजो वायु रूपस्य धातु चतुष्क स्यैक एव परमाणु कारण"—अनेक प्रकार के परिणमन गुण वाला है तथा स्वय अशब्द रूप है।

विशेष—जैनदर्शन पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि के अलग २ परमाणु नही मानता। एक ही परमाणु धातु चतुष्क रूप अवस्था को प्राप्त करता है। अन्य दर्शनों मे पृथ्वी आदि के अलग-अलग परमाणु कहे गये हैं।

शंका—परमाणु को एक रस, एक गध, एक वर्ण युक्त कहा है। वह ठीक नही है। मयूर आदि मे अनेक वर्ण पाये जाते है। चदन आदि गध द्रव्यो मे अनेक प्रकार की गध है। मातुलिंग अनार केला आदि मे विविध रस पाये जाते है इसलिए परमाणु मे भी ये गुण होने चाहिए, क्योकि परमाणुओ से ये उत्पन्न होते है ?

उ०—पचरस, पचवर्ण, दो गंध आदि विविधताएँ, जब स्कध पर्याय रूप परमाणु समुदाय को प्राप्त होती है तब वे उत्पन्न होती हैं। परमाणु अवस्था मे केवल एक ही रस, एक ही गंध, एक ही वर्ण, दो स्पर्श पाया जायेगा। स्कंध अवस्था में अगणित प्रकार के परिवर्तन अनुभव गोचर होते है। हल्दी पीली है, चूना सफेद है, दोनो के संयोग से लाल वर्ण उत्पन्न होता है। इसी प्रकार परमाणुओ के समुदाय द्वारा विश्व मे विचित्रता दिखाई पडती है।

नियमसार मे कुदकुंद स्वामी ने कहा है—

धाउ चदुक्कस्स पुणो जं हेऊ कारणं तणेओ।
खंधाणं अवसाण णादव्वो कज्ज परमाणु ॥२५॥

जो पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु का हेतु है वह कारण परमाणु है। और जो स्कधो के विभाजन के अत मे उपलब्ध होता है, वह कार्य परमाणु है। इस प्रकार कारण परमाणु तथा कार्य परमाणु कहे गए है।

सद्दो खंधप्पभवो खंधो परमाणुसंगसंघादो।
पुट्ठेसु तेसु जायदि सद्दो उप्पादगो णियदो ॥

शब्दः स्कन्धप्रभवः स्कंधः परमाणुसग सघात।
स्पृष्टेषु तेषु जायते शब्द उत्पादको नियतः ॥७६॥

शब्द को स्कन्ध प्रभव कहा गया है। वह अनेक परमाणुओ के समुदाय से उत्पन्न होता है। उन स्कन्धों के परस्पर मे सघटन होने पर शब्द पैदा होता है। शब्द के उत्पादक निश्चित है।

विशेष—भाषा वर्गणा रूप परिणमन करने योग्य सूक्ष्म स्कन्ध समस्त लोक मे विद्यमान हैं। तालु, ओष्ठ, घण्टा का अभिघात मेघादिरूप सामग्री समुदित होने पर भाषा वर्गणा शब्द रूप मे व्यक्त हो जाती है। इस शब्द का उत्पादक निश्चित है। भाषा वर्गणा रूप पुद्गल वर्गणा तथा बहिरंग सामग्री का सम्मिलन होने पर शब्द उत्पन्न होता है। भाषा वर्गणा योग्य सूक्ष्म सामग्री सर्वत्र लोक मे है। जब बहिरंग सामग्री का समागम हो जाता है, तब सम्पूर्ण सामग्री मिलने पर भाषा वर्गणा का शब्द रूप में परिणमन होता है। जहाँ

जहाँ बहिरंग कारण सामग्री इकट्ठी होती है, वहाँ-वहाँ शब्द योग्य पुद्गल वर्गणा शब्द रूप में स्वयं परिणमन करती है।

अक्षरात्मक शब्द संस्कृत आदि भाषा रूप हैं। अनक्षरात्मक शब्द द्वीन्द्रिय आदि के शब्द रूप तथा दिव्यध्वनि रूप है।

शंका—शब्द अमूर्त आकाश का गुण है। वह जड़, पुद्गल रूप नहीं है। 'शब्दगुणकमाकाशम्'

उ०—आकाश अमूर्त है। उसका गुण भी अमूर्त होगा इसीलिये कर्णेन्द्रिय द्वारा शब्द सुनाई ही नहीं देगा। आधुनिक भौतिक विज्ञान ने जैन दृष्टि की, शब्द की पुद्गल मान्यता की यथार्थता को बताया है। शब्द का घटाना बढाना, यन्त्र मे उनको संग्रह रूप करना आदि बातें जैन मान्यता का पोषण करती हैं। वर्तमान युग की सामग्री इस बात को स्पष्ट करती है कि जैन आचार्य बड़े विज्ञानवेत्ता भी थे। उन्हें पुद्गल के भीतर सुप्त शक्तियों का पूर्णतया परिज्ञान था। वे आत्मशुद्धि के कार्य को अपने जीवन की केन्द्रभूमि बनाते हैं, इस कारण जैसे आज का भौतिक वैज्ञानिक चमत्कार दिखाता है, वैसा कार्य आत्मसाधना के मन्दिर में निवास करने वाले मुनिजन नही करते। वह उनकी मुक्ति साधना मे बाधक है। वैज्ञानिको ने जो शोधें की हैं उसके समक्ष न्याय-वैशेषिक आदि दार्शनिको की काल्पनिक मान्यताएँ समाप्त हो जाती हैं। जैन चिंतन का स्रोत सर्वज्ञ वीतराग भगवान का ज्ञान है।

णिच्चो णाणवकासो ण सावकासो पदेसदो भेत्ता।
खधाणं पि य कत्ता पविहत्ता कालसंखाणं ॥

नित्यो नानवकासो न सावकाशः प्रदेशतो भेत्ता।
स्कंधानामपि च कर्त्ता प्रविभक्ता कालसंख्यायाः ॥८०॥

पुद्गल परमाणु अविनाशी होने से नित्य है। वह स्पर्श आदि गुणों को अवकाश प्रदान करता है, इसीलिये वह अनवकाशपने से रहित है। वह एकप्रदेश मात्र है। द्वितीय आदि प्रदेशो का सद्भाव न होने से वह सावकाश नही है। यह स्कन्धो के प्रदेशो मे भेद करता है। यह समय लक्षण काल का विभाग करने से काल का विभक्ता है। यह स्कन्धों का कर्त्ता है। यह परमाणु स्कन्धो के भेद से उत्पन्न होता है। यह स्कन्धों का जनक भी है।

विशेष—जो स्कन्धों का भेद करता है उसे कार्य परमाणु कहते हैं, और जो स्कन्धो को उत्पन्न करता है उसे कारण परमाणु कहते हैं। परमाणु स्कन्ध जन्य है एवं स्कन्धो का जनक भी है।

एयरसवण्णगंधं—दो फासं—सद्दकारणमसद्दं।
खंधंतरिदं दव्वं परमाणुं तं वियाणेहि ॥

एक रस—वर्ण—गंधं द्विस्पर्शं शब्दकारणमशब्दम्।
स्कंधांतरितं द्रव्यं परमाणुं तं विजानीहि ॥८१॥

परमाणु में पंच रसों मे से केवल एक रस पाया जाता है। शुक्ल, कृष्ण, पीत, लोहित और नील इन पंच वर्णों में से एक वर्ण उसमें पाया जायगा। कोई परमाणु शुक्ल वर्ण का भी रहेगा। भौतिक विज्ञान ने शुक्ल वर्ण को स्वतन्त्र वर्ण अस्वीकार कर उसे सातरंगों के समुदाय रूप कहा है। परमाणु में सुगन्ध, दुर्गन्ध

मे से एक गन्ध पाई जायेगी । स्पर्श के शीत–स्निग्ध, शीत–रुक्ष, उष्ण–स्निग्ध, उष्ण–रुक्ष इन चार स्पर्शों के युगलो मे से स्पर्श के दो गुण पाये जायेंगे। परमाणु में हल्कापन, भारीपन, नरमपना, कठोरपना नहीं पायेजाते। यह परमाणु शब्द रूप स्कन्ध बन सकता है इसीलिये इसे शब्द का कारण कहा है। किन्तु स्वयं शब्द रूप न होने से यह अशब्द रूप है । यह परमाणु स्कन्ध पर्याय से भिन्न होने के कारण स्कन्धान्तरित कहा गया है ।

विशेष—राजवार्तिक मे कहा है अन्तिम स्थूलता जगत्व्यापी महास्कन्ध मे कही गई है। परमाणु केवल एक प्रदेश रूप है ।

जीव कांड गोम्मटसार मे कहा है कि सम्पूर्ण अरूपी द्रव्यो के प्रदेश चलायमान न होने से अचलित–निष्क्रिय हैं। धर्म, अधर्म, आकाश और काल तथा मुक्तात्मा एक ही स्थान पर रहते हैं। संसारी जीवों के प्रदेश चल-अचल तथा चल और अचल कहे गये हैं। विग्रहगति के जीवों के प्रदेश चल होते हैं। आत्मप्रदेशो में चचलता उत्पन्न करने वाले योगो का अभाव होने से अयोग केवली के प्रदेश अचल होंगे । कहा भी है—

सव्वमरुवी दव्व अवट्ठिदं अचलिआ प्रदेसा वि ।
रुवी जीवा चलिया विवियप्पा होंति दु पदेसा ।। ५६१ ।।

सर्व अरूपी द्रव्य अचल प्रदेश युक्त है। रूपी जीव अर्थात् संसारी द्रव्य चल प्रदेश है। इनके प्रदेश तीन भेद युक्त कहे है। पुद्गल के विषय मे कहा है—

पोग्गल दव्वम्हि अणू संखेज्जदि हवति चलिदा दु ।
चरिम–महक्खंधम्मि य चलाचला होंति दु पदेसा ।।५६२।।

पुद्गल मे परमाणु तथा संख्यात आदि अणु निर्मित स्कन्ध चल है तथा लोकव्यापी महास्कन्ध के परमाणु कोई चल हैं कोई अचल है ।

उवभोग मिंदिएहि य इंद्रियकाया मणो य कम्माणि ।
हवदि मुत्तमण्णं तं सव्वं पुग्गलं जाणे ।।
उपभोग मिन्द्रियै श्चेन्द्रियः काया मनश्च कर्माणि ।
यद्वति मूर्ति मन्यत् तत्सर्व पुद्गलं जानीयात् ।।८२।।

इंद्रियो के द्वारा उपभोग योग्य पंचेन्द्रियो के विषय, द्रव्येन्द्रिय, शरीर, द्रव्यमन, द्रव्यकर्म–नो कर्म इनके सिवाय अन्य जो भी दूसरे मूर्तिमान द्रव्य हैं, उन सबको पुद्गल द्रव्य जानो ।

विशेष— स्पर्श, रस, गध, वर्ण तथा शब्द ये इद्रियो के द्वारा ग्राह्य विषय है। स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, कर्ण रूप द्रव्येन्द्रिय कही गई है। द्रव्यमन, द्रव्यकर्म, नोकर्म, विचित्र परिणमन जो मूर्तिमान है, सामग्री है वह सब पुद्गल द्रव्य है। भावमन तथा भावेन्द्रिय ज्ञानात्मक होने से यहाँ द्रव्यमन एव इद्रिय को पौद्गलिक कहा गया है।

जैन दर्शन मे पुद्गल को अद्भुत शक्तियो का भण्डार कहा है। आज भौतिक विज्ञान के विविध प्रकार के जो आविष्कार हो रहे हैं, वे अद्भुत चमत्कार एक पुद्गल की करामात हैं। क्रूर परिणामी जीव हिंसा की सामग्री इकट्ठे करने लगे हैं।

धम्मत्थि कायमरसं अवण्णगंधं असद्दमप्फासं ।
लोगोगाढं पुट्ठं पिहुल मसंखादिय पदेसं ।।

धर्मास्तिकायोऽरसो ऽ वर्ण–गंधो ऽ शब्दो ऽ स्पर्शः ।
लोकावगाढ: स्पष्ट: पृथुलो ऽ संख्यातप्रदेश:।।८३।।

यह धर्मास्तिकाय द्रव्य रस, वर्ण, गंध, शब्द, स्पर्श रहित है। यह सर्व लोकव्यापी है, स्पष्ट है, विस्तृत है तथा असंख्यात प्रदेशी है।

विशेष— यह धर्म द्रव्य असंख्यात प्रदेश युक्त लोकाकाश में पूर्ण रूप से व्याप्त होने से असंख्यात प्रदेशी कहा गया है। अमूर्तीक होने से स्पर्श रस गंध, वर्ण, शब्द रूप पुद्‌गल के गुणो से विरहित है। 'अयुत–सिद्धप्रदेशत्वात् स्पष्ट' - अपृथक् रूप प्रदेश युक्त होने से स्पष्ट है। यह पृथुल है–स्वभावादेव सर्वतोविस्तृतत्वात्पृथुल'। स्वभाव से सर्वत्र विस्तृत होने से पृथुल है।

यह धर्म द्रव्य जगत् मे प्रसिद्ध धर्म (religion) से भिन्न है। यह धर्म द्रव्य अधर्म द्रव्य सर्वज्ञ ज्ञानगोचर दो स्वतंत्र द्रव्य अंगीकार किए गए हैं। अन्य दर्शनो मे इनकी परिकल्पना नही की गई है।

अगुरुलघुगेहिं सया तेहिं अणंतेहिं परिणदं णिच्चं ।
गदि किरियाजुत्ताणं कारणभूदं सयमकज्जं ।।
अगुरुलघुकै: सदा तैः अनंतैः परिणतः नित्यं ।
गतिक्रियायुक्तानां कारणभूत: स्वयमकार्य: ।।८४।।

यह धर्मद्रव्य सदा अनन्त अगुरु लघु गुण के अविभाग प्रतिच्छेदों द्वारा परिणमन युक्त रहता है। यह विनाशरहित होने से नित्य है। गमन क्रिया में परिणत जीवो तथा पुद्‌गलो का सहायक कारण है। स्वयं अस्तित्व रूप रहने से अकार्यरूप है। अर्थात किसी अन्य द्रव्य द्वारा उत्पन्न नही हुआ है।

विशेष - तत्वार्थसार मे लिखा है यह द्रव्य स्वयं क्रिया रहित द्रव्यो मे क्रिया उत्पन्न नही करता। क्रिया परिणत तथा क्रियावान द्रव्यों के लिये सहायक कहा गया है।

क्रिया परिणतानां यः स्वयमेव क्रियावताम्।
आदधाति सहायत्व स धर्म: परिगीयते ।।३३।।

प्रश्न—यह गमन रहित है, क्रिया शून्य है, इस कारण इसे निष्क्रिय द्रव्य कहा है। तब इसमे किस प्रकार परिणामन माना जाये ?

उत्तर— इस विषय में परमागम मे कहा है कि सम्पूर्ण द्रव्यों मे एक अगुरु लघु नामका गुण है। वह आगम में प्ररूपित होने के कारण प्रमाण रूप है। उसके कारण धर्मादि द्रव्यो मे सदा परिणमन हुआ करता है। इस गुण के प्रदेशो के अविभाग प्रतिच्छेदो मे अनन्त भाग वृद्धि, असंख्यात भाग वृद्धि, संख्यात भाग वृद्धि, संख्यात गुण वृद्धि, असंख्यात गुण वृद्धि, अनन्त गुण वृद्धि ये षट् प्रकार की वृद्धि स्वयमेव हुआ करती है। उनमे षट्‌गुणहानि भी होती है जो इस प्रकार है–अनन्त भाग हानि, असंख्यात भाग हानि, संख्यात भाग हानि, संख्यात गुण हानि, असंख्यात गुण हानि, अनन्त गुण हानि होती है। ये अगुरुलघु गुण वाणी के अगोचर हैं। इनका सद्‌भाव आगम प्रमाण पर निर्भर है। आलाप पद्धति में इन्हे "आगम प्रमाणादभ्युपगम्या अगुरु लघु गुणा."–आगम प्रमाण के द्वारा माने गये अगुरुलघु गुण कहा है। आगम वाणी सर्वज्ञ जिनेन्द्र वचन होने से सत्य है, परम सत्य है और सम्यक्त्वी के लिये सर्वदा शिरोधार्य है। कहा भी है—

सूक्ष्म जिनोदितं तत्वं हेतुभिर्नैव हन्यते ।
आज्ञासिद्धं तु तद्ग्राह्यं नान्यथावादिनो जिनाः।।

जिनेन्द्र भगवान के द्वारा प्रतिपादित तत्व सूक्ष्म है वह तर्क के द्वारा बाधा को नही प्राप्त होता है।उसे आज्ञा सिद्ध मानकर स्वीकार करना चाहिये, क्योंकि जिनेन्द्रदेव अन्यथावादी नही है। अन्यथा प्रतिपादन का कारण अज्ञान अथवा रागादिदोष होते हैं, वे जिनेन्द्र वीतराग हैं, सर्वज्ञ हैं इसीलिये जिनेन्द्र वचन अन्यथा नही हो सकते।

धर्मादि द्रव्यों में स्वप्रत्यय उत्पाद कहा है। सर्वार्थसिद्धि मे कहा है– दो प्रकार का उत्पाद होता है। स्वनिमित्तक उत्पाद अनंत अगुरुलघु गुणो के कारण होता है। वे अगुरुलघु गुण "आगमप्रामाण्याद् भ्यु पगम्य-माना"–आगम की वाणी होने से मान्य हैं। उन गुणो में षद्गुणी वृद्धि, षद् गुणी हानि होती है। इस कारण द्रव्यों मे स्वभाव से उत्पाद व्यय कहा गया है। अश्वादि की गति, स्थिति, अवगाहनता का कारण होने से परनिमित्तक उत्पाद व्यय का व्यवहार होता है। (स. सि. अ ५–सू–७)

जीव काण्ड गोम्मटसार मे कहा है–

जत्तस्स पहं ठत्तस्स आसण णिवमगस्स वसदीवा ।
गदि–ठाणो–ग्गहकरणे धम्मतिय साधग होदि ।। ५६६ ।।

धर्म, द्रव्य गमन करने वाले को मार्ग सदृश, अधर्म द्रव्य ठहरने वाले को आसन समान, निवास करने वालो को गृह सदृश आकाश द्रव्य सहायक है।

उदयं जह मच्छाणं गमणाणुग्गहयरं हवदि लोए ।
तहजीव–पुग्गलाणं धम्मं दव्वं वियाणेहि ।।
उदकं यथा मत्स्याना गमनानुग्रहकरं भवतिलोके ।
तथा जीव पुग्गलाना धर्मं द्रव्यं विजानीहि ।।८५।।

जैसे लोकमे जल मछलियो के गमन कार्य मे सहायक कारण है, इसी प्रकार जीव तथा पुद्गलो के गमन मे सहायक धर्म द्रव्य है।

विशेष– कर्मो का क्षय होने पर मुक्त जीव अपने उर्ध्वगमन स्वभावानुसार लोकाग्रभाग पर्यन्त जाते हैं। गमन मे सहायक धर्म द्रव्य लोकाकाश पर्यन्त ही है। इससे यह अनत शक्ति युक्त आत्मा भी आगे नही जाता। जैन दर्शन मे जिस पदार्थ का जो स्वरूप, मर्यादा आदि कहा गया है, उसका उल्लघन कोई नहीं करता है, तथा न कर सकता है। सर्वज्ञ वाणी होने से उसमे कहा गया वर्णन पूर्ण सत्य है।

प्रश्न—मुक्तजीव लोक के अग्र भाग तक अपनी योग्यता से जाता है आगे जाने की उसमे योग्यता नही ऐसा मानने मे क्या बाधा है ?

उत्तर—आगम इस धारणा को मिथ्या बताता है। आगम कहता है गमन मे सहायक धर्म द्रव्य है। गमन करने या रुकने मे योग्यता की कल्पना मिथ्यात्व है। नियमसार मे कुन्दकुन्द स्वामी ने कहा है–

जीवाण पुग्गलाणं जाणेहिजाव धम्मत्थ ।
धम्मत्थिकायाभावे तत्तो परदो ण गच्छति ।।१८४।।

जहाँ तक धर्म द्रव्य है, वहाँ तक जीव तथा पुद्गलों का गमन होता है। उसके आगे धर्मास्तिकाय का अभाव होने से गमन नहीं होता। जहाँ तक धर्मास्तिकाय है, वहाँ तक गमन होता है और जहाँ उसका अभाव हो जाता है वहाँ उनका गमन नही होता। इससे गमन में कारण धर्मास्तिकाय को मानना आगम सम्मत है।

यह धर्म द्रव्य गमन में प्रेरक नही, उदासीन सहायक है। जैसे— रेलवे का इंजन जहाँ तक लोह पथ है, वहाँ तक जाता है। जहाँ लोह–पथ नहीं है, वहाँ गमन शक्ति युक्त होते हुए भी वह इंजन नही जाता। यदि आगे रेलवे की लाइन की योजना कर दी जाए, तो वही रुका इजन आगे चला जाता है। इसी प्रकार धर्म द्रव्य रूपी गमन मे सहायक द्रव्य जहाँ तक है, वहाँ तक गमन कार्य होता है और जहाँ सहायक सामग्री नहीं है, वहाँ वह गमन रुक जाता है। यह मान्यता ठीक नही है कि गमन की योग्यता न होने से लोकाग्र तक ही सिद्ध भगवान जाते हैं। कुंदकुंद स्वामी ने यह स्पष्ट कह दिया है कि धर्म द्रव्य के न होने से सिद्ध परमात्मा का आगे गमन नही होता है। उन्होंने योग्यता का उल्लेख नही किया है।

जह हवदि धम्मदव्वं तहतं जाणेह दव्वमधमक्खं।
ठिदिकिरिया जुत्ताणं कारणभूदं तु पुढवीव ।।

यथा भवति धर्मद्रव्यं तथा तज्जानीहि द्रव्यमधर्माख्यं।
स्थिति क्रियायुक्तानां कारणभूतं तु पृथिवीव ।।८६।।

जिस प्रकार धर्मद्रव्य है, उसी प्रकार अधर्म नामका द्रव्य है। यह अधर्म द्रव्य स्थितियुक्त द्रव्यों के ठहरने मे उस प्रकार सहायक है, जैसे पृथ्वी ठहरने मे सहायक है।

विशेष—जैसे भ्रमण करने वाले पथिक को वृक्षादि से युक्त भूमि रुकने में सहायक है, उसी प्रकार अधर्म द्रव्य स्वयं ठहरने वाले द्रव्य का उदासीन रूप सहायक है।

प्र०—जीव और पुद्गलो के गमन मे सहायक धर्मद्रव्य को मानना सुसंगत बात है। रुकने के लिये सहायक द्रव्य की क्या आवश्यकता है?

उ०—वाहन को गमन करने के लिये शक्ति की आवश्यकता है, उसी प्रकार उसके रोकने के लिये भी शक्ति आवश्यक है। मोटर में यदि ब्रेक रूप सामग्री न हो, तो गतिशील मोटर मृत्यु के मन्दिर मे पहुँचाये बिना नहीं रहेगी। इसीलिये जिनागम मे अधर्म द्रव्य का भी सद्भाव स्वीकार किया गया।

जादो अलोगलोगो जेसिं सब्भावदो गमणठिदी।
दो वि य मया विभत्ता अविभत्ता लोयमेत्ता य ।।

जातमलोकलोकं ययो. सद्भावतश्च गमनस्थितिः।
द्वावपि च मतौ विभक्तावविभक्तौ लोकमात्रौ च ।।८७।।

जिन धर्म द्रव्य अधर्म द्रव्य के सद्भाव से लोकअलोक का भेद हुआ है, जिन से जीव पुद्गल मे गमन और स्थिति है वे दोनों परस्पर में भिन्न हैं तथा समस्त लोक में अविभक्त रूप मे विद्यमान हैं।

विशेष—यहाँ यह महत्त्व की बात कही गई है कि लोक और अलोक के विभाजन मे धर्म तथा अधर्म द्रव्य विशिष्ट कारण है। यह भी कहा है, कि धर्म और अधर्म द्रव्य एकत्र रहते हुए भी अपने पृथक् अस्तित्व युक्त हैं। उनमें संघर्ष नही है।

ण य गच्छदि धम्मत्थी गमणं ण करेदि अण्ण-दवियस्स।
हवदि गदी स प्पसरो जीवाणं पुग्गलाणं च ॥

न च गच्छति धर्मास्तिको गमनं न करोति अन्य द्रव्यस्य।
भवति गते सः प्रसरो जीवानां पुद्गलानां च ॥८८॥

धर्मास्तिकाय पवन आदि के समान सचरणशील नही है और न वह बलपूर्वक अन्य पदार्थों का गमन कराता है। वह जीव तथा पुद्गलो के गमन मे सहायता देता है प्रेरक नही है।

विशेष—यहाँ आचार्य ने धर्मद्रव्य को गमनशील नही बताया है। वह द्रव्य गमन मे सहायक मात्र है। सरोवर मे मछली अपनी शक्ति से गमन करती है। उसके गमन में पानी का सद्भाव आवश्यक है। इसी प्रकार सम्पूर्ण जीव और पुद्गलो के गमन मे धर्मद्रव्य को उदासीन सहायक समझना चाहिये।

विज्जदि जेसिं गमणं ठाणं पुण तेसिमेव संभवदि।
ते सग परणामेहिं दु गमणं ठाणं च कुव्वंति ॥

विद्यते येषां गमन स्थान पुनस्तेषामेव सभवति।
ते स्वक परिणामैस्तु गमनं स्थानं च कुर्वन्ति ॥८९॥

जिन द्रव्यो मे गमनपना पाया जाता है तथा स्थिति रूप परिणमन होता है, उनमे पुन अपने कारणो से गमन होता है ठहरना होता है, क्योकि धर्म अधर्म द्रव्य चलने मे, तथा ठहरने मे मुख्य हेतु नही है।

विशेष—यहाँ यह सिद्ध किया है, कि धर्म अधर्म द्रव्य गमन स्थिति में मुख्य हेतु नही है। यदि उन्हें मुख्य हेतु मानते तो जिनका गमन होता है उनका गमन ही होता रहता और जिनकी स्थिति है उनकी स्थिति ही बनी रहती। किन्तु यह देखा जाता है कि जिनका गमन होता है, उनका ठहरना भी होता है और जो ठहरे हुए हैं और वे पुन गमन करते है। इससे यह ज्ञात होता है कि धर्म अधर्म द्रव्य गमन और स्थिति मे मुख्य कारण नही है, किन्तु वे उदासीन कारण हैं।

सव्वेसिं जीवाणं सेसाणं तह य पुग्गलाणं च।
जं देदि विवरमखिलं तं लोए हवदि आयासं ॥

सर्वेषा जीवाना शेषाणा तथैव पुद्गलाना च।
यद्ददाति विवरमखिल तल्लोके भवत्याकाश ॥९०॥

जो सम्पूर्ण जीवो को तथा शेष धर्म, अधर्म, काल और पुद्गल द्रव्यो को अवकाश देता है, लोक मे उसे आकाश कहते है।

विशेष—तत्वार्थ सूत्र मे कहा है "आकाश स्यावगाहः" (सूत्र १८ अध्याय ५) आकाश द्रव्य का कार्य जीवादि द्रव्यो को अवकाश प्रदान करता है।

प्र०—जीव और पुद्गल क्रियावान है। उनको अवकाश देना आकाश का कार्य है। धर्मास्तिकायादिक क्रिया रहित हैं। उनका नित्य सम्बन्ध पाया जाता है। उनका आकाश में अवगाहन है कहना कैसे उचित है?

उ०—यह कथन उपचार से किया जाता है। जैसे गमन न करते हुए भी सर्वत्र सद्भाव रहने से आकाश को सर्वगत कहते हैं, इसी प्रकार धर्म और अधर्म अवगाहन क्रिया के न होते हुए भी अवगाही रूप में उनको कहा जाता है; क्योंकि सर्वत्र उनको देखा जाता है।

शंका—यदि अवकाश देना आकाश का स्वभाव है तो वज्र आदि तथा लोष्ठ आदि के द्वारा गायादिका व्याघात न होता। उनका व्याघात देखा जाता है अतः आकाश अवकाश देता है यह कथन बाधित होता है।

उ०- वज्र लोष्ठ आदि स्थूल पदार्थों का परस्पर मे व्याघात होने से आकाश की अवकाशदान सामर्थ्य को बाधा नही है। वज्रादि का जो व्याघात है, वह परस्पर मे है। वज्र आदि स्थूल होने से एक दूसरे को अवकाश नही देते। यह आकाश का दोष नही है। जो पुद्गल सूक्ष्म है, वे परस्पर मे अवकाशदान करते है।

शका—यदि ऐसा है तो यह आकाश का असाधारण लक्षण नही होगा, क्योकि अन्य पदार्थों में भी वह विशेषता पाई जाती है।

उ०—यह बात ठीक नहीं है। सम्पूर्ण पदार्थों को सामान्य रूप से अवकाश हेतुपना आकाश का असाधारण लक्षण है। इसीलिये कोई दोष नही है।

प्र०- अलोकाकाश मे जीवादि द्रव्यो को अवगाहन नही प्राप्त होता है, इसीलिये आकाश का अवगाहन हेतुपना लक्षण बाधित होता है।

उ०—ऐसा नही है। अलोकाकाश मे जो आकाश है उसमे अवकाश प्रदान करने का स्वभाव विद्यमान है। वहा पदार्थ नही होने से उसकी अवगाहन शक्ति का क्या दोष है? आकाशपने की अपेक्षा लोकाकाश और अलोकाकाश समान हैं। वह अखण्ड एक द्रव्य रूप है।

जीवा पुग्गलकाया धम्माधम्मा य लोगदोणण्णा।
तत्तो अणण्ण-मण्णं आयासं अंत-वदिरित्तं ॥
जीवाः पुद्गलकायाः धर्माधर्मौ च लोक तोऽनन्ये।
ततो ऽनन्यदन्य दाकाशमत-व्यतिरिक्त ॥९१॥

जीव, पुद्गलकाय, धर्म, अधर्म (तथा काल) ये द्रव्य लोक से अनन्य हैं। आकाश अन्त रहित होने से लोक से अन्य है तथा अनन्य भी है।

विशेष—जीवादि द्रव्य तीन सौ तियालीस घन राजू प्रमाण लोकाकाश से अभिन्न है। छह द्रव्य एकत्र पाये जाते है, अनन्त आकाश की अपेक्षा जीवादि कथचित् लोक से अन्य है और अनन्य भी है। लोकाकाश के बाहर केवल आकाश ही आकाश है, वहाँ जीवादि नही है, इसीलिये आकाश को अन्य भी कह सकते है।

आगासं अवगासं गमणट्ठिदि करणेहिं देदि जदि।
उड्ढंगदिप्पधाणा सिद्धा चिट्ठंति किध तत्थ ॥
आकाश मवकाशं गमन स्थितिकारणाभ्यां ददाति यदि।
उर्ध्वंगति प्रधाना. सिद्धाः तिष्ठंति कथं तत्र ॥९२॥

यदि आकाश द्रव्य अवकाशदान के साथ गमन और स्थिति देने वाला बन जाये, तो ऊर्ध्वगमन स्वभाव वाले सिद्ध भगवान् लोक के अग्रभाग मे कैसे रहते?

विशेष यहाँ यह बात स्पष्ट की है कि आकाश गमन और स्थिति का हेतु नहीं है। यदि उसे गमन और स्थिति का हेतु माना जावे, तो ऊर्ध्वगमन स्वभाव वाले सिद्ध भगवान का आकाश मे निरन्तर गमन होगा, क्योंकि गमन मे सहायक सामग्री का अभाव नही है। सिद्ध भगवान लोकाग्र भाव मे विराजमान है। इस सत्य बात को देखते हुए आकाश को गमन और स्थिति का कारण मानना अनुचित है।

जम्हा उवरिट्ठाण सिद्धाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं।
तम्हा गमणट्ठाण आयासे जाण णत्थि त्ति ॥
यस्मादुपरि स्थान सिद्धाना जिनवरै. प्रज्ञप्त।
तस्माद् गमनस्थान माकाशे जानीहि नास्तीति ॥९३॥

सिद्ध भगवान लोक के ऊर्ध्वभाग मे विराजमान है यह बात सर्वज्ञ जिनेश्वर ने कही है। अत आकाश द्रव्य गमन तथा स्थिति का कारण नही है।

विशेष—सर्वज्ञ जिनेश्वर का वचन अन्यथा नही होता। जब उन्होंने कहा है कि सिद्ध परमात्मा लोक के अग्रभाग मे सदा विद्यमान रहते है, तब आकाश को गमन या ठहरने मे सहायक मानने की कल्पना आगम बाधित हो जाती है।

यदि धर्माधर्म के कारण लोकालोक की सीमा निर्धारण न होती तो अनन्त लोकाकाश मे मुक्तात्माओ का निरन्तर गमन होता। उनका एकत्र अवस्थान दिव्य ज्ञानियो के ज्ञानगोचर है। अत वही सत्य है तथा शिरोधार्य है। अन्य कल्पना ठीक नही है।

जदि हवदि गमण हेदू आगासं ठाण कारणं तेसिं।
पसजदि अलोगहाणी लोगस्स य अंतपरिवुड्ढी ॥
यदि भवति गमनहेतुराकाश स्थानकारण तेषा।
प्रसजत्यलोकहानिर्लोकस्य चान्तपरिवृद्धि: ॥९४॥

यदि आकाश को गमन और ठहरने का हेतु माना जाये तो अलोकाकाश का अभाव होगा तथा लोक के अन्त की वृद्धि हो जायेगी।

विशेष—आकाश को गमन तथा ठहरने का हेतु न मानने के विषय मे आचार्य अमृतचन्द्र ने कहा है–

'नाकाश गतिस्थितिहेतु. लोकालोक-सीम-व्यवस्थायास्तथोपपत्ते.।

आकाश गमन तथा स्थिति का कारण नही है, ऐसा मानने पर लोक तथा अलोक की सीमा व्यवस्थित रहती है। अभी जो लोक का स्वरूप आगम मे वर्णित है, वह प्रत्यक्षदर्शी के निर्मल ज्ञान मे प्रतिबिम्बित है– इस प्रकार का निश्चय करना चाहिये। लोक के विषय मे लोकानुप्रेक्षा मे कहा है—

णिरया हवंति हेट्ठा मज्झे दीवंबु–रासयोऽसखा।
सग्गो तिसट्ठि भेयो एत्तो उड्ढ हवे मोक्खो ॥४०॥

जो तीन प्रकार का लोक है, उसमे अधोलोक में नारकियो का निवास है, मध्यलोक में असंख्यात द्वीप तथा समुद्र है, ऊपर त्रेसठ भेद युक्त स्वर्ग है। उसके ऊपर मोक्ष है। इस प्रकार लोक के स्वरूप पर चिन्तवन लोकानुप्रेक्षा मे किया जाता है।

तम्हा धम्मा धम्मा गमणट्ठिदि कारणाणि णागासं।
इदि जिणवरेहिं भणिदं लोगसहावं सुणंताणं ॥

तस्माद्धर्म्माधर्म्मौ गमन-स्थिति कारणे नाकाशं ।
इति जिनवरै भणित लोकस्वभावं श्रृण्वंताम् ॥ ६५ ॥

इस कारण यह बात निश्चय करना चाहिये, कि आकाश द्रव्य गमन और स्थिति मे कारण नही है। गमन और स्थिति मे धर्म और अधर्म द्रव्य कारण है। जिनेन्द्र भगवान ने समवसरण मे श्रोताओ को लोक का यह स्वरूप कहा था।

विशेष—आकाश गमन और स्थिति मे कारण नही है यह तत्त्व समवसरण मे विद्यमान श्रोताओं को भगवान ने कहा था– "जिनवरै. समवशरणे लोक स्वभाव श्रृण्वता भणित" (आचार्य जयसेन)।जिनेन्द्र भगवान ने समवशरण मे लोक के स्वरूप को सुनने वालो के लिये कहा था। यहाँ लोगसहाव सुण ताणं शब्द विशेष ध्यान देने योग्य है। महानमुनि कुन्दकुन्द स्वामी के विदेह गमन की चर्चा दक्षिण के शिलालेखो मे है। उक्त शब्द इस सम्बन्ध मे पुष्टिदायक प्रतीत होता है।

धम्मा धम्मा गासा अपुधब्भूदा समाणपरिमाणा ।
पुधगुवलद्धिविसेसा करंति एगत्तमण्णत्तं ॥

धर्माधर्मा–काशान्यपृथग्भूतानि समान परिमाणानि।
पृथगुपलब्धिविशेषाणि कुर्वंत्येकत्वमन्यत्वं ॥६६॥

ये धर्म तथा आकाश द्रव्य अपृथक रूप है। एक क्षेत्रावगाही है। वे असख्यात प्रदेश रूप समान परिमाण सहित हैं। वे कथचित् पृथक् स्वरूप युक्त हैं, उनमे एकत्व है तथा अन्यत्व भी है।

विशेष– जयसेन आचार्य ने लिखा है इन द्रव्यो मे व्यवहार नय की अपेक्षा एकत्व है और निश्चयनय से अन्यत्व है "व्यवहारेणैकत्व निश्चयेनान्यत्व।"

आगास–काल–जीवा धम्मा धम्माय मुत्ति परिहीणा ।
मुत्तं पुग्गल दव्वं जीवः खलु चेतन स्तेषु ॥

आकास-काल-जीवा धर्माधर्मो च मूर्तिपरिहीनाः ।
मूर्तं पुद्गलद्रव्यं जीवः खलु चेतन स्तेषु ॥६७॥

आकाश, काल, जीव, धर्म, अधर्म मूर्ति रहित है। क्योकि इसमे स्पर्श, रस, गन्ध तथा वर्ण नही पाये जाते। पुद्गल द्रव्य मूर्तिक है, क्योकि उसमे स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण पाये जाते है। जीव को छोडकर सभी द्रव्य अचेतन है। षट् द्रव्यों मे जीव ही चेतन है।

विशेष—स्वभाव की अपेक्षा जीव को अमूर्त कहा है। सिद्ध भगवान शुद्ध अवस्था मे हैं। उनके रूप, रस, गन्ध, स्पर्श नही है। इसीलिये शुद्ध जीव की अपेक्षा जीव को अमूर्त कहा है। पुद्गल कर्मो के बन्धन से युक्त जीव मूर्त है। अमृतचन्द आचार्य ने लिखा है। "अमूर्तः स्वरूपेण जीवः पररूपावेशान्मूर्तोपि" स्वरूप की अपेक्षा जीव अमूर्त है। कर्मबन्धन की अपेक्षा उसे मूर्तिमान कहा है।

आचार्य अकलक देव ने जीव को कथंचित् मूर्तिमान इस युक्ति द्वारा सिद्ध किया है – "मद–मोह–विभ्रम–करी सुरा पीत्वा नष्टस्मृतिर्जन: काष्ठवद परिस्पद उपलभ्यते, कर्मेन्द्रियाभिभवादात्मा नाविर्भूत स्वलक्षणो मूर्त इति निश्चीयते।" (राज अ २. सू. पृ ८१)–मोह, मद तथा विभ्रम उत्पन्न करने वाली मदिरा को पीकर मनुष्य स्मृति शून्य हो काष्ठ की तरह हलन चलन रहित• हो जाता है। इसी प्रकार कर्मेन्द्रियो के पराभूत होने से जीव स्वलक्षण शून्य हो जाता है। इस कारण जीव कथंचित् मूर्तिमान है। कर्मों से पराधीन बनाया गया जीव समस्त जगत् मे भ्रमण करता हुआ अपने द्वारा उपार्जित कर्मों का फल भोगता है। आचार्य नेमिचन्द्र ने जीवकाण्ड मे लिखा है—

जीवाजीव दव्वं रूवा–रूविति होदि पत्तेय ।
संसारत्था रुवा कम्म विमुक्का अरुवगया ॥५६२॥

द्रव्य के जीव और अजीव दो भेद हैं। "जीव मजीवं दव्व।" जीव के रूपी और अरूपी भेद हैं। संसारी जीव रूपी है। कर्म रहित जीव अरूपी है। पंच प्रकार के अजीव द्रव्य में केवल पुद्गल द्रव्य रूपी है। शेष चार द्रव्य अरूपी हैं।

प्रश्न जब आत्मा स्वभाव मे शुद्ध है, कर्मबन्धन रहित है, विकार मुक्त है, तब उसको मूर्तियुक्त मानना कैसे उचित है?

उत्तर अनादि काल से यह जीव अशुद्ध अवस्था मे रहा आया है। जैसे खदान में पड़ा हुआ सुवर्ण, पाषाण किट्टकालिमादि युक्त पाया जाता है। जब अग्नि आदि के सम्बन्ध से उस सुवर्ण पाषाण को सुवर्ण रूपता मिलती है, तब वह स्वच्छ मनोरम सुवर्ण स्वरूप को प्राप्त करता है। अग्नि की तपस्या मे तपने वाला सुवर्ण बहुमूल्य बनता है। उस तपस्वी सुवर्ण का सर्वत्र आदर होता है। इसी प्रकार अनादि से कर्मबन्धन मे पड़े जीव, जब रत्नत्रय की अग्नि मे कर्मरूपी मलिनता को दूर कर देता है, तब उसे शुद्ध, बुद्ध, नित्य, निरजन पद प्राप्त होता है। आशाधर जी ने अनगार धर्मामृत मे लिखा है —

यदाखु–विषवन्मूर्तसम्बन्धनानुभूयते ।
यथास्व कर्मण: पुसा फलं तत्कर्म मूर्तिमत् ॥२–३०॥

मूषक यदि किसी को काट दे तो उसका विष उस व्यक्ति के शरीर मे फैल जाता है, जिससे उसके शरीर मे चूहे के सदृश सूक्ष्म जीव उत्पन्न हो जाते है। जब कर्म फल मूर्त है और मूर्त पदार्थ के सम्बन्ध से ही उसका फल भोगता है इसीलिये कर्म भी मूर्तिमान होना चाहिये, क्योकि जिसका फलानुभव मूर्त पदार्थ के सम्बन्ध से होगा, वह अवश्य मूर्तिमान होगा।

मूर्तिमान बिजली की गर्जना, मेघ का भीषण शब्द या वज्रपात आदि के कारण मनुष्य स्तब्ध हो जाता है। इससे यह ज्ञात होता है कि शरीर मे रहने वाला जीव अमूर्त नही है। अन्यथा उस पर मूर्तिमान आघात व्यर्थ होते।

यदि जीव शुरु मे शुद्ध रहता तो यह ससार का अद्भुत नाटक देखने में नही आता। आप्त परीक्षा मे आचार्य विद्यानदि ने कहा है, यह ससारी जीव कर्मों के कारण शरीर मे रहता है। यह स्वतन्त्र नही है "परतन्त्रो सौ हीनस्थान-परिग्रह-वत्वात्। हीनस्थान हि शरीर तत् परिग्रहवान् संसारी सुप्रसिद्ध एव"-यह जीव परतन्त्र है क्योकि यह अत्यन्त मलिन स्थान मे निवास करता है, वह मलिन स्थान शरीर है। मांस, रुधिर, मलमूत्र आदि दुर्गन्ध युक्त वस्तुओ के पिण्डरूप शरीर मे जो जीव रहता है, वह स्वेच्छा से वहाँ निवास नहीं

करता है। वह पूर्व मे बाँधे गये कर्मो के कारण विवश हो अत्यन्त घृणित देह में निवास करता है। इस परतन्त्रता का कारण जीव के द्वारा उपार्जित पुद्गल कर्म है। यदि जीव प्रारम्भ से विकार विमुक्त होता, तो हाथी, बैल, घोड़ा, मनुष्य, स्त्री, वृक्ष, काक, कोकिल आदि नाना प्रकार के जीवों की उपलब्धि न होती। इस विविधता का कारण कर्म ही है। कर्म का अनादि से सम्बन्ध बीज वृक्ष की तरह चला आ रहा है। इसी प्रकार संसारी जीव और कर्मबन्ध की सन्तति चल रही है। इसी दृष्टि से संसारी जीव को मूर्त माना है और मुक्त जीव को अमूर्त कहा है। जीव के संसारी और मुक्त ये दो भेद किये गये हैं।

पुद्गल भी मूर्त है। वह उसका स्वभाव है। वह रूप रस गन्ध विहीन कभी भी नही हो सकता।

जीवा पुग्गलकाया सह सक्किरिया हवंति ण य सेसा।
पुग्गलकरणा जीवा खंधा खलु कालकरणा दु॥

जीवा पुद्गलकायाः सह सक्रिया भवन्ति न च शेषाः।
पुद्गलकारण जीवा स्कधाः खलु कालकरणास्तु॥९८॥

जीव और पुद्गल काय मे परिस्पंदन रूप क्रिया पाई जाती है। वे दोनो द्रव्य क्रियावान हैं। शेष आकाश धर्म अधर्म और काल निष्क्रिय है। जीव मे सक्रियपने का बहिरंग कारण कर्म, नोकर्म रूप पुद्गल है। उनके अभाव हो जाने से सिद्ध भगवान क्रिया रहित हो जाते है। पुद्गल में सक्रियता का साधन कालद्रव्य है।

विशेष – यहाँ ग्रन्थकार ने कहा है जीव और पुद्गल क्रियाशील द्रव्य हैं। कर्म रहित शुद्ध जीव निष्क्रिय हो जाते है। पुद्गल द्रव्य को निष्क्रिय नहीं कहा। काल द्रव्य की सहायता से वह क्रियाशील होती है। यहाँ गाथा मे स्कन्ध शब्द के द्वारा दोनों प्रकार के (स्कन्ध तथा परमाणु) पुद्गलो को कहा गया है। आचार्य अमृतचन्द ने कहा है "न सिद्धानामिव निष्क्रियत्वं पुद्गलानामिति" सिद्धो के समान पुद्गलों मे निष्क्रियता नही है।

यहाँ यह बात ध्यान देने की है कि पुद्गल के निमित्त से जीव मे क्रिया पाई जाती है। पुद्गल मे जो क्रिया पाई जाती है, उसका कारण कालद्रव्य है।

ससारी जीव कर्म, नोकर्म के कारण क्रियाशील है। जब वह शुक्लध्यान की अग्नि मे कर्मों का क्षय कर देता है, तब वह निष्क्रिय हो जाता है। जीव सिद्धो की अपेक्षा निष्क्रिय है। संसारी अवस्था की दृष्टि से वह सक्रिय है। यह बात पुद्गल मे नही है। पुद्गल मे सक्रियता का कारण काल सर्वदा विद्यमान रहता है; इसीलिये पुद्गल को निष्क्रिय द्रव्य नहीं कहा है।

जे खलु इंदियगेज्झा विसया जीवे हिंहुंति ते मुत्ता।
सेसं हवदि अमुत्तं चित्तं उभयं समादियदि॥

येखलुइंद्रिय ग्राह्या विषयाः जीवैर्भवतिते मूर्ताः।
शेषंभवत्यमूर्त चित्तमुभयं समाददाति ॥९९॥

जीव इंद्रियों के द्वारा इन्द्रियों के विषय स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण स्वभाव वाले पदार्थों को ग्रहण करता है। जो पदार्थ इंद्रियों के द्वारा ग्रहण नही किये जाते, वे अमूर्त हैं। मन मूर्त और अमूर्त पदार्थों को ग्रहण करता है।

विशेष—जीव स्पर्शन आदि इंद्रियों के द्वारा रूप, रस, गन्ध आदि युक्त पदार्थों का परिज्ञान करता है। वे स्पर्श रूप आदि युक्त पदार्थ मूर्त हैं, उनको जीव ग्रहण करता है। इंद्रियों के द्वारा रूप, रस, स्पर्श गन्ध रहित पदार्थों का ज्ञान नहीं होता। इसीलिये यहाँ ग्रन्थकार ने कहा है- जीव इंद्रियों के द्वारा जिन पदार्थों को ग्रहण करता है, वे रूप, स्पर्श आदि गुण युक्त मूर्ति सहित है। इंद्रियों के द्वारा मूर्तिक पदार्थों का ज्ञान होता है। मन के द्वारा मूर्तिक और अमूर्तिक दोनों का ज्ञान होता है। तत्वार्थ सूत्र में लिखा है कि मतिज्ञान और श्रुतज्ञान सम्पूर्ण द्रव्यों की असर्व पर्यायों को जानते हैं। केवलज्ञानी सर्वद्रव्यों की सर्व पर्यायों को प्रत्यक्ष जानते हैं। अमूर्त पदार्थों का ज्ञान मन का विषय है। मन के द्वारा अतीन्द्रिय पदार्थों का परिज्ञान होता है। मन चक्षु इंद्रिय के समान अप्राप्यकारी है और वह अनियत विषय वाला है।

कालो परिणामभवो परिणामो दव्वकाल संभूदो।
दोण्हं एस सहावो कालो खणभंगुरो णियदो।।

कालः परिणामभव. परिणामो द्रव्यकालसभूतः।
द्वयोरेष स्वभाव· काल क्षणभङ्गुरो नियत ।।१००।।

व्यवहार काल की उत्पत्ति में जीव और पुद्गल का परिणमन कारण है। यह जीव और पुद्गल का परिणमन यद्यपि व्यवहार काल का कारण है किन्तु यह स्वयं द्रव्यकाल से उत्पन्न होता है। व्यवहार और निश्चय काल का यह स्वभाव है। व्यवहार काल क्षणभगुर है। निश्चय काल द्रव्य रूप होने से अविनाशी है।

विशेष- सूर्य, चन्द्र आदि मेरु पर्वत की परिक्रमा करते है। तत्वार्थ सूत्र में लिखा है "मेरु प्रदक्षिणा नित्य गतयो नृलोके तत्कृत काल विभाग" (अध्याय ४ सूत्र १३-१४) यह मेरु प्रदक्षिणा का कार्य सदा चला करता है। पैंतालीस लाख योजन प्रमाण जो मनुष्य लोक है उसमें यह मेरु की प्रदक्षिणा का कार्य चला करता है। मनुष्य लोक के बाहर के ज्योतिषी देव स्थिर है। वे गमन नहीं करते। सूर्य चन्द्रादि के विमानों को आभियोग्य जाति के देव भ्रमण कराते है। उनका कर्मोदय विचित्र है "गति-मुखेनैव कर्म विपच्यते" देव विमानों की परिक्रमा द्वारा उनका कर्म उदय होकर क्षय को प्राप्त होता है। ज्योतिषी देव मेरु पर्वत से ग्यारह सौ इक्कीस योजन दूरी पर प्रदक्षिणा करते है। उनके कारण व्यवहार काल होता है।

जीव और पुद्गल के परिणमन को द्रव्य काल की उत्पत्ति में कारण कहा है। यह विशेष बात है कि जीव और पुद्गल के परिणमन द्वारा व्यवहार काल उत्पन्न होता है। वह जीव और पुद्गल का परिणमन द्रव्यकाल से उत्पन्न होता है, क्योंकि द्रव्यकाल का लक्षण वर्तना है। "वट्टणलक्खो हि परमट्ठो" वर्तना कराना ही निश्चय काल का लक्षण है।

सब द्रव्यों में काल में यह विलक्षणता पाई जाती है कि इसके प्रदेश असगठित जुदे-जुदे है। इसमें धर्म, अधर्म, एक जीव आकाश और पुद्गल के समान प्रदेश प्रचय नहीं पाया जाता है। यह बात ज्ञातव्य है कि जीव धर्म, अधर्म और आकाश में मुख्य रूप से प्रदेश प्रचय पाया जाता है। पुद्गल द्रव्य में उपचार से प्रदेश प्रचय माना है। पुद्गल के परमाणु काल द्रव्य के समान पृथक् रूप में पाये जाते है। इस दृष्टि से पुद्गल में अस्तिकायपना नहीं होना था किन्तु पुदगल में स्कन्ध रूप होने पर प्रदेशों का प्रचय पाया जाता है। पूज्यपाद स्वामी ने कहा है अणु एक प्रदेश रूप होते हुए भी पूर्व तथा उत्तर प्रज्ञापन नय की अपेक्षा से उपचार रूप से प्रदेश प्रचयवान् कहा गया है "कालस्य पुनर्द्वेधाऽपि प्रदेश-प्रचय-कल्पना नास्तीत्यकायत्वम्" (स. सि पृ २००) कालद्रव्य में मुख्य तथा उपचार दोनों प्रकार का प्रदेश प्रचय नहीं होता है इसीलिये काल की अकाय में गणना की है।

यद्यपि यह काल अस्तिकाय नहीं है किन्तु इससे द्रव्यपने को बाधा नहीं है। इसमे गुण पर्याय रूप द्रव्य का लक्षण पाया जाता है। काल का वर्तनापना अर्थात् वर्तना हेतुत्व असाधारण गुण है। काल में अचेतनत्व, अमूर्तत्व, सूक्ष्मत्व, अगुरु–लघुत्व आदि सामान्य गुण है। काल मे ध्रौव्यपना है। स्वप्रत्यय जनित स्वभाव उसमें पाया जाता है। व्यय और उत्पाद भी उसमे है। अगुरु लघु गुण जनित हानि वृद्धि का भी सद्–भाव उसमें पाया जाता है। काल द्रव्य सब द्रव्यों के समान है। केवल उसमें अन्तर यही है कि वह मुख्य तथा उपचार दोनो तरह के प्रदेश प्रचयो से रहित है। अत: पचास्तिकाय मे उसकी परिगणना नही हुई है।

निश्चय काल पर्यायो के आधार द्रव्ययुक्त होने से अविनश्वर है, नित्य है, तथा व्यवहार काल क्षण–भगुर होने से अनित्य है। गोम्मटसार जीवकाण्ड में कहा है--

दव्वं छक्कमकाल पचत्थीकाय–सण्णिदे होदि ।
काले पदेसपचयो जम्हा णत्थित्ति णिद्दिट्ठ ॥६१६॥

छह प्रकार की द्रव्य है, उसमे काल को छोडकर शेष को पचास्तिकाय यह संज्ञा प्रदान की गई है क्योंकि काल मे प्रदेश प्रचय नही है।

कालो त्ति य ववदेसो सब्भाव परुवगो हवदि णिच्चो।
उप्पण्णप्पद्धंसी अवरो दीहंतरट्ठाई ॥

काल इति च व्यपदेश. सद्भाव प्ररूपको भवतिनित्य:।
उत्पन्न प्रध्वंस्यपरो दीर्घातर–स्थायी ॥ १०१ ॥

यह काल है। अय काल· अय काल· इस प्रकार का सदा किया जाने वाला व्यपदेश काल के सद्भाव का परिज्ञान कराता है। यह निश्चय काल अविनाशी है। व्यवहार काल उत्पाद और विनाश युक्त है।

विशेष काल यह शब्द है। उसके द्वारा वाच्य या अभिधेय रूप काल का सद्भाव मानना उचित है। जो शब्द होते हैं वे किसी पदार्थ के वाचक है। स्वामी समन्तभद्र ने आप्तमीमासा में जीव के सम्बन्ध मे जो बात कही है वही नियम यहाँ भी उपयुक्त है। उन्होने लिखा है जीव शब्द है तो उसका वाच्य जीव अर्थ होना चाहिये। इसी प्रकार यहाँ काल शब्द द्रव्य रूप काल के सद्भाव का ज्ञापक है। अमृतचन्द्र आचार्य कहते है– "निश्चयकालो नित्य द्रव्यरूपत्वात्। व्यवहार काल क्षणिक. पर्यायरूपत्वात्"–द्रव्य रूप होने से निश्चय काल नित्य है पर्याय रूप होने से व्यवहार काल क्षणिक है।

एदे कालागासा धम्माधम्मा य पुग्गला जीवा।
लब्भंति दव्वसण्ण कालस्स दु णत्थि कायत्तं ॥

एत्ते कालाकाशे धर्माधर्मौ च पुद्गला जीवा:।
लभंते द्रव्यसंज्ञा कालस्य तु नास्ति कायत्वं ॥१०२॥

काल, आकाश, धर्म, अधर्म, पुद्गल और जीव इनमे द्रव्य का लक्षण पाया जाने से इन छह को द्रव्य कहा जाता है। बहुप्रदेशी न होने के कारण काल को काय नही कहा गया है। काल के प्रदेश पृथक्–पृथक् हैं।

विशेष—इस ग्रन्थ को पचास्तिकाय कहा गया है क्योंकि इसमे बहुप्रदेशी द्रव्यों पर दृष्टि रखकर नामकरण किया गया है, काल अस्तिकाय न होने से उसे मुख्यता नहीं दी गई है।

एवं पवयणसारं पंचत्थियसंगहं वियाणित्ता।
जो मुयदि रायदोसे सो गाहदि दुक्खपरिमोक्खं ।।
एवं प्रवचनसारं पंचास्तिकाय संग्रहं विज्ञाय।
यो मुंचति रागद्वेषौ स गाहते दुःखपरिमोक्षं।।१०३।।

यह पंचास्तिकाय संग्रह ग्रन्थ सम्पूर्ण प्रवचन अर्थात् आगम का सार है। इस शास्त्र का सम्यक् रूप से परिज्ञान करके जो संसार परिभ्रमण के कारण राग तथा द्वेष का परित्याग करता है, वह दुःखों के क्षय रूप मोक्ष को प्राप्त करता है।

विशेष--आचार्य कुन्दकुन्द ने इस ग्रन्थ को 'पंचत्थि संग्रह' कहा है और उसे पवयणसार-प्रवचन का सार कहा है। ग्रन्थ की १७३ नम्बर की गाथा में लिखा है "भणियं पवयणसारं पंचत्थिसंग्रहं सुत्तं"--प्रवचन अर्थात् जिनवाणी का सार यह पंचास्तिकाय संग्रह सूत्र कहा है। दो बार ग्रन्थकार ने इस ग्रन्थ को प्रवचन का सार बताया है। ग्रन्थकार की प्रवचनसार नाम की महत्त्वपूर्ण रचना है। उसके होते हुए भी इस ग्रन्थ को प्रवचनसार लिखना यह ध्वनित करता है कि ऋषिराज ने जिनागम का रहस्य संक्षेप में इस शास्त्र में निबद्ध किया है। अतः यह ग्रंथ विशेष महत्त्वपूर्ण है।

ग्रन्थकार ने कहा है, शास्त्रज्ञान करने के बाद जो व्यक्ति राग और द्वेष का त्याग करता है, वह मोक्ष को पाता है। इससे यह बात स्पष्ट होती है कि मोक्ष का साक्षात् कारण चारित्रमोहनीय कर्म के भेद राग और द्वेष का परित्याग करना आवश्यक है। स्वामी समन्तभद्र ने रत्न करंड श्रावकाचार में कहा है--साधु राग और द्वेष की निवृत्ति के लिये संयम की शरण में जाता है--

मोहतिमिरापहरणे दर्शनलाभादवाप्त संज्ञानः।
रागद्वेष-निवृत्त्यै चरणं प्रतिपद्यते साधुः ।।४७।।

मोह रूपी अन्धकार के दूर होने पर अर्थात् दर्शन मोहनीय के दूर होने पर सम्यक्त्व और सम्यग्ज्ञान प्राप्त करता है। वह साधु राग और द्वेष दूर करने के लिये सम्यक्त्व चारित्र को स्वीकार करता है।

आगम के रहस्य को न समझने वाले कहते हैं कि चारित्र परिपालन के बिना राग-द्वेष से मुक्ति हो जायेगी।

श्वेताम्बरत्वे न दिगम्बरत्वे न तत्ववादे न च तर्कवादे।
न पक्ष-सेवाश्रयणेण मुक्तिः कषायमुक्तिः किलमुक्तिरेव ।।

श्वेताम्बरपने या दिगम्बरपने में मुक्ति नहीं है न तत्ववाद और न तर्कवाद से मोक्ष मिलता है। पक्ष विशेष के अवलंबन द्वारा भी निर्वाण का लाभ नहीं होगा, जब तक कषायों से छुटकारा नहीं होगा तब तक मुक्ति नहीं मिलेगी क्योंकि कषायों से मुक्ति ही मुक्ति है।

इस प्रसंग में यह बात गहराई से सोचने की है कि राग द्वेष रूप कषाय से छुटकारा पाने का कौनसा उपाय है? धन धान्य आदि सामग्री का संग्रह करने वाला गृहस्थ राग-द्वेष के अन्धकूप में डूबा रहता है। बिना हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील तथा परिग्रह का पूर्णतया परित्याग किये राग-द्वेष की निवृत्ति या कषाय का क्षय असम्भव है। जिस प्रकार खटमलों से भरी हुई शैय्या पर शयन करने वाला व्यक्ति सुखद नींद का लाभ नहीं उठा सकता, उसी प्रकार वस्त्रादि सामग्री धारण करने वाले को समता और वीतरागता की प्राप्ति

असम्भव है। जब व्यक्ति के पास पदार्थ हैं, तो उनका अवलम्बन लेकर कभी राग, कभी द्वेष सहज हो जाया करता है।

यदि परिग्रह आदि का परित्याग आत्म-निर्मलता का मुख्य अंग न होता, तो तीर्थंकर जैसी अद्वितीय आत्मा, घर में रहती हुई कषायों का क्षय करके मोक्ष चली जाती। उन्होंने दीक्षा लेकर जो तपोवन की ओर प्रस्थान किया, वह व्यर्थ नहीं है। आत्मा को अन्तर्मुख बनाने के लिये उसकी मानसिक शान्ति को क्षति पहुँचाने वाली बाह्य सामग्री का परित्याग आवश्यक है। बाह्य परिग्रह, धन धान्य आदि सामग्री राग, द्वेष रूपी विकारों को पोषण प्रदान करती है इसीलिये दु.ख-क्षय के लिये सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान सम्पन्न सत्पुरुष चारित्र द्वारा साध्य रूप राग द्वेष की निवृत्ति के लिये प्रयत्न करता है। अतः सम्यक्चारित्र का परिपालन मोक्ष के लिए परम आवश्यक है। पाप प्रवृत्ति अथवा अशुभ प्रवृत्ति का त्याग रूप चारित्र को अंगीकर किये बिना मन कषाय विमुक्त नहीं हो सकता। अत: चारित्र का मूल्यांकन नहीं भुलाना चाहिए।

आत्मानुशासन में गुण भद्र आचार्य ने कहा है 'रागद्वेषौ बाह्यार्थं संबद्धौ तस्मात्तां श्चपरित्यजेत् २३७' राग द्वेष भाव बाह्य पदार्थ पर आश्रित है, अत. रागद्वेष से मुक्त होने के लिए बाह्य पदार्थ का परित्याग करना चाहिए।

मुणिऊण एतदट्ठं तदणुगमणुज्झदो णिहदमोहो।
पसमिय-राग देसो हवदि हव परावरो जीवो॥
शात्वैतदर्थं तदनुगमनोद्यतो निहतमोहः।
प्रशमितराग-द्वेषो भवति हतपरापरो जीवः॥१०४॥

जो इस ग्रन्थ के रहस्य रूप चैतन्य स्वरूप आत्मा को जानता है, उस मार्ग का अनुकमण करता है वह दर्शन मोहनीय का क्षय करता है। वह प्रशान्त रागद्वेष मुक्त अवस्था को प्राप्त करता है। वह वीतराग और वीतद्वेष होकर संसार का नाश करता है।

विशेष-- यहाँ शास्त्र के रहस्य का परिज्ञान करने के साथ तदनुसार निर्मल आचरण की आवश्यकता कही है। जो जीव दर्शन मोहनीय रूपी शत्रु का क्षय करता हुआ समता भाव की शरण लेता है वह चारित्र परिपालन के द्वारा राग द्वेष को दूर करता है। वह वीत-राग वीत-द्वेष आत्मा परापर अर्थात् संसार से विमुक्त होता है। यहाँ परापर का अर्थ इस प्रकार टीकाकार ने किया है—"परशब्द वाच्यान्मोक्षदपरो भिन्नः परापरः संसार इतिहेतोः बिनाशित' परापरो येन सः भवति हतपरापरो नष्ट संसार."—पर शब्द वाच्य मोक्ष से भिन्न पर से अपर अर्थात परापर ससार है। जिसने परापर अर्थात् संसार का विनाश किया है वह संसार का नाश कर मोक्ष प्राप्त करता है। सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग करने पर आत्मा मोक्ष प्रदान करने में प्रमुख सहायक ध्यान करने में समर्थ होता है।

णाणेण झाणसिद्धी झाणादो सव्वकम्मणिज्जरणं।
णिज्जरफल च मोक्खं णाणब्भासं तदो कुज्जा॥१५७॥ रयणसार

ज्ञान के द्वारा ध्यान की सिद्धि होती है। ध्यान के द्वारा सम्पूर्ण कर्मों की निर्जरा होती हैं। निर्जरा का फल निर्वाण है इसीलिए शास्त्राभ्यास करना चाहिए।

द्रव्यसंग्रह में कहा है—

दुविहं पि मोक्खहेउं झाणे पाउणदि जं मुणी णियमा।
तह्मा पयत्तचित्ता जूयं झाणं समब्भसह॥४८॥

मुनीश्वर व्यवहार और निश्चय मोक्ष के कारण ध्यान में प्राप्त करता है। इसलिए ध्यान का अभ्यास करना चाहिए।

ध्यान करने की पात्रता महान मनोबली आत्मा मे होती है। भावसग्रह मे कहा है कि ध्यान करने वाले व्यक्ति को परिग्रह रहित, मोह रहित, सुदृढ शरीर युक्त तथा स्थिरचित्त होना चाहिए।

ज्ञानार्णव मे आचार्य शुभचन्द्र ने लिखा है—

रागाद्यभिहत चेत. स्वतत्त्व विमुख भवेत्
तत. प्रच्यवते क्षिप्र ज्ञानरत्नाद्रिमस्तकात् ।१४।

जो चित्त रागादि से दूषित है वह स्वतत्व अर्थात् आत्मतत्व से विमुख हो जाता है, इसीलिए इससे मनुष्य ज्ञान रूप रत्नमय पर्वत के शिखर से शीघ्र च्युत हो जाता है।

इस प्रकार षड्द्रव्य–पचास्तिकाय का वर्णन करने वाला प्रथम श्रुतस्कन्ध समाप्त हुआ।

अभिवंदिऊण सिरसा अपुणब्भवकारणं महावीरं ।
तेसिं पयत्थभंगं मग्गं मोक्खस्स वोच्छामि ॥
अभिवंद्य शिरसा अपुनर्भवकारण महावीर ।
तेषां पदार्थभगं मार्ग मोक्षस्य वक्ष्यामि ॥१०५॥

संसार मे पुन भव धारण करने से बचाकर संसार परिभ्रमण विमुक्त मोक्ष पद प्राप्ति मे कारण भगवान महावीर को मस्तक द्वारा अभिवदना करने के उपरान्त मै (कुंदकुद आचार्य) मोक्ष का मार्ग तथा नव पदार्थ रूप भग का कथन करूँगा।

विशेष - शका - भक्ति मे गुणानुराग पाया जाता है। राग परिणाम बध का कारण कुदकुद स्वामी ने कहा है "रत्तोबधदि कम्मं"–रागी जीव बध को प्राप्त करता है। अत. महावीर भगवान को अपुनर्भव का कारण कहना कैसे सुसंगत है ?

उत्तर – वीतराग की भक्ति पुण्य बध का कारण है यह सत्य है, किन्तु उस भक्ति के द्वारा पाप का क्षय होता है यह विशेष बात है। भक्तामर स्तोत्र मे कहा है—

त्वत्सस्तवेन भवसतति सन्निबद्ध ।
पाप क्षणात्क्षयमुपैति शरीर भाजाम् ।
आक्रान्तलोक मलिनील मशेषमांशु ।
सूर्यांशु भिन्नमिव शार्वर मधकारम् ॥

हे जिनेन्द्र ! जीवो के अनेक भवों मे सचित किए पाप आपके स्तवन द्वारा क्षण भर में क्षय को प्राप्त होते हैं, जैसे लोक मे व्याप्त भ्रमर सदृश श्याम वर्ण रात्रि का अंधकार सूर्य की किरणों से नाश को प्राप्त होता है।

वीतराग के दर्शन की अद्भुत महिमा है। उससे अभीष्ट पदार्थ की प्राप्ति होने के साथ पाप का क्षय होता है।

दर्शनं देवदेवस्य दर्शनं पाप नाशनम् ।
दर्शन स्वर्ग सोपानं दर्शनं मोक्ष साधनम् ॥

जिनेन्द्र भगवान का दर्शन पाप नाश करने में कारण है। स्वर्ग के लिए सोपान है एवं मोक्ष का साधन है।

प्रश्न—जो बंध का कारण है वह मोक्ष का कारण कैसे होगा ?

उत्तर— आचार्य अकलंक देव ने राजवार्तिक में कहा है कि एक कारण से अनेक प्रकार के कार्य होते है। एक अग्नि भोजन का परिपाक जलाना आदि कार्यों को करती है। स्वयं कुंदकुंद स्वामी ने जहाँ समयसार में व्रतादि को पुण्यबंध का कारण कहा है (गाथा २६४ समयसार) वहाँ उन्होंने अपनी अनुप्रेक्षा गाथा ६२ में संवर का कारण भी बताया है। उसे निर्जरा का कारण भी कहा है। जिनेन्द्र भक्ति के बारे में शास्त्र में कहा है—

एकापि समर्थेयं जिनभक्तिः दुर्गतिं निवारयितुम।
पुण्यानि च पूरयितु दातुं मुक्तिश्रियं कृतिनः॥

यह अकेली जिनेन्द्र भक्ति दुर्गतिगमन को दूर करती है, पुण्य की प्राप्ति का कारण है और भव्यजीव को मोक्ष लक्ष्मी प्रदान करती है। स्वयं कुंदकुंद स्वामी ने भाव पाहुड में जिनेन्द्र भक्ति को संसार रूपी बेल के विनाश करने मे समर्थ कहा है।

जिणवर चरण वुरुहं णमंति जे परमभत्तिराएण।
ते जम्मवेलि मूलं खणंति वरभाव सत्थेण॥१५१॥

जो जिनेन्द्र भगवान के चरण कमलो को परमभक्ति युक्त अनुराग भाव से प्रणाम करते हैं, वे उज्ज्वल भाव रूप शस्त्र के द्वारा जन्मरूपी बेल की जड़ को नष्ट करते हैं। इसलिए जिनेन्द्र भक्ति को आत्म कल्याण के लिए कल्पवृक्ष सदृश समझना चाहिए। आचार्य पूज्यपाद ने शांति भक्ति में कहा है कि श्रेष्ठ सुख "त्वच्चरणारविंद-युगल स्तुत्यैव सप्राप्यते" ॥६॥ आपके चरण कमल की स्तुति के द्वारा प्राप्त होता है।

सम्मत्त-णाण जुत्तं चारित्तं रागदोस परिहीणं।
मोक्खस्स हवदि मग्गो भव्वाणं लद्धबुद्धीणं॥
सम्यक्त्व-ज्ञान युक्तं चारित्रं रागद्वेष परिहीनं।
मोक्षस्य भवति मार्गो भव्यानां लब्धबुद्धीनां॥१०६॥

विशुद्ध ज्ञानयुक्त भव्यात्माओं के सम्यग्दर्शन और सम्यक ज्ञान सहित रागद्वेष विमुक्त चारित्र मोक्ष का मार्ग कहा गया है।

विशेष— नियमसार में मार्ग और मार्गफल ये दो भेद कहे हैं। मोक्ष का उपाय मार्ग है और उसका फल निर्वाण है। यहाँ ग्रन्थकार ने मोक्ष का उपाय भव्य जीवो के लिये सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र कहा है। तत्वार्थ सूत्र मे कहा है "सम्यग्दर्शन, ज्ञान-चारित्राणि मोक्ष मार्गः" यह मोक्ष मार्ग का कथन भव्य जीवों के हितार्थ किया गया है। अभव्य जीव मे मोक्ष गमन की पात्रता नही है।

पूज्यपाद स्वामी ने लिखा है कि सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्र तीनों मिलकर मोक्ष प्राप्ति के उपाय हैं। अज्ञान सागर में डूबे हुये व्यक्ति चारित्रविहीन ज्ञान को मोक्ष का मार्ग कहते हैं; कोई व्यक्ति श्रद्धानमात्र को ही निर्वाण का पद निरूपण करते हैं; कोई ज्ञान रहित केवल चारित्र से मोक्ष की प्राप्ति मानते हैं। आचार्य

` यह बात विचारणीय है कि यहाँ कुंदकुंद स्वामी ने महावीर को प्रणाम किया है। उन्होंने सीमंधर भगवान की स्तुति नहीं की है, इससे इस ग्रंथ के आधार पर विदेह गमन की बात विचारणीय हो जाती है।

कहते है "एवं व्यस्तं ज्ञानादि मोक्षप्राप्त्युपायो न भवति"। इस प्रकार अकेला ज्ञान श्रद्धान अथवा चारित्र मोक्ष का उपाय नही है 'किं तर्हि ? तन्नितय'–फिर क्या है ? दर्शन, ज्ञान और चारित्र तीनों मोक्ष मार्ग है इनके साथ सम्यक्पना चाहिये। केवल दर्शन या ज्ञान या चारित्र संसार के बन्धन से नही छुडावेंगे इसीलिये सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र तीनो को मिलकर मोक्ष का मार्ग कहा है।

सामान्यतया दर्शन का अर्थ देखना है। यहाँ मोक्षमार्ग का प्रकरण होने से श्रद्धान अर्थ ग्रहण किया है। यदि दर्शन शब्द का अर्थ देखना माना जाये तो जिस मनुष्य के नेत्र दर्शन–शक्ति विहीन हैं वह मोक्षमार्ग का पात्र नही होगा।

वह मोक्षमार्ग दो प्रकार का है। तत्वार्थ सार मे कहा है- -

निश्चय व्यवहाराभ्यां मोक्षमार्गो द्विधा स्थित. ।
तत्राद्य. साध्यरूप. स्याद् द्वितीयस्तस्य साधनम् ॥

वह मोक्षमार्ग निश्चय और व्यवहार मोक्षमार्ग के भेद से दो प्रकार का है। व्यवहार मोक्षमार्ग के द्वारा निश्चय मोक्षमार्ग प्राप्त होता है। इसीलिये व्यवहार मोक्षमार्ग साधन रूप है और निश्चय मोक्षमार्ग साध्य रूप है। साधन के द्वारा साध्य प्राप्त होता है इसीलिये प्रथम व्यवहार मोक्षमार्ग का अवलम्बन लेना उचित है। दर्शन पाहुड मे लिखा है—

जीवादी सद्दहणं सम्मत्तं जिणवरेहिं पण्णत्त ।
ववहारा णिच्छयदो अप्पाण हवइ सम्मत्त ॥२०॥ द. पा.

जिनेन्द्रदेव ने व्यवहारनय से जीव आदि का श्रद्धान सम्यक्त्व कहा है। निश्चयनय से 'अप्पाणं सद्दहण'— आत्मा का श्रद्धान सम्यक्त्व कहा है। उन्होने सम्यग्दर्शन को "सोवाणं पढम मोक्खस्स" (२१)— मोक्ष की प्रथम सीढी कहा है।

अकलंक स्वामी ने राजवार्तिक मे ये दो पद्य उद्धृत किये है—

हत ज्ञानं क्रियाहीनं हता चाज्ञानिनां क्रिया ।
धावन् किलान्धको दग्ध· पश्यन्नपि च पंगुलः ॥

क्रियाविहीन ज्ञान प्राणहीन है। अज्ञानियो की क्रिया भी कार्यकारी नहीं है। अन्धा जंगल मे आग लग जाने पर गमन रूप क्रिया करता हुआ भी जल जाता है। लगडा व्यक्ति अग्नि के मध्य अपने को पाता हुआ चल न सकने के कारण जल जाता है।

सयोगमेवेह वदंति तज्ज्ञाः न ह्येकचक्रेण रथः प्रयाति ।
अंधश्च पगुश्च वने प्रविष्टौ तौ संप्रयुक्तौ नगर प्रविष्टौ ॥

ज्ञान और आचार का सयोग चाहिये। एक चके से रथ नही चलता। अन्धे और लगड़े वन मे पहुँच गये। उन दोनों का संयोग हो जाने से वे बिना जले नगर मे पहुँच गये। अन्धे ने अपनी पीठ पर लंगड़े को बिठा लिया, नेत्रयुक्त लंगडे ने रास्ता बताया, गमन शक्ति युक्त अन्धे ने गमन किया। इस तरह दोनों के संयोग होने पर उनकी रक्षा हो गई। अकलंक स्वामी ने रसायन का उदाहरण दिया है। रसायन के ज्ञान, रसायन के केवल श्रद्धान से आरोग्य नहीं मिलता। रसायन का सेवन भी चाहिये। इसीलिये सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र को मोक्ष का मार्ग जैनागम मे माना है। वे तीनो जुदे २ संसार के मार्ग हैं।

सम्मत्तं सद्दहणं भावाणं तेसि मधिगमो णाणं।
चारित्तं समभावो विसयेसु विरुढ मग्गाणं ॥
सम्यकत्वं श्रद्धान भावानां तेषामधिगमो ज्ञानं।
चारित्रं समभावो विषयेषु अविरूढमार्गाणाम् ॥१०७॥

छह द्रव्य, नव पदार्थों का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। उनका अवबोध सम्यग्ज्ञान है। राग, द्वेष रूप विषमता रहित समभाव चारित्र है। यह रत्नत्रय विषयों से विमुख मोक्षमार्ग में स्थित जीवों के होता है।

विशेष—जीवादि भावों अर्थात् पदार्थों का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। उन भावों का स्पष्टीकरण आगे की गाथा में किया गया है। मोक्ष मार्ग का प्राण सम्यक्त्व है। उसकी कुन्दकुन्द स्वामी ने अनेक रूप में प्रतिपादना की है। मोक्षपाहुड में सामान्य बुद्धि के लोगों की समझ में आने योग्य यह व्याख्या दी है—

हिंसा रहिए धम्मे अट्ठारह-दोस-वज्जिए देवे।
णिग्गंथे पावयणे सद्दहणं होइ सम्मत्तं ॥९०॥ मो. प.

हिंसा रहित धर्म, अठारह दोष रहित देव, निर्ग्रन्थ गुरु और उनकी वाणी का श्रद्धान करना सम्यक्त्व है।

नियमसार में सम्यक्त्व के विषय में इन्होंने कहा है—

अत्तागम-तच्चाण-सद्दहणादो हवेइ सम्मत्तं।
ववगय-असेसदोसो-सयलगुणप्पा हवे अत्तो ॥५॥

जिनमें राग, मोह, चिन्ता, भय, क्षुधा आदि अष्टादश दोष नहीं है, ऐसे आप्त (भगवान) सर्वज्ञ के मुख से उत्पन्न वाणी रूप आगम तथा तत्वों का श्रद्धान करना सम्यक्त्व है। यहाँ उन्होंने तत्वों का स्वरूप छह द्रव्यों के नाम से बताया है—

जीवा पोग्गलकाया धम्मा धम्मा य काल आयासं।
तच्चत्था इदि भणिदा णाणागुण पज्जएहिं संजुत्ता ॥९॥

जीव, पुद्गल काय, धर्म, अधर्म, काल, आकाश द्रव्य तत्त्वार्थ कहे गये हैं। ये नाना गुण और पर्यायों से सहित हैं।

दर्शन पाहुड में उन्होंने सम्यक्त्व के विषय में इस प्रकार कथन किया है—

छद्दव्व णव पयत्था पंचत्थी सत्त तच्च णिदिट्ठा।
सद्दहइ ताण रूवं सो सद्दिट्ठी मुणेयव्वो ॥१९॥

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये छह द्रव्य हैं। जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये नव पदार्थ हैं। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म आकाश ये पंचास्तिकाय हैं। जीव अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा तथा मोक्ष ये सात तत्व प्रतिपादित किये गये हैं। उनके स्वरूप का श्रद्धान करने वाले को सम्यक्त्वी जानना चाहिये।

पदार्थों के यथार्थ रूप का अवबोध सम्यग्ज्ञान है। समन्तभद्र स्वामी ने कहा है—

अन्यून मनतिरिक्तं याथातथ्यं विना च विपरीतात् ।
निः सन्देहं वेद, यदाहुस्तज्ज्ञान मागमिनः ॥४२॥

जो पदार्थ जैसा हो उसको न्यूनतारहित अथवा अधिकता रहित तथा विपरीत पने से रहित, सन्देह रहित जानना है उसे सम्यग्ज्ञान जानो ।

यहाँ गाथा में समभाव को चारित्र कहा है । प्रवचन सार में भी समभाव को धर्म तथा चारित्र शब्द से कहा है—

चारित्त खलु धम्मो धम्मो जो सो समोत्ति णिद्दिट्ठो ।
मोहक्खोह विहीणो-परिणामो अप्पणो हु समो ॥७॥

चारित्र ही धर्म है । वह धर्म राग द्वेष रहित समता भाव रूप कहा गया है । मोह और क्षोभ रहित जो आत्मा का परिणाम है वह समभाव है । चारित्र के विषय में द्रव्यसंग्रह में इस प्रकार प्रकाश डाला है—

असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्त ।
वदसमिदि गुत्ति रूवं ववहारणया दु जिण भणिय ॥

व्यवहार नय से जिनेन्द्र भगवान ने चारित्र का स्वरूप अशुभ से निवृत्ति तथा शुभ मे प्रवृत्ति को चारित्र कहा है, वह व्रत समिति गुप्ति रूप है । चारित्र के दूसरे भेद निश्चय चारित्र का स्वरूप इस प्रकार कहा है—

बहिरब्भन्तर-किरियारोहो भवकारणप्पणासट्ठं ।
णाणिस्स ज जिणुत्तं तं परम सम्मचारित्त ॥ ४७ ॥

संसार के कारणों का नाश करने के लिये ज्ञानी पुरुष बाह्य तथा अभ्यन्तर क्रिया का निरोध करता है । उसे जिन भगवान ने निश्चय सम्यक् चारित्र कहा है । स्वामी समन्तभद्र ने कहा है—

हिंसा नृत चौर्येभ्यो मैथुनसेवा परिग्रहाभ्या च ।
पाप-प्रणालिकाभ्यो विरतिः संज्ञस्य चारित्रम्॥४९॥

पापो के आगमन के द्वार हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह का त्याग करने को सम्यग्ज्ञानी का चारित्र कहा गया है । चारित्रपाहुड ग्रन्थ मे कुन्दकुन्द स्वामी ने कहा है—चारित्र के दो भेद हैं एक सावयधम्म दूसरा—जइधम्म अर्थात् एक श्रावक धर्म दूसरा यति धर्म है । यति धर्म को यहाँ मुनियो को संयम चरण कहा है —

पचिन्दिय सवरणं पंचवया पचविस किरियासु ।
पचसमिदि-तयगुत्ती संजम चरण निरायारं ॥ २७ ॥

पंचेन्द्रिय जय, पंचमहाव्रत, पच्चीस क्रिया, पंच समिति, तीन गुप्ति इस प्रकार मुनियो का संयम-चरण कहा है ।

गृहस्थों का संयम-चरण दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषधोपवास, सचित्त त्याग, रात्रि भुक्ति त्याग, ब्रह्मचर्य, आरम्भ त्याग परिग्रह त्याग, अनुमति त्याग, उद्दिष्ट त्याग इन ग्यारह प्रतिमा रूप श्रावक धर्म कहा है ।

जीवाजीवा भावा पुण्णं पावं च आसवं तेसिं ।
संवर-णिज्जर-बंधो मोक्खोय हवंति ते अट्ठा ।।

जीवाजीवौ भावौ पुण्यं पापं चाश्रवस्तयोः ।
संवर-निर्जरा-बंधा मोक्षश्च भवंति ते अर्थाः ।।१०८।।

जीव, अजीव (भिन्न स्वभाव वाले मूल पदार्थ हैं), पुण्य पाप, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा तथा मोक्ष ये नव पदार्थ हैं।

विशेष—चेतना लक्षण युक्त जीव है। व्यवहारनय से इन्द्रिय, बल, आयु और श्वासोच्छ्वास युक्त जीव का स्वरूप कहा है। इनसे भिन्न स्वभाव वाला अजीव है। इन जीव और अजीव के निमित्त से अन्य सात पदार्थ कहे हैं। जीव का जो शुभ परिणाम है उसके निमित्त से पुद्गलो का कर्म रूप परिणमन होना पुण्य है। जीव के अशुभ-परिणाम द्वारा पुद्गल का कर्म रूप परिणमन होना पाप पदार्थ है। इस विषय मे कहा है—

सुह असुह भाव जुत्ता पुण्णं पावं हवन्ति खलु जीवा।
सादं सुहाउ णामं गोदं पुण्णं पराणि पावं च (द्र. स. ३६)

शुभ भाव युक्त जीव निश्चय से पुण्य रूप है। अशुभ भाव से युक्त जीव पाप रूप है। साता वेदनीय, शुभ आयु, शुभ नाम और शुभ गोत्र ये पुण्य के भेद हैं। चार घातिया कर्म पाप रूप है। असाता वेदनीय, अशुभ आयु, अशुभ नाम, अशुभ गोत्र ये भी पाप प्रकृति कही गई हैं। जो जीव के राग द्वेष तथा मोह रूप परिणामो के निमित्त से उत्पन्न योग के द्वारा कर्म रूप परिणत होने वाले पुद्गलों का ग्रहण किया जाता है वह आस्रव है। आत्मा के और कर्मों के प्रदेशों का परस्पर में संश्लेष हो जाना बन्ध है। जिन भावों से कर्म आते हैं, उनका निरोध करना संवर है। कर्मों का एक देश क्षय लक्षण निर्जरा है। सम्पूर्ण कर्मों का क्षय हो जाना मोक्ष है।

जहाँ सप्ततत्वो का निरूपण किया गया है वहाँ पुण्य और पाप का पृथक् वर्णन नही किया है। "तयोरास्रवे बन्धे चान्तर्भावात्"-इन पुण्य पाप का समावेश आस्रव तत्व में किया है, ऐसा पूज्यपाद स्वामी का कथन है। आस्रव और बन्ध का फल ससार है संवर और निर्जरा ये मोक्ष के प्रधान हेतु हैं। पुण्य और पाप का समावेश संसार के कारण आस्रव और बन्ध में हुआ है। इन नव पदार्थों का ग्रन्थकार ने आगे विशेष-रूप से वर्णन किया है।

जीवा संसारत्था णिव्वादा चेदणप्पगा दुविहा।
उवओग लक्खणा वि य देहादेहप्पवीचारा ।।

जीवाः संसारस्था निर्वृत्ताः चेतनात्मका द्विविधाः।
उपयोग लक्षणा अपि च देहादेह प्रवीचाराः ।।१०९।।

जीव दो प्रकार के हैं। संसार में स्थित अशुद्ध जीव हैं। मोक्ष को प्राप्त शुद्ध जीव है। ये दोनों चेतना स्वरूप युक्त हैं इनका लक्षण उपयोग है। संसारी जीव देह से प्रवीचार करते हैं इसीलिये उनको देह सहित अथवा देह प्रवीचार करने वाले कहा है। मुक्त जीव देह रहित होने से देह प्रवीचार रहित कहे हैं।

विशेष— यहाँ व्यवहारनय की अपेक्षा जीव को संसारी और मुक्त भेद युक्त कहा है। शुद्ध निश्चयनय से जीवों के उक्त भेद नहीं माने गये हैं। गाथा में आगत 'देहप्रवीचार' शब्द का स्वरूप इस प्रकार कहा है "देहस्य प्रवीचारो भोगस्तेन संहिताः देहसहिताः" अर्थात् देह प्रवीचार रूप भोग युक्त जीव संसारी है। प्रवीचार से रहित मुक्त है। अमृतचन्द्र आचार्य ने कहा है "ससारस्था देहप्रवीचाराः। निर्वृत्ता-अदेह प्रवीचारा।" ससारी जीवो के देहप्रवीचार है। मुक्त जीवों को अदेहप्रवीचार कहा है।

पुढवी य उदगमगणी वाउवणप्फदि जीव संसिदा काया।
देंति खलु मोहबहुलं फासं बहुगा वि ते तेसिं॥
पृथिवी चोदकमग्निर्वायुवनस्पति जीव संश्रिताः कायाः।
ददति खलु मोह बहुलं स्पर्शं बहुका अपि ते तेषां॥११०॥

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति ये पचकाय पुद्गल के परिणाम हैं। बन्ध के कारण ये जीव से सम्बन्ध युक्त हैं। इनके भेद बहुत हैं। ये स्पर्शन इन्द्रियावरण कर्म के क्षयोपशम युक्त हैं। ये जीव मोह की बहुलता युक्त स्पर्शन इन्द्रिय सहित है।

विशेष—पृथ्वी, जल आदि एक इन्द्रिय जीव कर्म के उदय वश केवल स्पर्शन इन्द्रिय के द्वारा विषय का उपभोग करते हैं। अमृतचन्द्र आचार्य ने टीका मे लिखा है "कर्म फल चेतना प्रधानत्वान्मोह बहुल मेव स्पर्शोपलभ मुपपादयन्ति"–इन एकेन्द्रिय जीवों के कर्मफल चेतना की मुख्यता रहती है। इनके मोहनीय कर्म की बहुलता पाई जाती है। ये स्पर्शन इन्द्रिय के द्वारा पदार्थों का उपभोग करते हैं। एकेन्द्रिय जीवो के रसना, घ्राण, चक्षु आदि इन्द्रियां कर्मोदय वश नही पाई जाती हैं। इन जीवों के परिज्ञान का साधन केवल स्पर्शन इन्द्रिय है। वनस्पति मे जीव का सद्भाव वैज्ञानिक डॉ जगदीशचन्द्र वसु ने सिद्ध कर दिया है। जैसे-जैसे भौतिक विज्ञान द्वारा शोध प्रवर्धमान होगी, वैसे-वैसे जैन आगम के कथन का महत्त्व लोगो को अवगत होगा।

तित्थावरतणुजोगा अणिलाणलकाइया य तेसु तसा।
मण परिणाम विरहिदा जीवा एइंदिया णेया॥
त्रयः स्थावरतनुयोगादनिलानल कायिकाश्च तेषु त्रसाः।
मनः परिणाम-विरहिता जीवा एकेन्द्रिया ज्ञेयाः॥१११॥

स्थावर शरीर नाम कर्म के योग से पृथिवी, जल और वनस्पति त्रिविध स्थावर जीव हैं। वायुकाय और अग्निकाय जीव एकेन्द्रिय हैं। इनके मन का अभाव है।

विशेष—यहाँ कुंदकुंद स्वामी ने पृथिवी, जल और वनस्पति इन तीन काय को ही स्थावर कहा है। वायु काय और अग्निकाय को त्रस कहा है। यह आचार्य कुंदकुंद का विशेष कथन है। तत्त्वार्थ-सूत्र आदि मे पृथ्वी, अप, तेज, वायु और वनस्पति को स्थावर कहा है। त्रस जीवों में दो इंद्रिय आदि की परिगणना की गई है।

षट्खण्डागम सूत्र मे एक इंद्रिय को त्रसकाय में गर्भित नहीं किया है।—"तस काइया बीइंदियप्पहुडि जाव अजोगि केवलित्ति" (षट्खण्डागम भाग १ सूत्र ४४ पृ २७५)

दो इंद्रिय से लेकर अयोग केवली पर्यंत त्रस जीव कहे गये हैं।

शंका— अग्निकाय और वायुकाय में हलन चलन होने से क्या उन्हें त्रस कहा है ?

समाधान— षट्खण्डागम के सत्प्ररूपणा प्रकरण में काय की अपेक्षा त्रस जीवों में दो इंद्रिय से लेकर अयोग केवली पर्यंत सम्मिलित किए गए हैं। इसलिए हलन चलन के सद्भाव तथा अभाव की अपेक्षा त्रस स्थावर नहीं कहे गए हैं। कर्मोदय की अपेक्षा त्रस और स्थावर हैं। राजवार्तिक के ये शब्द ध्यान देने योग हैं–

"सत प्ररूपणायां कायानुवादे त्रसाना द्विइंद्रियादाराम्य आ अयोगकेवली इति। तस्मान्न चलनाचलनम पेक्षं त्रस स्थावरत्वं कर्मोदया पेक्ष मेवेति स्थितं" (राजवार्तिक अध्याय २ सूत्र १२ पृ. ८८) यही बात सर्वार्थसिद्धि में भी पायी जाती है। पूज्यपाद स्वामी ने लिखा है–त्रसनाम कर्मोदय वशीकृतास्त्रसा:, स्थावर नाम कर्मोदय वशवर्तिन: स्थावरा: ॥ (पेज ९९)— त्रस नामकर्म के वशवर्ति जीव त्रस है। स्थावर नाम कर्म के उदययुक्त स्थावर जीव है।

इस कथन में और कुंदकुंद आचार्य के निरूपण मे मौलिक भेद नहीं है, क्योंकि उन्होंने वायुकाय और अग्निकाय जीवों के एक स्पर्शन इंद्रिय मानी है। केवल नामकरण का भेद है। उन्होंने इनको त्रस लिख दिया है। पूज्यपाद स्वामी ने लिखा है त्रस दो इंद्रिय आदि कहे गये हैं। यह कथन षट्खण्डागम रूप आगम में प्रतिपादित है।

सर्वार्थसिद्धि मे पृथ्वी आदि शरीरधारी स्थावरों के तीन भेद किये हैं—"काय: शरीरं पृथिवीकायिक जीव-परित्यक्त पृथिवीकाय:"–पृथ्वी काय जो जीव है उसके द्वारा परित्यक्त काय अर्थात् शरीर पृथ्वीकाय है। जैसे मृत मनुष्य का शरीर। ईंट आदि भी पृथिवीकाय है।

पृथिवीकायोस्यास्तीति पृथिवीकायिक: तत्काय संबध वशीकृत आत्मा–पृथ्वीकाय जिसके पायी जाती है, उसे पृथ्वीकाय कहते हैं। उस पृथ्वी शरीर को धारण करने वाली आत्मा पृथ्वी कायिक है। "समवाप्त पृथिवीकाय नाम कर्मोदय: कार्मणकाय योगस्थो यो न तावत् पृथ्वीम् कायत्वेन गृह्णाति स पृथिवीजीव:"–पृथ्वीनाम कर्म के उदय युक्त जीव कार्माण काय योग की अवस्था मे जब तक पृथ्वी को काय रूप से ग्रहण नहीं करता है, तब तक उस कार्माणकाय योग मे स्थित तथा पृथ्वीनाम कर्मोदय युक्त जीव को पृथ्वीजीव संज्ञा प्रदान की गई है। इन तीनो में पायी जाने वाली काठिन्य गुणात्मक अचेतन पृथ्वी कही गई है।

इसका खुलासा इस प्रकार है— "अचेतन–स्थूल–परिणमन को प्राप्त पृथ्वी है। चैतन्य युक्त पृथ्वी–काय पृथ्वीकायिक तथा पृथ्वी जीव कहे गए हैं। इसी प्रकार के भेद जलकाय, जल कायिक, जल जीव आदि स्थावरों में माने गए हैं।

स्थावर जीवो के चार प्राण हैं। स्पर्शन इन्द्रिय प्राण, काय बल प्राण, उच्छ्वास निश्वास प्राण तथा आयु प्राण ये चार प्राण कहे गए हैं। जो एक इन्द्रिय होगा उसके ये प्राण चतुष्टय पाये जायेंगे।

इस नियम के अनुसार अग्निकाय और वायुकाय मे भी एक इंद्रिय होने से चार प्राण होंगे। यदि तैजकाय और वायुकाय को ग्रंथकार ने एक इंद्रिय न कहा होता तो कठिनाई उत्पन्न होती।

जयसेनाचार्य की टीका मे कहा है–"यद्यप्यग्निवातकायिकानां व्यवहारेण चलनमस्ति तथापि निश्चयेन स्थावरा:"–व्यवहार से अग्नि तथा पवन काय के जीवों में चलन क्रिया देखी जाती है किन्तु निश्चय दृष्टि से वे दोनो स्थावर हैं।" इन स्थावरों के स्पर्श नेन्द्रियावरण का क्षयोपशम है। शेष इंद्रियावरण एवं नोइंद्रियावरण का इनके उदय पाया जाता है। इस कारण इनको एकेन्द्रिय असंज्ञी कहा है।

इंद्रिय शब्द की क्या व्याख्या है इस विषय में कहा है—

अहमिंदा जह देवा अविसेसं अहमहंति मण्णंता।
ईसंति एक्कमेक्कं इंदा इव इंदियं जाण ॥गो. जी. १६३॥

जिस प्रकार अहमिन्द्र देव में इन्द्र हूँ मानते हुए अपने को स्वामी माना करते हैं, उसी प्रकार ये इन्द्रियाँ भी स्वतंत्र हैं। स्पर्शनादिक इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों के ग्रहण करने में अन्य इन्द्रियों की सहायता की अपेक्षा नहीं रखती, वे स्वतन्त्र है। इस इंद्र (अहमिन्द्र) के समान होने से इनको इन्द्रिय कहते हैं।

सर्वार्थसिद्धि मे कहा है—"इन्द्र इति नाम कर्मोच्यते, तेन सृष्टमिन्द्रियमिति"—नाम कर्म को इन्द्र कहा है। उस नाम कर्म की कृति होने से स्पर्शनादि को इंद्रिय कहा गया है। उन्होंने यह भी कहा है इन्दतीति इन्द्रआत्मा तस्य लिंग इन्द्रियं"—इन्दन क्रिया होने से इन्द्र अर्थात् आत्मा के लिंग को इन्द्रिय कहा है। सूक्ष्म आत्मा को परिज्ञान मे लिंग रूप इन्द्रियाँ हैं।

मति ज्ञानावरण के क्षयोपशम होने पर जो ज्ञान होता है वह ज्ञानात्मक भाव इन्द्रिय है। शरीर नाम कर्म के उदय होने शरीर के चिह्न विशेष को द्रव्येन्द्रिय कहा है। "देहोदयजदेहचिह्नं द्रव्यं।"

एकेन्द्रिय जीव के वीर्यान्तराय तथा स्पर्शन इन्द्रियावरण का क्षयोपशम होता है। शेष इन्द्रियों के सर्वघाती स्पर्धकों का उदय पाया जाता है।

एदे जीवणिकाया पंचविहा पुढविकाइया दीया।
मण परिणाम विरहिदा जीवो एगेंदिया जीवा॥
एदे जीवनिकायाः पचविधाः पृथिवीकायिकाद्याः।
मनः परिणाम विरहिता जीवा एकेन्द्रिया भणिताः ॥११२॥

ये पृथ्वीकायिक आदि पच प्रकार के जीव निकाय है। ये मन रहित एक इन्द्रिय जीव कहे गये है।

विशेष—पूर्वोक्त गाथा मे अग्निकाय और वायुकाय को एकइन्द्रिय होते हुए भी अन्य आचार्य परम्परा से भिन्न उन्हे त्रस संज्ञा प्रदान की है। 'द्वीन्द्रियादयः त्रसाः (तत्वार्थ सूत्र)।' इस सम्बन्ध मे इस गाथा द्वारा इस बात को स्पष्ट किया गया है कि एकेन्द्रीयपना पृथ्वी, अप, तेज, वायु, वनस्पति काय मे समान रूप से पाया जाता है।

तेजकाय वायुकाय के जीवों मे औदारिक शरीर होते हुए भी विविधकरण रूप विक्रिया पाई जाती है। गोम्मटसार मे कहा है—

बादर-तेऊ-वाऊ-पंचिंदिय-पुण्णगा विगुव्वंति।
ओरालियं सरीरं विगुण्णणप्पं हवे जेसिं॥ २३३॥

बादर अग्निकायिक, वायुकायिक (एकेन्द्रिय जीव) सज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक जीव, भोगभूमिज तिर्यंच तथा मनुष्य विक्रिया करते हैं। इनके औदारिक शरीर विक्रिया करने में समर्थ हैं। भोग भूमिज तथा चक्रवर्ती पृथक् विक्रिया करते हैं। अन्यों के अपृथक् विक्रिया होती है।

तेजकायिक, वायुकायिको की विक्रिया को लक्ष्य मे रखकर कुंदकुद स्वामी ने "त्रस इव त्रसा." त्रसों के सदृश त्रस देखकर इनको एकेन्द्रिय त्रस कहा है।

ईशान स्वर्ग से च्युत देव एकेन्द्रियों में उत्पन्न हो सकते हैं। बारहवें स्वर्ग पर्यन्त के देव मरणकर तिर्यंच होते हैं। ऊपर के देव पशु पर्याय को प्राप्त नहीं करते। एक इंद्रिय जीवों का भेद वनस्पतिकाय कहा है। उनके विषय में कहा है—

पुढवी आदि चउण्हं केवलि आहार देवणिरयंगा ।
अपदिट्ठिदा णिगोदहिं पदिट्ठिदंगा हवे सेसा ॥१९९॥ गो. जी.

पृथ्वी, जल, अग्नि और वायुकाय के जीवों का शरीर, केवली का शरीर, आहारक शरीर तथा देव नारकियों का शरीर वनस्पति के भेद निगोदिया जीवों से अप्रतिष्ठित है। अर्थात् इन शरीरो के आश्रय निगोदिया जीव नही रहते हैं। शेष वनस्पतिकाय के जीवों का शरीर तथा द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय, तिर्यंच और मनुष्यों का शरीर निगोदिया जीवों से प्रतिष्ठित है।

इस संदर्भ मे यह बात ज्ञातव्य है कि पृथिवीकाय का मसूर के समान, जलकाय का जलबिंदु के समान, अग्निकाय का सुईयों के समूह के समान, वायुकाय का ध्वजा के समान शरीर कहा है। वनस्पति और त्रस जीवो का आकार एक प्रकार का नही है। त्रस जीव सर्वलोक में व्याप्त नही है। एक इंद्रिय जीव सर्वलोक में पाये जाते हैं। जीवकाड मे लिखा है कि, उपपाद जन्म, मारणातिक समुद्घात वाले त्रस जीव, त्रसनाली के बाहर पाये जाते हैं। अन्य त्रस, त्रसनाली के बाहर नहीं पाये जाते। त्रसनाली का अर्थ ही यह है कि जिसमें त्रसजीव पाये जायें। स्थावर जीव जब सर्वत्र पाये जाते हैं, तब त्रसनाली में उनका सद्भाव सहज सिद्ध होता है।

लोक के मध्य मे चौदह राजू ऊँची, एक राजू चौड़ी, एक राजू मोटी त्रसनाली कही गयी है।

इन एक इंद्रियों के आहार, भय, मैथुन, परिग्रह ये चारों संज्ञाएँ त्रसो के समान पायी जाती हैं। इन एक इंद्रियो मे वनस्पतिकाय के विषय मे इस प्रकार कहा है—वनस्पति दो प्रकार की है एक साधारण, दूसरी प्रत्येक।

एकमेकस्य यस्याङ्गं प्रत्येकाङ्गं स कथ्यते।
साधारणः स यस्याङ्गम परैर्बहुभिः समम् ॥

जिस एक जीव का एक ही शरीर होता है उसको प्रत्येक शरीर कहते हैं। जिस शरीर में बहुत से जीव साथ में रहते हैं उनको साधारण जीव कहते हैं। साधारण जीवों को अनंतकाय कहा गया है। जिसके आश्रय से निगोद जीव निवास करें, उसको सप्रतिष्ठित प्रत्येक कहते हैं। जिसके आश्रय से निगोद जीव न रहे, उसको अप्रतिष्ठित प्रत्येक कहते हैं। साधारण जीवो का आहार श्वासोच्छ्वास एक साथ होता है। एक की मृत्यु होने पर सब का मरण और एक का जन्म होने पर सबकी उत्पत्ति होती है। एक निगोदिया जीव के शरीर में द्रव्य प्रमाण की दृष्टि से सिद्धो से अनंत गुणे तथा समस्त भूतकाल से अनंत गुणे जीव रहते हैं।

इन निगोदियो में पाप के उदय से ऐसे अनतानंत जीव हैं, जिन्होंने त्रस पर्याय अब तक नही पायी है और न आगे प्राप्त करेंगे, उनको नित्य निगोदिया कहा है। जिन्होने त्रस पर्याय पाकर पुनः निगोद अवस्था को प्राप्त किया है उनको इतर निगोदिया या अन्य निगोदिया कहते हैं।

एक इंद्रिय जीवों के संहनन नहीं कहा है। अस्थिबंधन विशेष रूप संहनन उनके नहीं है, क्योंकि वे रुधिर मांस आदि सप्त धातुओ से रहित होते है। वनस्पति खाने से मांसभक्षण का दोष नहीं आता क्योंकि एक इंद्रियों के शरीर मे मांस रुधिर आदि का सद्भाव नही है। दो इंद्रिय आदिक जीवो मे मासपने का सद्भाव हो

जाता है। सामान्य जीवपने की अपेक्षा वनस्पति जीव का शरीर है। त्रसो का शरीर समान है, फिर भी वनस्पति को ग्राह्य कहा है। मांस ग्रहण करने योग्य नही बताया है। मास पर्याय त्रसजीव के शरीर की होती है।

एक इंद्रिय के केवल स्पर्शन इंद्रिय है। इसलिए वे वचन शक्ति रहित हैं। त्रस जीवों में वचन शक्ति मानी गई है। इसी कारण दो इंद्रिय जीव के छह प्राण कहे है। उनमे दो इंद्रिय, कायबल, वचनबल, आयु और श्वासोच्छ्वास ये छह प्राण होते हैं। एक इंद्रिय के एक स्पर्शन इंद्रिय, आयु, श्वासोच्छ्वास तथा कायबल ये चार प्राण होते हैं। जीव के भावों की बड़ी विचित्रता है। जहाँ दूसरे स्वर्ग का देव मरणकर एक इंद्रिय रूप मे पतन को प्राप्त होता है वहाँ एक इंद्रिय जीव देव के अनुकूल होने पर मरणकर मनुष्य हो सकता है और उसी पर्याय मे रत्नत्रय को धारण कर मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। यह सब चमत्कार जीव के परिणामों का है। उनके आधार पर ही जीव का उत्थान और पतन होता है।

अत्यन्त अल्पज्ञानी वनस्पति काय के जीव बाह्य प्रभाव से प्रभावित होते हैं। केवलज्ञान होने पर तीर्थंकर भगवान् के अनेक प्रकार के अतिशय होते हैं। चार सौ गव्यूति प्रमाण क्षेत्र मे सुभिक्षिता का हो जाना यह बताता है कि एकइन्द्रिय वनस्पति कायिक जीव भी केवली भगवान् के शरीर से निकली हुई पुद्गल वर्गणाओ से प्रभावित हो अपने आनन्द को सुभिक्षता द्वारा व्यक्त करते हैं। कहा भी है "गव्यूतिशत चतुष्टय सुभिक्षता" (दशभक्ति)। भगवान् के केवल ज्ञान होने पर पृथ्वी मे सब ऋतुओ के फल स्तवक, प्रवाल, कुसुम द्वारा वृक्ष शोभित होते हैं–"सर्वर्तु–फल–स्तवक–प्रवाल–कुसुमोपशोभित–तरु परिणामाः" (नंदीश्वर भक्ति ४०)।

सर्वार्थसिद्धि मे कहा है संसारी जीवो के कम से कम दो 'मतिश्रुते'–मति और श्रुत ज्ञान होते है। इस दृष्टि से मन रहित एकइन्द्रिय के श्रुतज्ञान का सद्भाव मानना होगा। उनके श्रुतज्ञानावरण के क्षयोपशम के विषय मे कहा है–सूक्ष्म अपर्याप्त निगोदिया जीव के उत्पन्न होने के प्रथम क्षण मे स्पर्श, गन्ध, मति ज्ञान के द्वारा जो श्रुतज्ञान होता है उसको लब्ध्यक्षर ज्ञान कहते है। यह ज्ञान निरावरण है। उनके शेष ज्ञान पर ज्ञानावरण का पर्दा पड़ा हुआ है। यदि उनके ज्ञान पर आवरण हो जाये, तो उनका जीवपना समाप्त हो जायगा।

अंडेसु पवड्ढंता गब्भत्था माणुसा य मुच्छगया।
तारिसया तारिसया जीवा एगेंदिया णेया ॥

अडेसु प्रवर्धमाना गर्भस्था मानुषाश्च मूर्च्छा गताः।
याद्दशास्तादृशा जीवा एकेन्द्रिया ज्ञेयाः ॥११३॥

अडो में वृद्धि को प्राप्त गर्भ मे स्थित जीव मूर्छा को प्राप्त मनुष्यों मे बुद्धिपूर्वक क्रिया का अदर्शन होते हुए जिस प्रकार जीव का सद्भाव माना जाता उसी प्रकार एकेन्द्रिय जीवो के बुद्धिपूर्वक क्रिया का अदर्शन होते हुए चैतन्य का सदभाव मानना चाहिए।

विशेष – यहाँ एकइन्द्रिय जीवो मे बुद्धिपूर्वक क्रिया का अदर्शन होते हुए भी जीव का सदभाव माना जाता है। इसके लिए अडे, गर्भस्थ शिशु और मूर्छित व्यक्ति का उदाहरण युक्ति के रूप मे दिया गया है।

वर्तमान भौतिक विज्ञान के लोग अडो की शाक से गणना करते हैं और उसे जीव रहित कहते हैं। यह धारणा ठीक नहीं है। Readers Digest मे छपा था कि एक व्यक्ति ने हजारों अडों की सूक्ष्मता से परीक्षा की और उसने कहा– life begins in egg अडे मे जीव का अभाव नही है वह सजीव है उसमें जीवन का प्रारम्भ होता है। अंडे के बाहरी भाग में जो नख के चमड़े के समान कठिनता युक्त बाहरी परिमंडल है, उसे अंडा कहते हैं वह शुक्र और शोणित द्वारा निर्मित शुक्र-शोणित परिवरणम् (राजवार्तिक पृ.100, अ.-2,

सू.३३) अंडे का बहि भाग अस्थि सदृश है और उसके भीतर का द्रव पदार्थ अविकसित जीव युक्त हैं, जो, यथाक्रम से वर्धमान होता है। अंडे से उत्पन्न जीव को गर्भज माना है। जरायुज अण्डज तथा पोत जन्म वालों को गर्भज जीव कहा है। अंडे को जीव रहित कहकर उसका प्रचार करना और अंडा भक्षण के लिए प्रेरणा-प्रदाता निन्दनीय कार्य करते हैं। एकइन्द्रिय जीव यद्यपि मूर्छित व्यक्ति से लगते फिर भी उन पर मधुर वचन, संगीत आदि का अच्छा प्रभाव पडता है।

संबुक्क मादुवाहा संखा सिप्पी अपाइणा य किमी।
जाणंति रसं फासं जे ते बे-इंदिया जीवाः ।।

शंबूक मातृवाहाः शंखाः शुक्तयोऽपादकाः च कृमयः।
जानंति रसं स्पर्शं ये ते द्वीन्द्रिया जीवाः ।।११४।।

शबूक, मातृवाह, शंख, शुक्ति, पैररहित रेंगने वाले कृमि जाति के जीव स्पर्श और रस को जानते हैं। उन्हे द्वि-इन्द्रिय जीव कहते हैं।

विशेष—यहाँ कृमि जाति के जीवों को स्पर्शन तथा रसना इन्द्रिय से युक्त कहा है। रसना इन्द्रिय के शब्दोच्चारण मे सहायक होने से दो इन्द्रिय जीवों की वाणी को अनाक्षर वाणी कहा है। षट्खंडागम के सत्प्ररूपणा के अन्तर्गत योगानुयोग द्वार में कहा है— वचिजोगो असच्चमोस वचिजोगो बीइंद्रिय पहुडि जाव सजोगि केवलित्ति (५३) सामान्य से वचन योग तथा द्वीन्द्रिय जीवो से लेकर सयोग केवली गुणस्थान तक होता है। धवलाटीका मे यह महत्त्वपूर्ण चर्चा दी है।

शका— विकलेन्द्रिय जीवो के मन न होने से ज्ञान नही होगा और ज्ञान के अभाव मे वचन की प्रवृत्ति नहीं होगी।

उत्तर —"मनस एव ज्ञानमुत्पद्यते इत्येकान्ताभावात्" मन से ही ज्ञान उत्पन्न होता है, ऐसा एकान्त नही है। मन के बिना भी ज्ञान होता है, इसीलिए विकलेन्द्रियो मे ज्ञान की उत्पत्ति मानना अबाधित है।

प्रश्न—विकलेन्द्रिय जीवो के वचन को अनुभय वचन योग क्यो कहा गया है?

उत्तर —'अनध्यवसाय हेतुत्वात' उनका वचन अनध्यवसाय ज्ञान का कारण है, केवली भगवान की दिव्यध्वनि को अनक्षरात्मक कहा है।

धवला टीका मे प्रश्न किया गया है— भगवान की वाणी को ध्वनि क्यो कहा गया है?

समाधान — केवली के वचन इसी भाषा के रूप मे है ऐसा निर्देश नही किया जा सकता। इससे उसे ध्वनि रूप मे माना है। "कथं तस्य ध्वनित्वमितिचेन्न एतद्भाषारूप मेवेति निर्देष्टुमशक्यत्वात तस्य ध्वनित्व-सिद्धेः" (धवलाभाग १, सू. पू., पृ २८७)

जूगा-गुंभी-मक्कण-पिपीलिया-विच्छियादिया कीडा।
णाणंति रसं फासं गंधं तेइंदिया जीवा ।।

यूका-कुंभी-मत्कुण-पिपीलिका-वृश्चिकादयः कीटाः।
जानंति रसं स्पर्शं गंधं त्रीन्द्रियाः जीवाः ।।११५।।

जूं, कुम्भी, खटमल, चींटी, बिच्छू आदि कीडे स्पर्श रस तथा गन्ध को जानते हैं। वे तीन इन्द्रिय जीव हैं।

विशेष—यहाँ खटमल को तीन इन्द्रिय अर्थात् स्पर्शन रसना घ्राण युक्त कहा है। जब आदमी खटमल को पकडने का प्रयत्न करता है, तब वह दूर भागता है। इससे यह कल्पना होती है कि उसके चक्षु इन्द्रिय का सद्भाव होगा, किन्तु सर्वज्ञ कथित आगम उसके चक्षु इन्द्रिय का अभाव निरूपित करता है। खटमल के घ्राण इन्द्रिय है, उसके द्वारा वह गन्ध का ज्ञान कर भाग जाता या छुप जाता है।

यह सर्वज्ञ जिनेन्द्र की वाणी अपूर्व है, कि उसके द्वारा छोटे से छोटे जन्तुओं के जीवन की सूक्ष्म बातो का अवबोध होता है। इन जीवो के वीर्यान्तराय कर्म का क्षयोपशम तथा स्पर्शन, रसना और घ्राण इन्द्रिय का क्षयोपशम होते हुए शेष इन्द्रियो के सर्वघाती स्पर्द्धकों का उदय पाया जाता है। इसीलिए तीन इन्द्रियों से ही ज्ञान होता है और अन्य साधनो से ज्ञान नही होता। इनके मन नही होता।

उद्दंस-मसय-मक्खिय-मधुकर-भमरा पतंग मादीया।
रूपं रसं च गंधं फास पुण ते वि जाणंति ॥

उद्दंश-मशक-मक्षिका-मधुकरी-भ्रमराः पतगायाः।
रूपं रसं च गंधं स्पर्शं पुनस्तेऽपि जानन्ति ॥११६॥

उद्दस, डास, मच्छर, मक्खी, भ्रमरी, भ्रमर, पतग आदि चार इन्द्रिय जीव रूप रस गन्ध तथा स्पर्श का परिज्ञान करते हैं। इनके मन नही होता।

विशेष—सस्कृत काव्य मे भ्रमर का यह रूपक प्रसिद्ध है। सध्या के समय मुकुलित होते कमल के मध्य मे स्थित होकर एक मधुकर मन में सोचता है— रात्रि का अवसान होने पर पुनः तेजपुंज सूर्य का उदय होगा। मेरा प्रिय कमल खिल जाएगा। अभी यहाँ ही रात्रि भर सरोज के सौरभ का रसपान कर लूं, वह ऐसा सोच ही रहा था कि एक गजराज उस सरोवर मे घुस गया और उस कमल को ही उखाड फेंका जिसके मध्य मे भ्रमर अपनी मनोरम कल्पना मे मग्न था। वह श्लोक इस प्रकार है—

रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातं।
भास्वानुदेष्यति हसस्यति पंकजश्री. ॥
इत्थ विचिंतयति कोषगते द्विरेफे।
हा हन्त हन्त नलिनी गजमुज्जहार ॥

इस पद्य द्वारा इस बात को विज्ञापित किया गया है कि मनुष्य व्यर्थ की कल्पनाजालो मे डूबा रहता और अकस्मात् मृत्यु की गोद मे सो जाता है।

इस उदाहरण मे ऐसा प्रतीत होता है यि भ्रमर के मन अवश्य होगा किंतु सर्वज्ञप्रणीत आगम कहता कि उनके मन नही होता। आगम के शब्द हैं — "चतुरिन्द्रिया अमनसो भवन्ति।" अतः भ्रमर का उदाहरण केवल कवि जगत् की कल्पना सिद्ध होती है। आगम कहता हैं पंचेन्द्रियों के ही मन पाया जाता है। भ्रमर के चार इद्रियाँ हैं, इनमे उनके मन का अभाव है।

सुर-णर-तिरिया वण्ण-रसप्फास गंध सद्दण्हू ।
जलचर थलचर खचरा बलिया पंचेंदिया जीवा ।।

सुर-नर-नारक-तिर्यञ्चो वर्ण रस स्पर्शगंधशब्दज्ञाः।
जलचर थलचर खचरा बलिनः पंचेन्द्रिया जीवाः ।।११७।।

देव, मनुष्य, नारकी तथा तिर्यंच ये चार गति के जीव हैं जो पंचेन्द्रियो के द्वारा स्पर्श,वर्ण, रस तथा गंध को ग्रहण करते हैं। इन जीवों मे पंचेन्द्रिय तिर्यंचो के जलचर, थलचर और नभचर ये तीन भेद होते हैं। जलचरों में बलवान गाह (मगर) है। थलचरों मे बलवान अष्टापद है। तथा नभचरों मे भेरुड पक्षी बलवान है।

विशेष —यहाँ चार गतियों के विषय में उल्लेख किया गया है। गति नामकर्म के उदय से होने वाले जीव की पर्याय को अथवा चारों गतियों मे गमन करने के कारण को गति कहते हैं। गति, नरकगति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति तथा देवगति रूप चार भागो मे विभक्त है। नरकगति के विषय में गोम्मटसार में कहा है–

ण रमंति जदो णिच्चं दव्वे खेत्ते य कालभावे य।
अण्णोण्णेहि य जह्मा तह्मा ते णारया भणिया ।।१४६।।

द्रव्य,क्षेत्र,काल और भाव मे जो स्वयं तथा परस्पर में प्रीति को नही प्राप्त करते हैं इस कारण उनको 'ना-रत' (नारकी) कहते हैं।

नारकी जीवों के परिणाम तिर्यंचगति की अपेक्षा अत्यन्त मलिन होते हैं। नरकों मे क्षेत्र विशेष के निमित्त से अवर्णनीय दुःखों की प्राप्ति होती है। अन्तरंग मे असाता वेदनीय का उदय होने से नारकियों को अनादि पारिणामिक शीत तथा उष्ण बाह्य निमित्त जनित अत्यन्त वेदना होती है। सात नरको मे चार नरको पर्यंत उष्ण वेदना कही गई है। पचमी पृथ्वी के ऊपरी भाग मे दो लाख योजन पर्यंत उष्ण वेदनाहै।उसके नीचे एक लाख योजन क्षेत्र में शीत वेदना है। छठवी तथा सातवींपृथ्वी मे शीत वेदना ही है।तीव्र पाप का उदय होने से उन हतभाग्य जीवो के द्वारा शुभ कार्य नही बनते। वे शुभ करना चाहते हैं किन्तु उसका परिणमन अशुभ रूप हो जाता है। असुरकुमार के भेद कोई–कोई अम्बावरीष देव चौथी पृथ्वी के पहिले जाकर नरको मे नारकियों को परस्पर में लड़ाते हैं।

उन नरकों मे जाने वाले जीवों के विषय मे कहा है शराबी, मांस भक्षी, यज्ञो मे प्राणघात करने वाले असत्यवादी, परस्त्री लम्पट, महालोभ से पीडित, रात्रिभोजी, स्त्री, बाल, वृद्ध, ऋषि से विश्वास का घात करने वाले, वीतराग शासन के निंदक रौद्रध्यान युक्त जीव नरकों में उत्पन्न होते हैं।

उन नरकों में तीसरे नरक पर्यंत तीर्थंकर होने वाले जीव भी पाये जाते हैं, जो वहाँ से निकलकर तीर्थंकर के पद की प्राप्ति करते हैं। देवता लोग किन्हीं नारकियो को संबोधने निमित्त तीसरे नरक पर्यंत जाते हैं।

यह विशेष बात है कि नारकी मरकर देव नही होते और देव मरकर नारकी नही होते। मनुष्य गति और तिर्यंच गति में ऐसा बंधन नहीं है।

धवल ग्रंथ के दूसरे भाग में विविध नयों की अपेक्षा से नारकी पद वाच्यता किन–किन में पायी जाती है यह स्पष्ट किया है। एवं भूत नय से नरक में नारकीय जीव को नारकी कहते हैं। नैगम,संग्रह, व्यवहार,

ऋजु सूत्र शब्द समभिरूढ़ नय से नरक का नारकी नही होता। स्याद्वाद वाणी के प्रकाश में यह कथन किया गया है।

नारकी पदवाच्यता नैगमनय से उस व्यक्ति मे है जो पापी लोगो का समागम करता है। संग्रह नय से जीव वध की सामग्री संग्रह करने वाला मनुष्य नारकीय है। जो धनुषबाण आदि लेकर जीव घात के हेतु जंगल में शिकारी फिरता है वह मनुष्य व्यवहारनय से नारकीय है। ऋजु सूत्र नय से जो शिकारी मृगों पर प्रहार करता है उसे नारकी कहते हैं। शब्द नय से जब मनुष्य द्वारा जीव प्राणो से वियुक्त किया जाये तो उसे नारकी कहेगे। समभिरूढ नय से जब मनुष्य नारक कर्म का बंध करके उस कर्म से संयुक्त हो जाये तब उसे नारकी कहेगे। एव भूतनय से वह मनुष्य नारकी है, जो मरकर नरक में उत्पन्न हुआ और वहां के दु:खों को भोगा करता है।

नरक गति के साथ आगत कर्म द्रव्य समूह को कर्म नारकी कहा है। पाश, पंजर, अस्त्र, शस्त्र आदि जो नारक भाव में कारण हैं, ऐसे नो कर्म द्रव्य को नो कर्म द्रव्य नारकी कहते हैं। नारकी सबंधी प्राभृत का ज्ञाता श्रोपयुक्त जीव आगम भाव नारकी है। नरक गति नाम कर्म के उदय से नरक अवस्था को प्राप्त जीव तो आगम भाव नारकी है।

स्याद्वाद वाणी के प्रकाश मे इसी प्रकार का कथन तिर्यंच मनुष्य तथा देव गति मे भी लगाया जाना चाहिए। तत्त्वार्थ सार मे कहा है कि तीसरी पृथ्वी से निकलकर जीव तीर्थंकर हो सकते हैं, किन्तु 'निर्गत्य नारका नस्युर्बल-केशव-चक्रिण' नरक से आगत जीव बलदेव, वासुदेव तथा चक्रवर्ती नही होते। अपार वेदना सहते हुए शरीर के छिन्न-भिन्न किये जाने पर भी इन नारकियो का अकाल मे मरण नही होता। देवो मे अकाल मरण का निषेध है। भोग भूमियों मे भी अकाल मृत्यु नही। तीर्थंकरों के भी अकाल मरण नही होता। तत्त्वार्थ सूत्र में कहा है---

औपपादिक-चरमोत्तम देहा', सख्येय वर्षायुषोऽनपवर्त्यायुष (२ अ, सू.-५३) जैनागम मे नरक मे विद्यमान राजा श्रेणिक के जीव की, आगामी उत्सर्पिणी मे प्रथम तीर्थंकर भगवान् महापद्म होने के कारण, भक्ति पूजा की जाती है। एव भूतनय से उनके नारकी जीवन की पूजा नही होती। भावि नैगमनय की अपेक्षा उस आत्मा की पूजा वदना की जाती है। अनेकान्त दृष्टि के प्रकाश मे सर्व कथन सुसंगत हो जाता है।

तत्त्वार्थ सूत्र मे कहा है बह्वारम्भ परिग्रहत्व नारकस्यायुष' (अ. ७-सू १५)--बहुत आरम्भ परिग्रह धारण करने वाले के नारक आयु का आस्रव होता है। मनुष्य भोगो में आसक्त होकर भयंकर पापों को करते हुए यहाँ प्रसन्नता का अनुभव करता है। वह भूल जाता है कि मेरे कुकर्मों का फल मुझे आगे भोगना पड़ेगा। जो जीव जैसा कर्म करता है, तदनुसार वह उसका फल पाता है। कुन्दकुन्द स्वामी ने अनुप्रेक्षा में कहा है---

एक्को करेदि कम्मं विसयणिमित्तेण तिव्वलोहेण ।
णिरय-तिरिये सु जीवो तस्स फल भुजदे एक्को ।।१५।।

एक व्यक्ति विषयो के निमित्त से लोभ के आधीन हो हिंसा, कुशील, चोरी, दुराचार आदि पापो को करता है वही जीव अकेला ही नरक और पशु पर्याय मे उनका फल भोगता है। उस समय इसका कोई सहायक नही होता है। नरक मे नारकी पश्चात्ताप करता है कि मुझ अविवेकी अज्ञानी ने नरजन्म को पाकर कोई सत्कार्य नही किये। मोह से अन्धा बनकर मैंने पाप रूपी विष का दान किया, नरक में नारकी जीव की वेदना का कौन वर्णन कर सकता है? सर्वज्ञ भगवान ही उसकी अवस्था को जान सकते हैं।

नरक में भी तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध की हुई आत्माएँ जाती है, उनका नरक से निकलने के लिए जब छह माह का समय शेष बचता है, तब उन तीर्थंकर की पदवी पाई जाने वाली आत्माओं के पास स्वर्ग के देवता आते और वहाँ उनके उपसर्गों का वे यथाशक्ति निवारण करते है–"उवसग्गं णिवारयन्ति सुराः।" जिन तीर्थंकर की जननी के गर्भ मे आने के छह माह पूर्वर्षा रत्नव आदि होती हैं, उन तीर्थंकरों के जीव की नरक में वेदना निवारण का प्रयास पूर्णतया उपयुक्त लगता है।

मिथ्यात्व के कारण नारकी जीव दुःखी रहते हैं। इन्ही मे से कोई २ ऐसे भाग्यवान रहते हैं, जिनको उपदेश देने के लिए वहाँ देवता लोग आते हैं। महापुराण मे लिखा है–ऋषभनाथ भगवान के पूर्व भव में जब वे महाबल राजा थे तब शतमति नाम का उनका एक मंत्री था। उसने मिथ्यात्व का विषपान किया। वह दूसरे नरक मे उत्पन्न हुआ। महाबल राजा के जीव ने देव पर्याय में दूसरे नरक मे जाकर शतमति को समझाया, जिससे उसका मिथ्यात्वभाव दूर हो गया। शतमति के साथी महामति और सभिन्नमति दोनों मिथ्यात्व के कारण निगोद में गये। (महापुराण–१० वा पर्व)। इस प्रकार विरले जीवो को उपदेश का लाभ होता है। तीसरे नरक से नीचे के नारकियों को सम्यक्त्व प्राप्ति का एक मात्र उपाय तीव्र वेदना का अनुभव है। अवर्णनीय अपार वेदना सहन करते-करते कभी-कभी ऐसा आत्म प्रकाश प्राप्त हो जाता है, कि मै इस शरीर से भिन्न ज्योतिर्मय आत्मा हूँ। यह पीडा शरीर को होती है। मेरी आत्मा को कोई पीडा नही है। ऐसे दिव्य विचारो को प्राप्त कर वेदना के द्वारा वे नारकी सम्यक्त्वी बन जाते हैं।

महापुराण मे जिनसेन स्वामी लिखते हैं—

अक्ष्णो–र्निमेषमात्रम् च न तेषा सुखसङ्गतिः।
दुःखमेवानुबन्धीद्ग नारकाणामहर्निशम् ॥८७॥ (१०-८७)

उन नारकियो को नेत्रो की निमेष मात्र भी सुख नही है। उन्हे रात दिन दुःख ही दुःख भोगना पड़ता है आचार्य कहते है इस ससार मे जो-जो भयकर दुःख होते हैं उन सभी को दुष्ट कर्मो ने नरको मे इकट्ठा कर दिया है।

समझदार व्यक्ति का कर्त्तव्य है कि नरकों के दुःखो को ध्यान मे रखते हुए अपनी पाप प्रवृत्तियों का परित्याग कर पचपरमेष्ठियो का शरण ग्रहण करे और आगम के द्वारा प्रतिपादित पथ में प्रवृत्ति करे।

चार गतियो मे नरक गति के साथ दुःखमय तिर्यंच गति का उल्लेख आता है। वैसा देखा जाए तो उन पशुओ की करुण अवस्था का प्रत्यक्ष में भी हम दर्शन करते हैं। तिर्यंच शब्द के विषय मे इस प्रकार व्याख्या की गई है—

तिरियंति कुडिलभाव सुविउलसण्णा णिगिट्ठ मण्णाणा।
अच्चत पापबहुला तम्हा तेरिच्छया भणिया ॥ (१४७)

जो मन वचन काय की कुटिलता को प्राप्त हो अथवा जिनकी आहार, भय आदि सज्ञायें विपुल मात्रा में हो, जो निकृष्ट अज्ञानी हो तथा जिनमे अत्यन्त पाप की बहुलता हो, उनको तिर्यंच कहते हैं। पूर्व भव में मायाचार करके उन्होंने पशुपर्याय प्राप्त की। उस पर्याय मे मनोभावो को व्यक्त करने की वचन शक्ति भी नही है। अज्ञान भाव मे डूबे हुए वे जीव अपने कष्ट का जीवन बिताते है। उन पशुओं को कभी-कभी जन्मान्तर का स्मरण हो जाने से सम्यक्त्व का लाभ हो जाता है। इनके जिनबिम्ब दर्शन भी सम्यक्त्व का कारण है, ऐसा षट्खंडागम सूत्र मे कहा है। कभी वे सद्उपदेश को पाकर अपने जीवन को निर्मल बनाने के लिए उस पशु अवस्था में भी प्रयत्न करते हैं।

पारसपुराण में वर्णन आया है कि भगवान पारसनाथ पहले मरुभूति नाम के राजपण्डित के पुत्र थे। इनका भाई कमठ अत्यन्त दुष्ट था। मरुभूति आर्तध्यान से मरकर वज्रघोष हाथी हुआ। राजा अरविन्द भोगों से विरक्त हो मुनि बन गए। वे संघ सहित सम्मेदशिखर की वन्दना को जा रहे थे। मार्ग में एक भयंकर गजराज दिखा। उसका नाम वज्रघोष था। यही मरुभूति का जीव था। गजराज का जीव आगे कुछ भवों के बाद तीर्थंकर पार्श्वनाथ हुआ। मुनि को देखकर वह हाथी विकराल रूप धारण कर उनको मारने के लिए आया। लेकिन उनके दर्शन करते ही वह शांत हो गया। मुनिराज ने उस हाथी को कहा—अरे गजेन्द्र! तूने यह क्या अनर्थ कर डाला?

हिंसा करम परम अघहेत।
हिंसा दुर्गति के दुख देत।
हिंसा सो भमियो संसार।
हिंसा निज पर को दुखकार। (पारस पुराण p ६)

उसने कहा—तू नहीं जानता इस हिंसा के द्वारा महान पाप होता है। उनका उपदेश सुनकर उस गजेन्द्र में वैराग्य का भाव उत्पन्न हो गया। उसने व्रतों का पालन कर बारहवें स्वर्ग में शशिप्रभ नाम के देव का पद प्राप्त किया। इस प्रकार उस गजराज ने पशु होते हुए भी व्रतों के द्वारा अपना कल्याण किया। भूधर दास जी कहते हैं—

जयवन्तो वरतो सदा जैन धर्म जगमाँहि।
जाके सेवत दुख समुद पशु पक्षी तिर जांह। (अधिकार-२, दोहा ६३ p.१०)

तिर्यंचों का जीवन निकट से देखने पर पता चलेगा कि उन बेचारों को पूर्व जन्म के कर्मों के कारण कैसे-कैसे कष्ट भोगने पड़ते हैं। आचार्य गुणभद्र ने लिखा है, बिचारी हरिणी जंगल में रहकर घास पर जीवन बिताती है, किसी को पीड़ा नहीं देती, वह संग्रह शील भी नहीं है। उसका शरीर ही उसकी सम्पत्ति है। क्रूर हिंसक जीव अपनी गोली का उसे भी निशाना बनाते हैं। मायाचार के कारण पशुओं में वचन शक्ति का अभाव है। यदि समझदार व्यक्ति पशु जीवन की पीडाओं और मुसीबतों पर निगाह डाले, तो वह भी बहुत कुछ सीख सकता है। ये मूक पशु भी योग्य सामग्री के सन्निधान को पाकर आत्म कल्याण में लग जाते हैं। महावीर भगवान का जीव जब सिंह था तब मुनिराज ने उससे उपदेश में कहा था—"मृगेन्द्र प्रशमरतो भव"—शांति धारण करो। 'स्वचित्त करुणार्द्रम् कुरु"—अपने हृदय को करुणारस युक्त बनाओ। अरे सिंह! इस शरीर में क्या मोह करता है। तेरा काम है कर्मबंधन का नाश करके भगवान का पद प्राप्त करना। तू भव्य सिंह बन "त्यज वपुषि ममत्वबुद्धिम्"—शरीर के प्रति ममता के भावों का त्याग करो। दीन पशुओं को मारकर खाना बुरा काम है। जीव दया से बढ़कर कोई धर्म नहीं है। अरे सिंह! तू मृगेन्द्र कहलाता है। तू मृगबंधु बन। मांस भक्षण का त्याग कर।

साधु वाणी सुनते ही उस मृगेन्द्र के मन में ज्ञान की ज्योति जागी। उसने जीव घात का परित्याग कर दिया। मांस खाना छोड़ दिया और उपवास द्वारा अपने पापों का क्षय करते हुए स्वर्ग की भूमि को प्राप्त किया। ऐसे पशुओं का जीवन ज्ञानी पुरुष के लिए प्रकाशदाता है।

मनुष्य गति के विषय में गोम्मटसार में लिखा है—

मण्णंति जदो णिच्चं मणेण णिउणा मणुक्कडा जम्हा।
मणुब्भवा य सव्वे तम्हा ते माणुसा भणिदा। गो. जी. ॥१४८॥

जो सदा उचित अनुचित का विचार करे, गुण दोष आदि के विषय मे विचार कर सके, जो मन के विषय में उत्कट हो तथा युग की आदि मे उत्पन्न हुए मनुष्यों की संतति में हो उनको मनुष्य कहते हैं।

ये बातें लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्यों में नहीं घटित होती हैं। मनुष्य गति नाम कर्म और मनुष्य आयु के उदय की अपेक्षा उनको मनुष्य कहा गया है।

यह नर पर्याय सर्व पर्यायों मे महत्त्वपूर्ण है। इस पर्याय से ही मोक्ष प्राप्त होता है। इस कर्म भूमि के मनुष्य में अद्भुत क्षमता है। भावो की विशुद्धता द्वारा यह निर्वाण पद को प्राप्त करता है। अत्यन्त मलिन परिणामों से सातवें नरक को भी जाता है।

मनुष्य पर्याय वाला चारों गतियों में गमन कर सकता है। तत्त्वार्थ सार मे लिखा है—

सर्वेपि तैज सा जीवाः सर्वे चानिलकायिका।
मनुजेषु न जायन्ते ध्रुवं जन्मन्यनन्तरे ॥१५७॥

सभी अग्निकाय, वायुकाय के जीव मरकर अनन्तर भव में मनुष्य पर्याय को नही प्राप्त करते हैं।

यह मनुष्य भव की प्राप्ति बड़े भाग्य से होती है। इस नर भव को इसलिए महत्त्व दिया जाता है कि इसमे जीवन श्रेष्ठ बनाया जा सकता है।

मनुष्यगतौ अपि तपः मनुष्यगतौ महाव्रत सकलम्।
मनुष्यगतौ ध्यान मनुष्यगतौ अपि निर्वाणम् ॥२९९॥

मनुष्य गति मे ही तप का साधन होता है। मनुष्य गति मे ही महाव्रत का परिपालन होता है। मनुष्य गति मे ही उच्च ध्यान होता है। मनुष्य गति मे ही मोक्ष प्राप्त होता है।

यह मनुष्य की देह अत्यन्त घृणित और मलिन पदार्थों से परिपूर्ण है। इस सम्बन्ध मे स्वामी कार्तिकेय कहते हैं—

मनुजाना अशुचिमयं विधिना देह विनिर्मितम् ।
तेषा विरमणकार्ये ते तु पुनः तत्र एव अनुरक्ताः ॥८५॥

मनुष्यो का शरीर विधाता ने अशुचिपूर्ण ने बनाया। इसका यह कारण रहा, कि यह मानव इस निन्दनीय शरीर मे आसक्त न हो; परन्तु ऐसी घृणित देह मे भी अज्ञानी मानव अनुरागी बन जाता है।

दुर्लभ नर जन्म को पाकर मोह रूपी मदिरा का पान करने वाला मानव खोटे कामो में लगता है उसे आचार्य सचेत करते हैं —

दुष्कृतकर्मवशात् राजा अपि च अशुचिकीटकः भवति ।
तत्र एव च करोति रतिं प्रेक्षध्वं मोहस्य माहात्म्यम् ॥६३॥

अरे मानव! जरा सोच तो सही, पाप कर्म के कारण वैभवशाली राजा मरण कर अशुचि गृह मे कीड़ा बनता है और वह उसमे आसक्त हो जाता है। मोह की अद्भुत महिमा है।

मानव जन्म को पाकर दुर्भाग्यवश यदि पापी कुल में जन्म लेता है तो वह इस अमृतमय नर जन्म को विष मय बना देता है।

रत्नं चतुष्पथे इव मनुजत्वं सुष्ठुदुर्लभं लब्ध्वा।
म्लेच्छः भवेत् जीवः तत्र अपि पाप समर्जयति ॥२९०॥

दुर्लभ मनुष्य जन्म का पाना ऐसा है जैसे चतुष्पथ में गिरे हुए रत्न को पाना सामान्य भाग्य की

दात नही है । मनुष्य होकर भी यदि पाप क्रियाओ मे निपुण म्लेच्छ परिवार मे उत्पन्न हुआ, तो वहाँ निरन्तर पाप का ही संग्रह करता है ।

पूज्यपाद स्वामी ने लिखा है कि मनुष्य जन्म की प्राप्ति राजमार्ग पर गिरी रत्न राशि की प्राप्ति सदृश है । उस मनुष्य भव को पाकर यदि कल्याण नही किया तो फिर जीव अपना कल्याण कब करेगा ? मनुष्य जन्म की पुन प्राप्ति जले वृक्ष का पुन उसी वृक्ष रूप होना जैसे कठिन है इसी प्रकार मनुष्य भव की बात है ।

देवगति के विषय मे गोम्मटसार मे लिखा है—

दीव्वति जदो णिच्च गुणेहिं अट्ठेहिं दिव्वभावेहिं ।
भासंत दिव्वकाया तम्हा ते वण्णिया देवा ।।१५०।।

जो देवगति मे होने वाले परिणामो से सदा हर्षित रहते हैं, अणिमा महिमा आदि ऋद्धियो से युक्त हो स्वतन्त्र बिहार करते है, तथा जिनकी देदीप्यमान दिव्यदेह होती है, उनको देव कहा गया है ।

देवो मे अप्रतिम सौन्दर्य है । उनके शरीर मे मास आदि धातु नही रहती । वे भव-प्रत्यय अवधिज्ञान, विक्रिया शक्ति और श्रेष्ठ इद्रिय जनित सुखो का अनुभव किया करते है । देवो मे एक मानसिक संतापजनक परिस्थिति रहती है । ऊँचे देवो को देखकर नीचे के देव मानसिक सताप का अनुभव करते हैं । स्वर्ग के सुख भोगने मे अधिक आसक्त रहने वाले देव मरकर एक इद्रिय जैसी पतित अवस्था को प्राप्त करते हैं । देवो मे सर्व प्रकार के सुख मिलते है; लेकिन जिस समय उनकी आयु पूर्ण होने के समीप आती है तब उनको अवर्णनीय मनोव्यथा होती है, क्योकि मरने के उपरान्त उन्हे माता के गर्भ मे जन्म धारण करना होगा और स्वर्ग का दिव्य जीवन का आनन्द पुन नही मिलेगा ।

महापुराण में ललितांग देव का जीवन दीप बुझने के पहिले उसका वर्णन इस प्रकार किया गया है—"उस समय ऐसा मालूम होता था कि इस देव ने जन्म से लेकर आज तक जो दिव्य सुखों का अनुभव किया है वे सबके सब अब दु ख रूप होकर आये हो ऐसा लगता है । आयु के अन्त में देवों के कण्ठ की माला ही नही मुर्झाती, किन्तु पाप रूपी आतप के तपते रहने पर जीवो का शरीर भी म्लान हो जाता है ।" जिनसेन स्वामी कहते है, "स्वर्ग से च्युत होने के सन्मुख देव को जो तीव्र दु.ख होना है वह नारकी को भी नही हो सकता ।"

देव पर्याय मे अनेक ऐसी महान् आत्माएँ रहती हैं, जिनका जीवन मलिनता विमुक्त है और जो ज्ञान गगा मे अपने मन की मलिनता को सदा धोते है । सर्वार्थ सिद्धि के देव तो एक भव धारण कर मोक्ष जाते हैं । इस काल मे भी निर्मल देव पद को पाने वाले सत्पुरुषो के सम्बन्ध मे कुदकुद स्वामी ने मोक्ष पाहुड मे लिखा है -

अज्जवि तिरयणसुद्धा अप्पा झाएवि लहदि इंदत्त ।
लोयंतियदेवत्त तत्थ चुआ णिव्वुदिं जति ।।७७।।

वर्तमान पचमकाल मे भी रत्नत्रय के द्वारा शुद्ध महापुरुष अपनी आत्मा का ध्यान करके इद्र का पद प्राप्त करते है । वे लौकातिक देव होते हैं, जो स्वर्ग से चयकर मनुष्य होकर निर्वाण पद को पाते हैं ।

पंचमकाल मे मोक्षगमन नही होता । इस काल के जीव आर्तध्यान और रौद्रध्यान के द्वारा सहज ही नरक और पशु पर्याय को प्राप्त करते हैं । जो सत्पात्र दान देते हैं, धर्म का कार्य करते हैं, वे पुण्य का बंधकर मनुष्य-देवो मे उसका फल भोगते है । लोकानुप्रेक्षा मे कुदकुद स्वामी ने कहा है—

असुहेण णिरयतिरियं सुहउवजोगेण दिविज-णरसोक्खं ।
सुद्धेण लहि सिद्धिं एवं लोयं विचिंतिज्जो ।।४२।।

अशुभ उपयोग के द्वारा जीव नरक तिर्यञ्च पर्याय में जाता है। शुभोपयोग के द्वारा वह स्वर्ग और मनुष्यों के सुख को अनुभव करता है। शुद्ध उपयोग के द्वारा जीव सिद्ध पद को पाता है। इस प्रकार लोक के बारे में चिंतवन करना चाहिए।

सत्प्रवृत्तियों के द्वारा सुरपद पाने वाला सत्पुरुष नरकादि की पीड़ा से बचता है। उसे पंच विदेहो मे जाकर समवशरण में स्थित तीर्थंकर भगवान् की वाणी सुनकर अपनी मोहजन्य भ्रान्ति को दूर करने का सुयोग प्राप्त होता है। अकृत्रिम जिन बिम्बो के दर्शन द्वारा जीवन सफल करने का सुअवसर मिलता है। इससे उसकी धर्म मे दृढ बुद्धि होती है। समवशरण में जाकर दिव्य, अचित्य, अद्भुत वैभव के मध्य सिंहासन से चार अंगुल ऊपर विराजमान वीतरागता, विज्ञानता की साक्षात् मूर्ति जिनेन्द्र का दर्शन करता है और मन मे सोचता है "इद समवशरणं एते वीतराग सर्वज्ञाः गणधर देवादय ये पूर्वं श्रूयंते ते इदानी प्रत्यक्षेण दृष्टा"—इस समय मुझे यह समवशरण दिख रहा है, समवशरण के मध्य श्री मण्डप पर वीतराग सर्वज्ञ भगवान शोभायमान हो रहे हैं। मुनियो की सभा मे गणधर देव मनः पर्ययज्ञानी, सर्वावधिज्ञानी, चारण ऋद्धिधारी, सर्वौषध ऋद्धिधारी आदि मुनीन्द्र दर्शन दे रहे हैं। जैसा हमने पूर्व मे सुना था, उसी प्रकार इस परम दिव्य, आध्यात्मिक प्रकाश प्रदान करने वाली सामग्री का दर्शन करते हैं। इस प्रकार धर्मात्मा जीव स्वर्ग में जाकर अद्भुत आनन्द का अनुभव करने के साथ सम्यक्त्व का प्रकाश पाने की सामग्री प्राप्त करता है।

देवा चउण्णिकाया मणुया पुण कम्म-भोगभूमीया ।
तिरिया बहुप्पयारा णेरइया पुढविभेदगदा ।।

देवाश्चतुर्णिकायाः मनुजाः पुन. कर्म-भोग-भूमिजाः
तिर्यंच बहुप्रकाराः नारका पृथ्वीभेदगता ।।११८।।

देवगति तथा देवआयु के उदय से भवनवासी, व्यतर, ज्योतिषी तथा वैमानिक रूप चार प्रकार के भेद युक्त देव होते हैं। मनुष्य गति तथा मनुष्य आयु के उदय से मनुष्य होते है। वे कर्म भूमिज तथा भोग भूमिज के भेद युक्त हैं। तिर्यंच गति और तिर्यंच आयु के उदय से तिर्यंच होते हैं। उनके अनेक भेद हैं। नरक गति और नरक आयु के उदय से नारकी होते है। ये सात पृथ्वियो के भेद से सात प्रकार के भेद युक्त हैं।

विशेष—यहाँ आचार्य कहते हैं नित्य निरंजन परमज्योति स्वरूप यह आत्मा अनादिकाल से बद्ध कर्मोदय वश देव, मनुष्य, तिर्यंच तथा नरकगति मे परिभ्रमण करता है और पच परावर्तन करता है। नित्य निगोदिया जीव एकेन्द्रिय पर्याय मे कर्म विपाक का सदा अनुभव करता है। 'तेषा त्रसत्वं नास्ति'— उनको त्रसपर्याय भी नहीं मिलती। उनके पचप्रकार का परावर्तन नही पाया जाता।

सम्यक्त्वी सत्पुरुष सोचता है–

एकः सदा शाश्वतिको ममात्मा
विनिर्मलः साधिगमस्वभावः
बहिर्भवाः संत्यपरे समस्ताः
न शाश्वताः कर्मभवाः स्वकीयाः.

मेरा आत्मा सदा एक है, अविनाशी है, निर्मल है, ज्ञानस्वभावयुक्त है। कर्म विपाक जनित सामग्री हमारी नहीं है। वह विनाशशील है।

धर्म का शरण लेनेवाला विवेकी जीव ससार सिंधु से पार होने के लिए पूरी शक्ति लगाकर प्रयत्न करता है। वह एक क्षण भी प्रमाद नहीं करता। भगवान ने गौतम स्वामी से कहा था,—"गोयम! समयं माप-मादये"। कुंदकुंद स्वामी की यह देशना चिरस्मरणीय है—

जं सक्कइ त कीरइ जं च ण सक्केइ तं च सद्दहणं।
केवलिजिणेहि भणियं सद्दहमाणस्य सम्मत्त ॥२२॥ दर्शन पाहुड़

जितनी शक्ति है उतना धर्म का पालन करो। जिसे पालन करने में तुम असमर्थ हो उस सम्बन्ध में श्रद्धा भाव रखो। सर्वज्ञ जिनेश्वर ने कहा है श्रद्धावान व्यक्ति को सम्यक्त्व प्राप्त होता है।

खीणे पुव्वणिबद्धे गदिणामे आउसे च तेवि खलु।
पापुण्णंति य अण्णं गादिमाउस्सं सलेस्सवसा ॥

क्षीणे पूर्वनिबद्धे गतिनाम्नि आयुषि च तेऽपि खलु।
प्राप्नुवंति चान्यां गतिमायुष्क स्वलेश्यावशात् ॥११६॥

पूर्व में बाँधे गये गति नाम कर्म तथा आयु कर्म के क्षय होने पर जीव अपनी कषायानुरंजित योग प्रवृत्ति रूप लेश्या के अनुसार अन्य गति और आयु को प्राप्त करते हैं।

विशेष—जैसे मनुष्य आयु तथा मनुष्य गति नाम कर्म के उदय से मनुष्य पर्याय युक्त जीव अपनी आयु के क्षय हो जाने पर मरण करके अन्य पर्यायों में जाकर उस आयु तथा गति के उदय पर्यन्त वहाँ रहता है। यहाँ आचार्य कहते हैं—वर्तमान आयु के समाप्त होते समय जिस प्रकार की जीव की लेश्या कषाय के उदय से अनुरंजित योग प्रवृत्ति) होती हैं, तदनुसार वह आगामी पर्याय को प्राप्त करता है। दिगम्बर मुद्रा को धारण करने वाला अभव्य जीव शुक्ल लेश्या सहित प्राणों का परित्याग कर अन्तिम ग्रैवेयक में उत्पन्न होता है। सम्यक्त्वी जीव मरते समय अशुभ लेश्या के फलस्वरूप नीच गति में जाता है। गोम्मटसार में कहा है—मनुष्य और तिर्यंचों के कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म शुक्ल ये छह लेश्या होती हैं। एकइन्द्रिय से लेकर चौइन्द्रिय पर्यन्त जीवों के कृष्ण नील कापोत अशुभ लेश्या होती है। असंज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त जीवों के कृष्ण, नील, कापोत और पीत ये चार लेश्या होती है। कपोत लेश्या वाला असंज्ञी पचेन्द्रिय मरण कर पहले नरक को जाता है। पीत लेश्या सहित मरने से भवनवासी और व्यंतरदेवों में उत्पन्न होता है। कृष्ण नील आदि तीन अशुभ लेश्या सहित मरने से मनुष्य तथा तिर्यंचों में उत्पन्न होता है।

कषायरहित जीवों के एक शुक्ल लेश्या ही होती है। वह लेश्या उपचार से भूतपूर्व प्रज्ञापननय की अपेक्षा से कही गई है अथवा योग प्रवृत्ति को लेश्या कहा गया है।

लेश्याओं के कुल छब्बीस अंश होते हैं। उनमें आगामी आयुबन्ध के योग्य मध्य के आठ अंश कहे हैं। यहाँ यह बात ध्यान देने की है कि मनुष्य की वर्तमान आयु के दो तिहाई भाग बीतने पर एक भाग के प्रथम अन्तर्मुहूर्त प्रमाण काल में विद्यमान लेश्या के अनुसार आगामी आयु का बन्ध होता है। यदि इस अव-सर पर बन्ध न हुआ, तो शेष आयु के दो भाग बीतने पर एक भाग शेष रहने पर इस एक भाग के प्रथम समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त परभव सम्बन्धी आयु का बन्ध होता है। इसको अपकर्ष काल कहते हैं।

ऐसे आठ अपकर्षों के समय में भी यदि आयु का बन्ध नहीं हुआ, तो भुज्यमान आयु की अन्तिम आवली के असंख्यातवें भाग प्रमाण काल रहने पर आगामी आयु का बन्ध होता है।

देव और नारकी अपनी आयु के अन्तिम छह माह शेष रहने पर आयु के बन्ध करने योग्य लेश्या युक्त होते हैं। इसमें भी छह महीने के आठ अपकर्ष काल मे ही आगामी आयु का बन्ध करते हैं। भोगभूमिया मनुष्य या तिर्यंच अपनी आयु के नौ माह शेष रहने पर आठ अपकर्षों में से किसी भी अपकर्ष में आयु का बन्ध करते हैं।

अपकर्ष काल मे होने वाले लेश्याओं के आठ मध्यम अंशो को छोड़कर शेष अठारह अंश चारों गतियों में गमन के कारण हैं–'सेसट्ठारस-अंशा चउगइ गमणस कारणं होदि' शुक्ल लेश्या के उत्कृष्ट अंश से मरकर जीव सर्वार्थसिद्धि को जाते हैं।

लेश्याओ के विषय में यह बात ज्ञातव्य है कि चतुर्थ गुण स्थान पर्यन्त छहों लेश्या होती हैं। देश विरत, प्रमत्त संयत, अप्रमत्त सयत गुणस्थानों में तीन शुभ लेश्या होती है। अयोग केवली भगवान के कषाय और योग का अभाव हो जाने से लेश्या नहीं मानी गई है।

लेश्याओ को समझाने के लिए छह पथिको का उदाहरण दिया जाता है– वे फलो से लदे हुए वृक्ष को देखकर सोचते हैं। कृष्ण लेश्या वाला अपनी मलिनतम मनोवृति के फलस्वरूप वृक्ष को मूल से उखाड़कर फल भक्षण की सोचता हैं। उससे कम मलिन परिणाम युक्त नील लेश्या वाला वृक्ष के स्कन्ध को काटकर फल खाने की सोचता है। कपोत लेश्या वाला बडी शाखाओ को काटने की सोचता है। पीत लेश्या वाला सोचता है कि मं वृक्ष की छोटी २ शाखाओ को काटकर फल खाऊँगा। निर्मल परिणाम वाला पद्म लेश्या युक्त व्यक्ति सोचता हैं, मं व्यर्थ में शाखा आदि को तोडने की मूर्खतापूर्ण कल्पना को छोडकर वृक्ष के फलों को तोडकर खाऊँगा। अत्यन्त उज्ज्वल विचार सहित शुक्ल लेश्या वाला सोचता है वृक्ष से स्वयं गिरे हुए फलो से मेरा काम चल सकता है इसीलिए उनसे ही अपनी क्षुधा शांत करूँगा।

अत्यन्त दुष्ट कृष्ण लेश्या वाले मनुष्य आज अधिक मिलते हैं। उनका लक्षण इस प्रकार दिया है–

चण्डो ण मुचइ वैरं भंडणसीलो य धम्मदयरहिओ।
दुट्ठो णय एदि वसं लक्खमेयतु किण्हस्स ।५०८।

जो तीव्र क्रोध करने वाला हो, बैर को न छोडे, लडाकू स्वभाव वाला हो, धर्म और दया से रहित हो, दुष्ट हो और जो किसी के वश मे न हो, ऐसा नीच व्यक्ति कृष्ण लेश्या वाला कहा है।

सबसे अच्छी शुक्ल लेश्या वाला मरकर उच्च गति को जाता है। ऐसे व्यक्ति इस काल मे बहुत कम दिखाई देते हैं। उनका लक्षण इस प्रकार कहा है–

णय कुणई पक्खवायं णवि य णिदाण समो य सव्वेसिं।
णत्थि य रायद्दोसाय णेहोवि सुक्कलेस्सस्स ।५१६।

पक्षपात न करना, भोगों की आकांक्षा न करना, समदर्शी होना, रागद्वेष नही करना, स्त्री पुत्र मित्र आदि मे आसक्ति रहित होना शुक्ल लेश्या के चिन्ह हैं। मलिन परिणामो के कारण ही तीर्थंकर सर्वज्ञ महावीर प्रभु के पदपद्मों मे बहुत समय व्यतीत करने वाले मगध सम्राट श्रेणिक ने नरक आयु का बन्ध किया। महापुराण में लिखा है– राजा श्रेणिक गौतम स्वामी से कहते हैं–

कृतो मुनिवधानन्दस्तीव्रो मिथ्यादृशा मया।
येनायुष्कर्म दुर्मोचं बद्धं श्वाभ्रीं गतिं प्रति ।२-२४।

मुझ मिथ्या दृष्टि ने मुनिवध सम्बन्धी कार्य में आनन्द का अनुभव किया था क्योंकि दृष्टि उस समय मिथ्यात्व अंधकार से मलिन थी। इससे कभी भी न छूटने वाला नरक आयु का बन्ध हुआ है। यह एक विशेष बात है कि आगामी आयु का बन्ध हो जाने पर जो अपकर्ष काल कहे गये हैं, उस समय आयु की स्थिति में न्यूनाधिक हो जाती है। राजा श्रेणिक ने तेंतीस सागर की सातवें नरक की आयु बाँधी थी जो अपकर्षण काल में घटकर चौरासी हजार वर्ष हो गई है

मनुष्य को यह पता नही है कि मेरी वर्तमान भुज्यमान आयु का शेष एक भाग रूप अपकर्ष काल कब आया है, इसीलिए अपने जीवन को सदा निर्मल बनाने का प्रयत्न करना विवेकी मानव का कर्त्तव्य है।

एदे जीवणिकाया देहप्पविचार-मस्सिदा भणिदा।
देहविहूणा सिद्धा भव्वा संसारिणो अभव्वया य॥

एते जीवनिकाया देहप्रवीचार-माश्रिताः भणिताः।
देहविहीना सिद्धाः भव्या ससारिणोऽभव्याश्च ॥१२०॥

ये जीव समुदाय देह मे प्रवीचार अर्थात् सद्भाव वश कहे गये है। शरीर से रहित अशरीरी सिद्ध परमात्मा हैं। ससारी जीवों के भव्य और अभव्य ये दो भेद हैं।

विशेष - ससारी जीव देह मे स्थित रहता है, इससे उसे देह प्रवीचार से युक्त कहा है। सिद्ध भगवान ने कर्मों का क्षयकर अशरीरपना तथा ज्ञानशरीरीपने की स्थिति को प्राप्त किया है। इस कथन से यह खुलासा हो जाता है, कि दो प्रकार के जीव हैं। शुद्ध जीव सिद्ध परमात्मा है, जिनके पौद्गलिक देह का अभाव है।

इन शुद्ध, बुद्ध, नित्य, निरंजन सिद्ध भगवान के सिवाय अनतानत ससारी जीव हैं। जितनी सिद्ध परमात्मा की सख्या है, उससे अनतगुणे संसारी जीव एकेन्द्रिय निगोदिया जीव के शरीर मे पाए जाते है। सर्वजीवों को शुद्ध पर्याययुक्त मानने पर अनंतानत निगोदराशि को भी सिद्ध भगवान कहना होगा। भैंस, हाथी, घोडा, वराह, गर्दभ आदि को प्रत्यक्ष पशु पर्याय मे देखते हुए भी उन अज्ञानी जीवो का सर्वज्ञ भगवान अव्याबाधसुख युक्त मानना होगा, जो कि सभी मानवो द्वारा उपहासास्पद बात होगी।

ग्रंथकार ने इस गाथा मे स्वय जीव के दो भेद स्वीकार किए हैं। इससे मायाजाल मे फंसे हुए व्यक्ति का स्वयं को अल्पज्ञ होते हुए सर्वज्ञ, दुखो के जाल मे फसे रहते हुए अनत आनद का रसास्वादन करने वाली धारणा धराशायी बन जाती है। वह ससारी हैं। मुक्तजीव शरीर रहित होते हैं। तुम हड्डी, मांस, मल-मूत्र के शरीर को धारण कर रहे हो, अतः तुम वर्तमान पर्याय मे शुद्ध, बुद्ध, सिद्ध नही हो। तुम दुःख के सागर मे डूबे हो सर्वज्ञ प्रणीत आगम के प्रकाश मे चलने वाला सिद्धीश्वर बन जाता है।

यहाँ ग्रंथकार ने यह बताया है कि संसारी जीव भी समान नही हैं। उसके भव्य जीव और अभव्य जीव इस प्रकार के दो भेद हैं। भव्य जीव साधन सामग्री को प्राप्त कर सिद्ध भगवान बनता है, किन्तु अभव्य जीव सदा ही ससार की दावाग्निमे भस्म होता रहता है। निर्वाण पद प्राप्त करने की उसमें शक्ति ही नही है। वैसे निश्चय दृष्टि से अभव्य मे भी मोक्ष प्राप्ति की शक्ति है, किन्तु उस शक्ति की अभिव्यक्ति कभी नही होगी। बृहद् द्रव्य सग्रह मे कहा है–

"मिथ्यादृष्टि भव्य जीव बहिरात्मा व्यक्तिरूपेण तिष्ठति अन्तरात्मपरमात्म द्वयं शक्तिरूपेण, भाविनैगम नयापेक्षया व्यक्तिरूपेण च । अभव्य जीवे पुनर्बहिरात्मा व्यक्तिरूपेण, अन्तरात्म-परमात्म द्वयं शक्तिरूपेणैव, न च भाविनैगम नयेनेति । शक्ति- पुनः शुद्धनयेन उभयत्रसमाना ।"

मिथ्या दृष्टि भव्य जीव मे बहिरात्मपना व्यक्ति रूप मे विद्यमान है। अन्तरात्मा और परमात्मा ये दो शक्ति रूप से पाये जाते हैं। भाविनैगमनय की अपेक्षा से अन्तरात्मपना और परमात्मपना व्यक्ति रूप से पाये जाते हैं। अभव्य जीव मे बहिरात्मपना व्यक्ति रूप से है। अन्तरात्मा और परमात्मा ये दो पद शक्ति रूप से भव्यों के समान अभव्यो मे भी पाये जाते हैं। भाविनैगमनय की अपेक्षा अन्तरात्मा और परमात्मा अभव्य नही है। शक्ति के अपेक्षा अन्तरात्मा और परमात्मपना शुद्धनय से भव्य और अभव्य में समान रूप से पाया जाता है। (पेज ४६ गाथा १४)

ससारी जीवों मे कौन भव्य है, कौन अभव्य है, इसका परिज्ञान दिव्यज्ञानी केवली को ही हो सकता है। समवशरण मे जिनेश्वर का जो प्रभामण्डल है, उसमें भव्य जीव अपने सात भव देख सकते हैं। सामान्य मनुष्य के लिए यह बात विचारणीय है, कि वह भव्य है अथवा अभव्य है ? इस दुषमा पंचम काल मे केवली भगवान् का अभाव रहने से इस विषय मे ठीक–ठीक समाधान प्राप्त नही हो सकता।

महा पुराण मे एक उपयोगी कथानक इस प्रकार पाया जाता है। आदिनाथ भगवान् दश भव पूर्व महाबल नाम के विद्याधरो के राजा थे। उनके धार्मिक मंत्री स्वयबुद्ध अकृत्रिम जिनालयो की वंदनार्थ गए थ। मेरु पर्वत के सौमनसवन की प्रतिमाओ की पूजा करके वह बैठ गये। वहाँ आदित्यगति, अरिंजय नाम के आकाशगमन ऋद्धिधारी महामुनियो के दर्शन का महान लाभ मिला।वे मुनिराज युगन्धर तीर्थंकरके समवशरण मे गये थे। ऐसा स्वयबुद्ध मन्त्री को पता चला। उसने पूछा–'हमारे राज्य के अधिपति महाराज महाबल भव्य हैं अथवा अभव्य है ?' उस समय आदित्यगति नाम के अवधिज्ञानी मुनि ने कहा–"हे भव्य ! तुम्हारा स्वामी भव्य ही है" "भो भव्य, भव्य एवासौ" (पर्व ५, श्लोक २००)। अत अपने भव्यपने का परिज्ञान न होते हुए कोई–कोई अविवेकी आगम के विपरीत श्रद्धा और ज्ञान धारण करते हुए अपने आप को सम्यक्त्वी मान बैठे हैं। वे स्वयं आत्म वचना करते हैं। उन्होने सम्यक्त्व रत्न को काच का टुकडा समझ लिया है। समंत भद्र आचार्य कहते हैं—

न हि सम्यक्त्वसम किंचित् त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि ।
श्रेयोऽश्रेयाश्च मिथ्यात्वसम नान्यत्तनुभृताम् ॥

तीन काल, तीन लोक मे जीवो का सम्यक्त्व के समान कल्याणकारी नही है एव मिथ्यात्व के समान अहितकारी नही है।

कार्तिकेयानुप्रेक्षा मे कहा है– 'खइय केवलिमूले मणुसस्स" (३०८) केवली श्रुत केवली के पाद मूल मे मनुष्य के क्षायिक सम्यक्त्व उत्पन्न होता है। इस काल मे क्षायिक सम्यक्त्व के लिए विशिष्ट सामग्री केवली द्विक रूप का यहाँ समागम सभव नही है। उपशम और क्षयोपशम सम्यक्त्व हो सकते हैं। उपशम सम्यक्त्व तो अतर्मुहूर्त पर्यन्त अथवा प्रकाश प्रदान कर अस्तगत हो जाता है। क्षयोपशम सम्यक्त्व अनेक बार उत्पन्न होता है तथा अस्त हो जाता है।

गिण्हदि मुचदि जीवो बे सम्मत्ते असखवाराओ ।
पढम कसाय विणासं देसवय कुणइ उक्किट्ठं ॥३१०॥

यह जीव औपशमिक, क्षायोपशमिक सम्यक्त्व, अनतानुबधी का विसयोजन तथा देशव्रत को असख्यात बार ग्रहण करता है और छोडता है। यह उत्कृष्टपने की दृष्टि से कहा है। इसमे यह भ्रम दूर होता है कि यदि किसी ने एक बार सम्यक्त्व पा लिया तो वह कभी नही छूटेगा। यह विशेषता क्षायिक सम्यक्त्वी में है। जो यहाँ नही होता।

गोम्मटसार मे कहा है—

खय-उवसमिय-विसोही-देसण पाओग्ग-करणलद्धीय।
चत्तारि वि सामण्णा करण पुण होदि सम्मत्त ॥६५०॥

क्षायोपशमिक, विशुद्धि, देशना, प्रयोग्य तथा करणलब्धि है जो सामान्य है इनमे करणलब्धि विशेष है। इसके होने पर सम्यक्त्व या चारित्र नियम मे होता है।

यहाँ सम्यक्त्व के ग्रहण योग्य सामग्री को लब्धि कहा है। सम्यक्त्व के योग्य कर्मों के क्षयोपशम होने को क्षायोपशमिक लब्धि कहा है। योग्य धर्मोपदेश की प्राप्ति को देशना कहते है। पचेन्द्रिय, पर्याप्ति आदि साधन को प्रायोग्य लब्धि कहते है। अध करण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण परिणामो को करण लब्धि कहते हैं। जब तक करण लब्धि नही होती, तब तक सम्यक्त्व नही होता है।

चदुगदि भव्वो सण्णी पज्जत्तो सुज्झगोय सायारो।
जागारो सल्लेसो सलद्धिगो सम्ममुवगमइ ॥ ६५१ ॥

जो जीव चार गतियो मे से किसी एक गति का धारक हो भव्य, सज्ञी, पर्याप्त, विशुद्धि युक्त, जागृत, उपयोग युक्त तथा शुभ लेश्याओ का धारक होकर करण लब्धि को प्राप्त करता है, वह सम्यक्त्व को प्राप्त करता है।

इस सम्यक्त्व के विषय मे यह बात उल्लेखनीय है—चारो गति सबधी आयु का बध हो जाने पर भी भव्य जीव सम्यक्त्व रत्न को प्राप्त कर सकता है। जिसने नरकायु, तिर्यगायु, मनुष्य आयु का बध कर लिया वह व्यक्ति अणुव्रत और महाव्रत नही धारण कर सकता। जिसने देव आयु का बध कर लिया है अथवा जिसके किसी आयु का बध नही हुआ है वह व्रत धारण कर सकता है। कभी-कभी देखा जाता है कि, नरक आयु का बध करने की जिसकी चेष्टा दिखती है, उसे व्रत नही सुहाता और इसलिए वह व्रत धारण नही कर सकता।

णहि इंदियाणि जीवा काया पुण छप्पयार पण्णत्ता।
जं हवदि तेसु णाणं जीवोत्तिय त परुवति।
नहीन्द्रियाणि जीवा. काया. पुन षट्प्रकाश. प्रज्ञप्ता:।
यद्भवति तेषु ज्ञान जीव इति च तत्प्ररुपयति ॥१२१॥

स्पर्शन आदि इद्रिय, पृथ्वी आदि छह काय को जीव नही जानना चाहिए। उन इद्रियो और कायों में से जो ज्ञान युक्त है, उसे जीव कहा है।

विशेष— इद्रियो के दो प्रकार हैं। शरीर नाम कर्म के द्वारा चक्षु आदि द्रव्य इद्रियो की रचना होती है। मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से ज्ञान रूप भाव इद्रियाँ होती हैं। ज्ञान जीव का स्वरूप है, अत: भावेन्द्रियो को जीव कहा गया है।

मदि-आवरण-खओव-समुत्थ-विसुद्धी हु तज्ज वो हो वा ।
भाविंदियं तु दव्वं देहुदयज-देहचिण्हं तु ।। गो. जी १६४

मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशमजनित विशुद्धि अथवा उस विशुद्धि से उत्पन्न उपयोगात्मक ज्ञान को भावेन्द्रिय कहा है । शरीर नामकर्म के उदय से होने वाले शरीर के चिन्ह विशेष को द्रव्येन्द्रिय कहते हैं ।

द्रव्येन्द्रिय के निर्वृत्तिउपकरण रूप दो भेद हैं । निर्वृत्त्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम् (त सू. २-१७) भावेन्द्रिय के लब्धि और उपयोग रूप दो भेद हैं" लब्ध्युपयोगी भावेन्द्रियम् (१८)

प्रदेशो की रचना विशेष को निर्वृत्ति कहते हैं । इंद्रियो के आकार रूप पुद्गल की रचना विशेष को बाह्य निर्वृत्ति कहते हैं । आत्मा के विशुद्ध प्रदेशो की इंद्रियाकार रचना विशेष को आभ्यंतर निवृत्ति कहते हैं ।

जो इद्रियों का उपकार करता है, उसे उपकरण कहते हैं 'येन निर्वृत्ते रुपकारः क्रियते तदुपकरणम्' (स. सि २-१७)

नेत्र इंद्रिय मे कृष्ण शुक्ल मण्डल की तरह सब इद्रियो मे जो निर्वृत्ति का उपकार करे, उसे आभ्यंतर उपकरण कहा है । नेत्रेन्द्रिय मे पलक की तरह जो निर्वृत्ति का उपकार करे, उसको बाह्योपकरण कहते हैं ।

ज्ञानावरण के विशेष क्षयोपशम को लब्धि कहते हैं । लभनं लब्धि. । ज्ञानावरण क्षयोपशम विशेष जिसके सन्निधान से आत्मा द्रव्येन्द्रिय रूप निर्वृत्ति के प्रति व्यापार करता है, उसे लब्धि कहते हैं ।

जीव के लक्षण रूप चैतन्यानु विधायी परिणाम को उपयोग कहते हैं । वह भावेन्द्रिय है ।

शका—'इद्रिय फलमुपयोगस्तस्यकथामिन्द्रित्वम्' इद्रिय का फल उपयोग है, उसे कैसे इंद्रियपना प्राप्त होगा ?

समाधान– कारण का धर्म कार्य मे देखा जाता है जैसे घटाकार परिणत विज्ञान को घट कहते हैं । कारण धर्मस्य कार्ये दर्शनात् यथा घटाकार परिणत विज्ञान घट इति "इसी प्रकार इद्रिय निमित्त उपयोग को इद्रिय कहते हैं ।" (रा वा पृ ६१)

इस प्रकार पुद्गल इंद्रियो मे जीवपना नही है । उनमे ज्ञान को जीव कहा है । इसी प्रकार पृथिवी अप, तेज, वायु, वनस्पति तथा त्रस रूप षट्काय मे ज्ञानात्मक जीव है ।

जाणदि पस्सदि सव्वं इच्छदि सुक्खं विभेदि दुक्खादो ।
कुव्वदि हिद महिदं वा भुंजदि जीवो फलं तेसिं ।।
जानाति पश्यति सर्वमिच्छति सुख विभेति दुःखात् ।
करोति हित महित वा भुक्ते जीवः फल तयोः ।।१२२।।

जीव सर्व पदार्थों को जानता है, देखता है । वह सुख की इच्छा करता है तथा दुःख से भयभीत होता है । वह हितप्रद, अहितप्रद कार्य करता है तथा अपने अच्छे बुरे कर्मों का फल भोगता है ।

विशेष – यहा जीव के कार्यों पर प्रकाश डाला गया है । जीव ज्ञाता है, दृष्टा है सुख की आकाक्षा करता है । दुःखों से डरता है । वह अच्छे बुरे कर्मों को करता है तथा उनका फल भी भोगता है । अकलक स्वामी ने स्वरूप संबोधन मे कहा है —

कर्ताय कर्मणा भोक्ता तत्फलाना स एव तु ।
बहिरन्तरुपायाभ्या तेषां मुक्तत्व मेवाही ।।१०।।

जो आत्मा अपने द्रव्य कर्म, भाव कर्मो का कर्ता है, वही कर्मों के फलो को भोगता है तथा बाह्य और अंतरंग कारणो के द्वारा वही उन कर्मो का क्षय करता है।

कुदकुंद स्वामी ने कहा है—

एक्को करेदि कम्म एक्को हिडदिय दीह ससारे।

एक्को जायदि मरदिय तस्स फलं भुजदे एक्को ॥२४॥ अनुप्रे

एक ही जीव शुभ अशुभ कर्मो को करता है। एक ही जीव इस अनंत संसार मे परिभ्रमण करता है। एक ही जीव उत्पन्न होता है, मरण करता है तथा वही एक जीव अपने कर्मो का फल भोगता है।

यहाँ जीव की ससारी अवस्था का द्वादश अनुप्रेक्षा मे प्रतिपादन करते हुए कुदकुद स्वामी ने आत्मा को कर्मों का कर्ता, जन्म, मरण तथा कर्म फलो का भोक्ता कहा है।

यह जीव सुख चाहता है तथा दुःख मे डरता है, किन्तु इच्छा करने मात्र से सुख की प्राप्ति अथवा दुःख का परिहार नही होगा। सुख दुःखादि प्राप्ति जीव के पूर्वार्जित कर्मों पर निर्भर है। समन्त भद्र स्वामी ने स्वयभू स्तोत्र मे कहा है—

बिभेति मृत्योर्न ततोस्ति मोक्ष

नित्य शिव वाछति नास्य लाभ।

तथापि बालो भय-काम वश्यो

वृथा स्वयं तप्यत इत्यवादी ॥ सुपार्श्वस्तवन ३८

हे जिनेन्द्र! आपने बताया है कि ससारी प्राणी मृत्यु से डरता है, किन्तु मृत्यु से छुटकारा नही होता। सुख की सामग्री चाहता है, परन्तु अभीष्ट पदार्थ का लाभ नही होता। यह स्थिति रहते हुए भी अज्ञानी जीव भय और कामनाओ के वशीभूत रहता है, तथा स्वय व्यर्थ मे सताप को प्राप्त करता है।

पुग्गल कम्मादीण कत्ता ववहारदो दु णिच्चयदो।

चेदण कम्माणादा सुद्धणया सुद्धभावाण ॥ द्रव्य ८ ॥

व्यवहार नय से आत्मा पुद्गल कर्मों का कर्ता है। निश्चयनय से आत्मा चेतन कर्मो का कर्ता है।

एवमभिगम्य जीवं अण्णेहिं विपज्जएहिं बहुगेहिं।

अभिगच्छदु अज्जीवं णाणंतरिदेहिं लिंगेहिं ॥

एवमभिगम्य जीव अन्यैरपि पर्यायकै र्बहुकैः।

अभिगच्छत्वजीवं ज्ञानातरितै लिंगैः ॥ १२३ ॥

इस प्रकार जीव को गुण स्थान, मार्गणास्थानादि द्वारा अनेक पर्यायो मे जानना चाहिए। ज्ञान से भिन्न साधनो से अजीव का भी परिज्ञान करना चाहिए।

विशेष— जीव के समान अजीव का परिज्ञान सम्यग्दृष्टि के लिए आवश्यक है। उस अजीव का लक्षण ज्ञानांतरित है अर्थात् ज्ञान से अर्थान्तरभूत चिन्हो से अजीव का परिज्ञान करना चाहिए। जिसमे ज्ञान का अभाव है, वह अजीव है।

आगास-काल-पुग्गल-धम्माधम्मेसु णत्थि जीवगुणा।
तेसिं अचेदणत्तं भणिदं जीवस्स चेदणदा ॥
आकाश-काल-पुद्गल-धर्माधर्मेषु न संति जीवगुणा।
तेषामचेतनत्वं भणितं जीवस्य चेतनता ॥ १२४ ॥

आकाश, काल, पुद्गल, धर्म तथा अधर्म मे चैतन्य गुण नही पाया जाता। उनका गुण अचेतनता है। जीव का गुण चेतनता कहा है।

विशेष—कार्तिकेयानुप्रेक्षा मे जीव के सम्बन्ध मे कहा है --

उत्तम-गुणाण धाम सव्वदव्वाण उत्तमं दव्वं।
तच्चाण परमतच्च जीव जीणेहि णिच्छयदो ॥२०४॥

उत्तम गुणानां धाम सर्वद्रव्याणा उत्तम-यह जीव द्रव्य उत्तम गुणो का स्थान है तथा सर्व द्रव्यो मे जीव द्रव्य श्रेष्ठ है। यह जीव तत्त्वो मे परम तत्व है ऐसा निश्चय से जानना चाहिए। अजीव द्रव्य ज्ञान विहीन होने से "हियाहिय णेव जाणादि"-अपने हित, अहित को नही जानता।

जीवादि छह द्रव्यो मे इद्रिय ग्राह्यपना केवल पुद्गल मे है। चक्षु इद्रियो के द्वारा हम रूप का ज्ञान करते हैं, रसना इद्रिय द्वारा रस का ज्ञान करते हैं, घ्राण इद्रिय से गंध का परिज्ञान, स्पर्श इंद्रिय द्वारा स्पर्श का तथा कर्ण इद्रिय द्वारा शब्द का ज्ञान करते हैं। अन्य धर्मादि द्रव्य इद्रियो के अगोचर है। पुद्गल द्रव्य की संज्ञा जीव राशि से अनत गुणी है। कार्तिकेयानुप्रेक्षा मे कहा है --

जं इंदिएहि गिज्झ रूप-रस-गध-फास-परिणाम।
त चिय पुग्गलदव्व अणतगुणं जीवरासीदो ॥२०७॥

जो रूप, रस, गध, स्पर्श का परिणमन इद्रिय ग्राह्य है वह पुद्गल है। वह "अणतगुण जीवरासीदो" जीव राशि से अनंत गुणित है।

धर्म, अधर्म, आकाश, काल ये चार अरूपी द्रव्य जीव को कोई हानि नही पहुँचाते। एक पुद्गल द्रव्य है वह जीव का महान शत्रु है। उसके निमित्त से ही ससार का सारा खेल चला करता है। इस कारण विवेकी जीव का प्रयत्न पुद्गल के जाल से छूटने का हुआ करता है। जीव का पुद्गल कर्मों के साथ अनादि से बंध सम्बन्ध चल रहा है। एक बार भी कर्मों से जीव अपने को पृथक् कर सका, तो फिर अनत काल पर्यन्त ये दुष्ट कर्म परम शुद्ध आत्मा को कोई हानि नही पहुँचा सकते।

सुख दुक्ख जाणणा वा हिदपरियम्मं च अहिदं भीरुत्तं।
जस्स ण विज्जदि णिच्चं तं समणा विंति अज्जीवं ॥
सुख दुःख ज्ञान वा हितपरिकर्म चाहित-भीरुत्वं।
यस्य न विद्यते नित्यं तं श्रमणा विदत्यजीवं ॥ १२५।

जिसमें, सुख तथा दुःख का ज्ञान, हित में प्रवृत्ति, अहित प्रद सामग्री से भय युक्त होना नहीं पाए जाते, उसे अजीव कहा है।

विशेष—जीव और अजीव दो भिन्न २ द्रव्य हैं, "जीवमजीव दव्व" इससे जीव के गुण अजीव मे नही है। सबसे विशिष्ट बात यह है कि अजीव मे सुख-दुःख का सवेदन नही होता है, उसमे हिताहित का परिज्ञान नही होता है। लोह खण्ड को लो, उसमे सुख-दुख का सद्भाव नही प्राप्त होता। अग्नि दाह आदि द्वारा उसे कोई कष्ट नही होता, कारण वह चैतन्य शून्य है। सभी अजीव द्रव्य अचेतन है।

संठाणा संघादा-वण्ण-रस-प्फास-गंध-सद्दाय।
पोग्गल दव्वप्पभवा होंति गुणा पज्जया य बहू ॥
सस्थानानि संघाता वर्ण-रस-स्पर्श-गध-शब्दाश्च।
पुद्गलद्रव्यप्रभवा भवति गुणा पर्यायाश्च बहव ॥ १२६ ॥

सस्थान, सघात, वर्ण, रस, स्पर्श, गध तथा शब्दादि पुद्गल द्रव्य मे उत्पन्न होते हैं। पुद्गल द्रव्य मे अनेक गुण पर्याय पाये जाते हैं।

विशेष- नाना प्रकार के आकार बनना, अनेक प्रकार के स्कन्धो का समुदाय बनना, वर्ण रसादि गुणो के कारण बहुत पर्यायो का सद्भाव पुद्गल मे पाया जाता है। जीव की भावात्मक विशेषता उसका चैतन्य गुण है। वह पुद्गल आदि मे नही पाया जाता।

इन द्रव्यो के सबध मे यह कथन किया गया है—

सव्वाण दव्वाण दव्वसरुवेण होदि एयत्तं।
णिय-णिय-गुण-भेएण हि सव्वाणि विहोंति भिण्णाणि ॥ २३६ ॥

द्रव्य की अपेक्षा जीव, अजीव, धर्म, अधर्म, आकाश, काल तथा पुद्गल मे भिन्नता का अभाव है। सबमे द्रव्यपना विद्यमान है। अपने गुणो की भिन्नता के कारण ये द्रव्य एक दूसरे से भिन्न हैं। छहो द्रव्य एक ही लोकाकाश मे विद्यमान हैं। एक दूसरे को परस्पर मे आकाश प्रदान करते है, किन्तु प्रत्येक द्रव्य अपने स्वरूप का कभी भी परित्याग नही करता है।

अरस-मरुव-मगंध-मव्वत्तं चेदणा गुणमसद्दं।
जाण अलिग्गहणं जीव-मणिद्दिट्ठ संठाणं ॥
अरस-मरूपमगध-मव्यक्त चेतनागुण-मशब्द।
जानीत्यलिगग्रहण जीव मनिर्दिष्ट सस्थान ॥१२७॥

यह आत्मा अरस है। इसमें मधुर, अम्ल, कटु, तिक्त, कषाय रूप पच रस नही है। यह आत्मा अरूप है। इसमे श्वेत, पीत, हरित, लाल, कृष्ण ये पाँच रूप नही पाये जाते। यह अगन्ध है। इसमे सुगन्ध दुर्गंध का अभाव है। यह अव्यक्त है क्योकि इन्द्रियो के अगोचर है। यह चेतन गुण है। यह आत्मा स्त्री, पुरुष, नपुसक रूप लिगो से रहित है। इसका सस्थान तथा आकार अनिश्चित है। शास्त्र में छह सस्थान कहे गये हैं जीव मे वे सस्थान नही कहे गये है।

विशेष--यह गाथा समयसार न ४९, नियमसार न. ५६, प्रवचनसार न १७२, भावपाहुड नं. ६४ मे भी दी गई है। इससे इसका महत्त्व ज्ञात होता है। यहाँ जीव को रस, रूप गध रहित, अव्यक्त, अशब्द,

अलिंग ग्रहण, अनिर्दिष्ट संस्थान रूप अभावात्मक विशेषणों द्वारा निरूपित किया है। "चेदणागुण" चेतना रूप एक ही भावात्मक विशेषता है, जो निषेध रूप नही है। इस चेतना गुण के महत्त्व के कारण जीव का लक्षण चेतना माना गया है।

आत्मा का सद्भाव बताने वाली कार्तिकेयानुप्रेक्षा की वाणी महत्त्वपूर्ण है—

जदि ण य हवेदि जीओ तो को वेदेदि सुक्खदुक्खाणि।

इंदियविसया सव्वे को वा जाणादि विसेसेण ॥१८३॥

यदि जीव का सद्भाव अस्वीकार किया जाय, तो बताओ सुख तथा दुःख का सवेदन कौन करता है तथा इन्द्रियों के विषयगोचर होने वाले पदार्थों को विशेष रूप से कौन जानता है। जैसे यन्त्र संचालक यान्त्रिक होता है, उसी प्रकार इन्द्रियों को विविध कार्यों में उपयुक्त करने वाला ज्ञान गुण सम्पन्न जीव है।

वर्तमान भौतिक विज्ञान के युग मे मरणोपरान्त पुनर्जन्म धारण करने वाले मानवों का अवबोध होता है। इससे जीव अविनाशी सिद्ध होता है। प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न जीव हैं।

यदैवैकोऽश्नुते जन्म जरां मृत्यु सुखादि वा।

तदैवान्योऽन्यदित्यङ्गया भिन्ना प्रत्यङ्गमगिन ॥२-३२॥ (पेज१२८)

जिस समय एक जीव जन्म धारण करता है उस समय दूसरा वृद्ध हो जाता है या मृत्यु को प्राप्त होता है। एक ऐश्वर्य को भोगता है, दूसरा उसी समय दुर्गतियो मे दुःख भोगता है। यह विचित्रता सभी के अनुभव मे आती है।

चार्वाक सिद्धान्त कहता है जीव जड पदार्थों के सयोग से बना है आत्मा का अस्तित्व मानना भ्रम है। इस विषय की समीक्षा अनगार धर्मामृत मे इस प्रकार की गई है—

चितश्चेत् क्ष्मामाद्युपादान सहकारि किमिष्यते।

तच्चेत् तत्त्वान्तर तत्त्वचतुष्कनियम क्व स ॥२-३३॥

कोई भी कार्य उपादान और सहकारी कारण मे सम्पन्न होता है। यदि जीव के लिए पृथ्वी, जल आदि भूत चतुष्टय उपादान कारण है, तो सहकारी कारण कौन है? यदि पृथ्वी आदि को सहकारी कारण मानते हो, तो पृथ्वी आदि चतुष्टय के लिए उपादान कारण तुम्हारे तत्त्व चतुष्टय के नियम को क्षति पहुँचाता है अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु यही भूत चतुष्टय है, मय मान्यता खण्डित हो जाती है।

जीव का अनुभव स्वसवेदन—स्व अर्थात् आत्मा उसका सवेदन अर्थात् ज्ञान प्रत्येक जीव मे पाया जाता है। इसलिए आत्मा का अस्तित्व काल्पनिक नहीं है। ज्ञान शक्ति के कारण जीव को स्वतन्त्र पदार्थ मानना आवश्यक है।

पूज्यपाद स्वामी इष्टोपदेश मे आत्मा के विषय मे कहते है—

स्वसवेदन-सुव्यक्तस्तनुमात्रो विरत्ययम.।

अत्यन्तसौख्यवानात्मा लोकालोकविलोकनः ॥२१॥

यह जीव स्व-संवेदन द्वारा अत्यन्त स्पष्ट है। यह शरीर प्रमाण है, (कारण शरीर के बाहर इसे व्यापी माना जाय, तो सुख दुःख का परिज्ञान शरीर तक ही सीमित क्यो रहता है?) यह आत्मा अविनाशी है। यह आत्मा अनन्त सुख युक्त है तथा लोकालोक का ज्ञाता है।

अध्यात्म विद्या के प्रकाश में आत्म ज्योति के विषय में सुधीवर्ग यह चिंतन करता है—

एकोहं निर्ममः शुद्धो ज्ञानी योगीन्द्रगोचरः ।
बाह्या सयोगजा भावा मत्त सर्वेपि सर्वथा ॥२७॥ इष्टोपदेश

में शरीरादि बाहरी पदार्थों से भिन्न अकेला हूँ, में मोह-ममता रहित हूँ, में कर्म जनित मलिनता विहीन शुद्ध हूँ। मैं ज्ञान स्वरूपी हूँ। महान् मुनीश्वरों के ज्ञानगोचर यह आत्मा है। धन धान्यादि, स्त्री पुत्रादि पदार्थ संयोग जनित हैं वे मुझसे सर्वथा पृथक् हैं। इस स्वस्थ चिंतन द्वारा आत्मा सशक्त बनता है।

जब आत्मा "अतीन्द्रियं अनिर्देश्यम्"—इंद्रियों के अगोचर, वाणी के परे हैं, तब उसकी उपलब्धि हेतु सद्गुरु तथा आगम का आश्रय आवश्यक है। वर्तमान पर्याय में यह आत्मा अनादिकाल से जड़ कर्मों के कारण जन्म, जरा, मरण के कष्ट भोगता चला आ रहा है। केवल ज्योति को ज्ञानावरण, मोहनीयादि कर्मों ने ढंक लिया है। प्रबल कर्मराशि रूप पर्वत आत्मा की बात करने मात्र से दूर नहीं होगा। कार्तिकेयानुप्रेक्षा में कहा है—

का वि अपुव्वा दीसदि पुग्गलदव्वस्स एरिसी सत्ती ।
केवलणाणसहावो विणासिदो जाइ जीवस्स ॥२११॥

पुद्‌गल द्रव्य की कितनी अद्‌भुत शक्ति है कि उसने जीव के केवलज्ञान स्वभाव को विनष्ट कर दिया है।

ऐसी स्थिति में प्रबल कर्म सैन्य का मुकाबला करने के लिए भव्य तथा ज्ञानी जीव को जिनवाणी माता के निर्देशन में प्रयत्न रत होना चाहिए।

जो खलु संसारत्थो जीवो तत्तो दु होदि परिणामो ।
परिणामादो कम्मं कम्मादो होदि गदि सुगदि ॥
यः खलु संसारस्थो जीवस्ततोस्तु भवति परिणामः ।
परिणामात्कर्म कर्मणो भवति गतिषु गति ॥१२८॥

गदि-मंधि गदस्स देहो देहादो इंन्द्रियाणि जायंते ।
तेहिं दु विसग्गहणं तत्तो रागो व दोसो वा ॥
गति मंधि गतस्य देहो देहादिन्द्रियाणि जायन्ते ।
तैस्तु विषयग्रहण ततो रागो वा द्वेषो वा ॥१२९॥

जायदि जीवस्सेव भावो ससारचक्कवालम्मि ।
इदि जिणवरेहिं भणिदो अणादि णिधणो सणिधणो वा ॥
जायते जीवस्यैव भावः संसार चक्रवा ।
इति जिणवरैर्भणितो अनादिनिधनः सनिधनो वा ॥१३०॥

जो ससारी जीव है, उसके अनादिकाल से कर्म बन्धन के कारण राग तथा द्वेष के परिणाम उत्पन्न होते हैं। उन रागद्वेष परिणामों से पुद्गल रूप द्रव्य कर्मों का आगमन होता है। उन कर्मों के कारण चार प्रकार की गतियाँ प्राप्त होती हैं।

गति को प्राप्त होने पर शरीर का निर्माण होता है। शरीर से इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है। उनके द्वारा विषय ग्रहण होता है। इससे राग तथा द्वेष उत्पन्न हुआ करते हैं। इस प्रकार संसार के चक्र में फँसे जीव के भाव होते हैं। उनके कारण यह ससार अभव्य की अपेक्षा अनादि निधन है तथा भव्य जीव का अनादि तथा सान्त है।

विशेष–कहा है "पुद्गल परिणामनिमित्तो जीव परिणामो जीव परिणाम निमित्तः पुद्गल परिणामश्च" पुद्गल परिणाम से जीव के परिणाम होते हैं। जीव के परिणामो के निमित्त से पुद्गलों का परिणमन होता है। यह जीव तथा पुद्गल का निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध अनादिकाल से चला आ रहा है। अभव्य जीवो का ससार चक्र सदा चलता रहा है और चलता रहेगा। भव्य जीवो का यह चक्र अनादि और सान्त है; क्योंकि काललब्धि आदि सामग्री को प्राप्त कर पुरुषार्थी भव्य जीव कर्मबन्धन का क्षय कर देता है इससे उसके वह संसार चक्र चलना बन्द हो जाता है।

इस प्रसग मे तत्वानुशासन मे उपयोगी सामग्री दी है–

बंधहेतुषु सर्वेषु मोहश्चक्री प्रकीर्तितः ।
मिथ्याज्ञान तु तस्यैव सचिवत्वमशिश्रियत् ।।१२।।

बन्ध के कारणो मे मोहनीय कर्म चक्रवर्ती समान है और मिथ्याज्ञान उसके मन्त्री समान है। मोह रूपी चक्रवर्ती के दुष्कृत्यो के लिए मिथ्याज्ञान परामर्श कर्ता है।

ममाहंकार-नामानौ सेनान्यौ तौ च तत्सुतौ ।
यदायत्त. सुदुर्भेदो मोहव्यूहः प्रवर्तते ।।१३।।

उस मिथ्यात्व के दो पुत्र हैं, एक का नाम अहंकार है, दूसरे का नाम ममकार है। ये दोनो ही सेनापति है। इनके नेतृत्व मे अत्यन्त दुर्भेद मोह की सेना का कार्य चलता है। यह मेरा शरीर है इस प्रकार ममकार भाव होता है और 'अहं नृपति' मै राजा हूँ इस प्रकार का भाव अहंकार होता है। इन ममकार और अहंकार के द्वारा जीव मे रागद्वेष पैदा होते हैं। इनके द्वारा कषाय, नोकषाय योगों की प्रवृत्ति होती है। उनसे कर्मों का बन्ध होता है। उनसे सुगति अथवा कुगति मे गमन होता है। वहाँ शरीर उत्पन्न होता है और इन्द्रियाँ भी होती हैं। वे इन्द्रियाँ विषयों को ग्रहण करती हैं। उनसे यह जीव रागद्वेष युक्त होता है।

तस्मादेतस्य मोहस्य मिथ्याज्ञानस्य च द्विषः ।
ममाहंकारयोश्चात्मन्विनाशाय कुरूद्यमं ।।२०।।

आत्मन्! मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञान तेरे शत्रु हैं। इनके और अहंकार और ममकार के विनाश के लिये उद्यम कर।

बंधहेतुषु मुख्येषु नश्यत्सु क्रमशस्तव ।
शेषोऽपि रागद्वेषादि-बंध-हेतुर्विनश्यति ।।२१।।

मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, अहंकार, ममकार इन बंध के मुख्य कारणों के क्रमशः नष्ट होने पर रागद्वेष आदि बंध के कारणों का विनाश हो जायेगा।

प्रश्न—मिथ्यात्व और रागद्वेष क्या कर्मजनित है या जीव जनित है ?

उत्तर—जैसे हल्दी और चूना के संयोग से विशेष नवीन रंग उत्पन्न होता है, इसी प्रकार रागद्वेष आदि कर्म और जीव की संयुक्त कृति है। एक देश शुद्ध निश्चयनय से ये कर्मजनित हैं। अशुद्ध निश्चयनय से जीव जनित हैं। "साक्षात शुद्धनिश्चयनयेन–तेषामुत्पत्तिरेव नास्ति" (बृहद् द्रव्यसंग्रह)—साक्षात् शुद्ध निश्चयनय से आत्मा के रागद्वेष ही नहीं है। इस प्रकार स्याद्वाद दृष्टि से भिन्न–भिन्न विचारो के समन्वय की स्थापना करना चाहिये।

प्रश्न राग, द्वेष, मोह मे कौन–कौन कर्म सम्मिलित है ?

उत्तर—दर्शन मोह को मोह शब्द मे गर्भित किया है। चारित्र मोह को रागद्वेष कहते हैं। क्रोध, मान ये दो द्वेष के अंग हैं। माया और लोभ राग के अंग हैं। रति और शोक तथा भय और जुगुप्सा ये द्वेष के अग हैं। तीन वेद, हासन और रति राग के अग हैं। इस प्रकार रागद्वेष मोह के विषय मे अवधारण करना चाहिए।

यहाँ समयसार शास्त्र के प्रणेता कुदकुद स्वामी ने ससारी जीव के ससार भ्रमण के बारे मे प्रकाश डाला है, कि जीव और कर्म का अनादिकाल से सम्बन्ध चला आ रहा है। जो अभव्य जीव के लिये अनादि निधन है और भव्य के लिये अनादि सान्त है। रत्नत्रय द्वारा कर्मक्षय करके आत्मा शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करता है।

मोहो रागो दोसो चित्तपसादो य जस्स भावम्मि।
विज्जदि तस्स सुहो वा असुहो वा होदि परिणामो ॥

मोहो रागो द्वेष श्चित्तप्रसादश्च यस्य भावे।
विद्यते तस्य शुभो वा अशुभो वा भवति परिणामः।१३१।

दर्शन मोह के उदय जनित कलुषित परिणाम मोह है। चारित्र के उदय से उत्पन्न प्रीति, अप्रीति रूप भाव रागद्वेष हैं। चारित्र मोह के मन्द उदय होने पर उत्पन्न विशुद्ध परिणाम को चित्त प्रसाद कहते हैं। जिसके मोह, राग, द्वेष, चित्त प्रसाद रूप परिणाम होते हैं, उसके शुभ अथवा अशुभ भाव होते हैं।

विशेष—अमृतचद्र स्वामी ने इस गाथा को इस प्रकार समझाया है। "इह हि दर्शनमोहविपाक–कलुषपरिणामता मोह। विचित्र चारित्रमोहनीय–विपाक प्रत्यय प्रीत्य प्रीती रागद्वेषौ। तस्यैव मंदोदये विशुद्धपरिणामतः चित्तप्रसादपरिणाम.। एव मिमे यस्य भावे भवति तस्यावश्य भवति शुभाशुभो वा परिणाम.।" यहाँ मोह, रागद्वेष, चित्तप्रसाद द्वारा शुभ तथा अशुभ कर्मों का बध कहा है।

चारित्र मोहोदय जनित रागद्वेष परिणाम कहे हैं। इससे यह बात स्पष्ट होती है, कि चारित्र मोह की मन्दता होने पर जो चारित्र या व्रत को धारण किया जाता है, उससे रागद्वेष दूर होता है। समन्तभद्र स्वामी ने कहा है—

मोहतिमिरापहरणे दर्शनलाभादवाप्तसज्ञानः।
राग–द्वेषनिवृत्यै चरण प्रतिपद्यते साधु:॥ र श्रा ॥

दर्शनमोह की अँधियारी दूर होने पर सम्यग्दर्शन को प्राप्त करता है ऐसा सम्यक्त्वी सम्यग्ज्ञानयुक्त हो रागद्वेष की निवृत्ति के लिए चारित्र, व्रत, सयम को अगीकार करता है। सयम की परिपालना के बिना

रागद्वेष की निवृत्ति मानना आकाश के पुष्पों के संग्रह सदृश अनुचित बात है। बाह्य पदार्थों का संग्रह करने वाला राग तथा द्वेष रोग से अपना पीछा नहीं छुड़ा सकता। बताओ जब तुम्हारे राग भाव नहीं है, तो अचेतन द्रव्य का संग्रह क्यों करते हो? प्रशस्त राग तथा चित्त की विशुद्धता द्वारा शुभ परिणाम होते हैं। मोह अर्थात् मिथ्यात्व, द्वेष तथा अप्रशस्त राग रूप अशुभ परिणाम होते हैं। कहा है "यत्र प्रशस्त रागश्चित्त-प्रसादश्च तत्र शुभ परिणामः, यत्र मोहद्वेषाव प्रशस्त रागश्च तत्राशुभहृति" (अमृतचंद्र टीका)

सुहपरिणामो पुण्णं असुहो पावंति हवदि जीवस्स।
दोण्हं पोग्गलमेत्तो भावो कम्मत्तणं पत्तो॥
शुभ परिणामः पुण्यमशुभः पापमिति भवति जीवस्य।
द्वयोः पुद्गलमात्रो भाव. कर्मत्व प्राप्तः॥१३२॥

जीव का शुभ परिणाम द्रव्य पुण्य कर्म के लिये निमित्त कारण है। वह द्रव्य पुण्य आस्रव के क्षण के अनन्तर भाव पुण्य होता है। इसी प्रकार अशुभ भाव द्रव्य पाप का निमित्त कारण है। वह द्रव्य पाप आस्रव के क्षण के पश्चात् भाव पाप होता है। द्रव्य पुण्य मे शुभ भाव निमित्त है तथा द्रव्य पाप मे अशुभ परिणाम निमित्त हैं। शुभ तथा अशुभ रूप पुद्गल का परिणाम कर्मरूपता को प्राप्त होता है।

विशेष- यहाँ यह बताया है कि शुभभाव से द्रव्य पुण्य होता है और द्रव्य पुण्य से भाव पुण्य होता है।

अशुभ भाव के द्वारा द्रव्य पाप होता है। और द्रव्य पाप से भाव पाप होता है। इस प्रकार द्रव्य और भाव मे निमित्त और नैमित्तिकपना कहा है।

द्रव्यसंग्रह मे लिखा है—

सुहअसुह भाव जुत्ता पुण्णं पावं हवंति खलु जीवा।
साद सुहाउ णामं गोदं पुण्य पराणि पाव च ॥३८॥

शुभ भाव युक्त जीव पुण्य है। अशुभ भाव युक्त जीव को पाप कहा है। सातावेदनीय, शुभायु, शुभनाम, उच्च गोत्र ये पुण्य हैं। अशुभ आयु, अशुभनाम, नीच गोत्र असाता वेदनीय रूप चार अघातिया कर्म हैं। तथा ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय तथा अन्तराय रूप चार घातिया कर्म भी पाप कहे गये हैं।

यहाँ यह बात ध्यान देने की है कि केवलज्ञानी भगवान के ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय तथा अन्तराय रूप पाप कर्मों का सर्वथा अभाव हो जाता है। त. सूत्र मे कहा है—

मोह-क्षयाज्ज्ञान-दर्शनावरणान्तराय क्षयाच्च केवलम् ॥११०॥

गोम्मटसार जीवकाण्ड मे लिखा है--

जीव दुगं उत्तट्ठ जीवा पुण्णा हु सम्मगुणसहिदा।
वद-सहिदावि य पावा तव्विवरीया हवंतित्ति ॥६२१॥

जीव अजीव का अर्थ पहले कहा गया है। सम्यक्त्व गुण से अथवा व्रत से युक्त जीव को पुण्य जीव कहते हैं। सम्यकत्व रहित मिथ्या दृष्टि तथा व्रत शून्य जीव को पाप जीव कहते हैं।

मिच्छाइट्ठी पावा- मिथ्यादृष्टि जीव पाप जीव है। गोम्मटसार कर्मकाण्ड में कहा है —

सुहपयडीण विसोही तिव्वो असुहाण संकिलेसेण ।

विवरीदेण जहण्णो अणुभागो सव्वपयडीण ॥१६३॥

विशुद्ध परिणामो के द्वारा सातावेदनीय आदि शुभ कर्म प्रकृतियो का उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध होता है। असातावेदनीय आदि अशुभ अर्थात् पाप प्रकृतियो का उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध सक्लेश परिणाम से होता है। शुभ प्रकृतियो का अर्थात् पुण्य कर्मो का जघन्य अनुभाग बन्ध सक्लेश परिणामो से होता है। अशुभ अर्थात् पाप प्रकृतियो का जघन्य अनुभाग बन्ध विशुद्ध परिणामो से होता है। मन्द कषाय रूप परिणाम विशुद्ध परिणाम है। तीव्र कषाय रूप सक्लेश परिणाम हैं।

प्रवचनसार मे कहा है -

जीवो परिणमदि जदा, सुहेण असुहेण वा सुहो असुहो।

सुद्धेण तदा सुद्धो हवदि हि परिणाम सब्भावो ॥९॥

यह जीव जब शुभ परिणाम रूप होता है तब वह शुभ भाव युक्त कहा जाता है। जब वह अशुभ भाव से परिणमन करता है, तब वह अशुभभाव युक्त कहा जाता है। जब जीव शुद्ध भाव से परिणमन करता है, तब उसके शुद्धभाव होता है। इससे यह बात स्पष्ट होती है, कि इस जीव के परिणाम कभी शुभ और कभी अशुभ होते हैं। महान आत्मा शुद्ध भाव को प्राप्त करती है। पाप के द्वारा जीव का पतन होता है। उससे वह दुख भोगा करता है। इसीलिये अशुभ भाव, जो बन्ध का कारण है, को त्यागकर शुभ भाव द्वारा पुण्य बन्ध करना उचित कहा गया है। यद्यपि कर्म की दृष्टि से पुण्य की और पाप की सोने की बेडी और लोहे की बेड़ी से तुलना की गई है। सम्पूर्ण कर्मो का क्षय करने वाला महानमुनि पाप और पुण्य दोनो के विनाश हेतु प्रयत्न करता है। अनादिकाल से इस जीव के आर्तध्यान और रौद्रध्यान रूप अशुभ भाव होते चले आ रहे है। उनके फलस्वरूप अगणित व्यथाएं मिलती है। स्वामी समन्तभद्र ने अपने श्रावकाचार मे 'पाप अरातिः''— गृहस्थ को यह बात निश्चय करना चाहिये कि उसका सबसे बडा शत्रु पाप है। उस पाप से जितना जीव दूर होगा, उतना उसका कल्याण होगा।

जब जीव चोरी, जीव वध, कुशील सेवन आदि मलिन आचरण करता है, तब उसके पाप का आस्रव तथा बन्ध होता है। इस सम्बन्ध में अकलक स्वामी ने राजवार्तिक मे "शुभ पुण्यस्याऽशुभः पापस्य" (अ. ६ सूत्र ३) टीका मे यह बताया है कि अशुभ काययोग वचनयोग और मनोयोग के द्वारा पाप का आस्रव होता है। इस विषय का इस प्रकार स्पष्टीकरण किया गया है—

"प्राणातिपाता-दत्तादान-मैथुनप्रयोगादिरशुभ काययोग । अनृतभाषणपरुषामत्यवचनादिरशुभो वाग्योगः। वधचिंतनेर्ष्या सूयादिरशुभो मनोयोग । जीवघात, अदत्तपदार्थ का आदान अर्थात् चोरी करना, मैथुनप्रयोगादि अर्थात् कुशील सेवनादि अशुभकाययोग है। असत्य भाषण, कठोर असत्य वचन बोलना आदि अशुभ वचनयोग हैं। दूसरे के वध का चिंतन करना, ईर्ष्या भाव, असूयादि मलिन परिणाम अशुभमनोयोग हैं। इनसे पाप का आस्रव होता है। पुण्यास्रव के विषय मे आचार्य कहते हैं "अहिंसाऽस्तेय-ब्रह्मचर्यादिः शुभकाय-योगः। सत्य-हित-मित-भाषणादिः शुभोवाग्योग। अर्हदादि भक्ति तपोरुचि-श्रुतविनयादि शुभमनोयोगः"— अहिंसा, अचौर्य, ब्रह्मचर्य आदि शुभ काययोग हैं। सत्य, हित-मित भाषणादि शुभवचनयोग हैं। अर्हन्त भगवान आदि की भक्ति, तपोरुचि, शास्त्रविनयादि शुभमनोयोग हैं।

कुंदकुंद स्वामी ने पाप के कारण अशुभमन, अशुभवचन, अशुभकाय को इस प्रकार खुलासा किया है– आहार परिग्रहादि संज्ञा अशुभ मन है। कृष्ण नील कापोत रूप अशुभलेश्या, इंद्रियजनित सुख के विषय में अत्यन्त आसक्ति के भाव, ईर्ष्या-विषाद भाव अशुभमन है। राग, द्वेष, मोह, हास्यादि नोकषाय रूप परिणाम चाहे वे सूक्ष्म हों या स्थूल हों अशुभ मन हैं।

भोजनकथा, स्त्रीकथा, राजकथा, चोरकथा, रूप वचन अशुभवचन हैं। बन्धन, छेदन, प्राणघात क्रिया अशुभकाय है।

पुण्य के कारण शुभ मन, शुभवचन, शुभकाय के विषय में कहा है व्रत-समिति-शील, संयम के परिणाम शुभमन है। समारोच्छेदकारी वाणी शुभवचन है। जिन भगवान आदि की पूजा का कार्य शुभकाम है। (गाथा ५०–५५ द्वादशानुप्रेक्षा)

मिच्छत्त अविरमण कसाय–जोगाय आसवा होंति।
पण-पण-चउ-तिय भेदा सम्म परिकित्तिदा समए ॥४७॥

पाच प्रकार का मिथ्यात्व, पाच प्रकार की अविरति, चार प्रकार की कषाय तथा मनोयोग, वचनयोग तथा काययोग ये आगम में आस्रव कहे गये हैं।

यहां प्रमाद को कषाय में अंतर्भूत कर लिया गया है। द्रव्यसंग्रह में प्रमादको भी आस्रवरूप में कहा है–

मिच्छत्ता-विरदि-पमाद-जोग-कोहादओथ विण्णेया।
पण-पण पणदह-तिय-चदु कमसो भेदो दु पुव्वस्स ॥३१॥ द्रव्यसंग्रह

मिथ्यात्व पाच प्रकार, अविरति पाच प्रकार, प्रमाद पद्रह प्रकार, तीन योग तथा चार प्रकार की कषाय ये भावास्रव के भेद हैं।

तत्वार्थ सूत्र में विशेष विवक्षावश मिथ्यादर्शनाविरति प्रमाद कषाययोगाः बंधहेतवः" सूत्र है। इसमें मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग की बंध के कारणों में परिगणना की गई है।

पूज्यपाद स्वामी ने सर्वार्थसिद्धि में लिखा है "शुभ परिणाम निर्वृत्तो योग. शुभः। अशुभ परिणाम निर्वृत्तश्चाशुभ." शुभ परिणामों से जो योग होता है वह शुभ योग है। अशुभ परिणामों से उत्पन्न योग अशुभ योग है।

कोई यह सोचे कि शुभ कर्म का कारण शुभ योग और अशुभ कर्म का कारण अशुभ योग है ऐसा मानना ठीक नहीं है। "शुभयोगस्यापि ज्ञानावरणादि बन्ध हेतुत्वाभ्युपगमात्" शुभ योग को भी ज्ञानावरणादि पाप प्रकृतियों के बन्ध का कारण माना गया है।

गोम्मटसार कर्मकाण्ड में लिखा है जीव एक समय में जो कर्म बांधता है, वह समय प्रबद्ध आठ मूल प्रकृति रूप परिणमता है।

आऊगभागो थोवो णामागोदे समो तदो अहियो।
घादितियेवि य तत्तो मोहो तत्तो तदो तदियो॥ १९२॥

समय प्रबद्ध का मूल प्रकृतियों में आयु कर्म का भाग सबसे स्तोक (अल्प) है। नाम कर्म तथा गोत्र कर्म का भाग परस्पर में समान हैं तो भी आयु कर्म के भाग से अधिक है। अन्तराय कर्म, ज्ञानावरण, दर्शनावरण इन तीन घातिया रूप पाप कर्मों का भाग आपस में समान है, तो भी नाम व गोत्र से अधिक है। इससे

अधिक मोहनीय कर्म रूप घातिया का भाग है । मोहनीय कर्म से अधिक वेदनीय कर्म का भाग है । शुभयोग के द्वारा जो कर्मों का आस्रव होता है, उसका परिणमन चार घातिया कर्मों में भी होता है यह ऊपर कहा गया है । इस कारण पूज्यपाद स्वामी ने सर्वार्थसिद्धि में कहा है कि शुभ योग भी ज्ञानावरणादि पाप प्रकृतियों के बन्ध का कारण है।

शंका—आचार्य अकलंक देव ने लिखा है, सोने की और लोहे की बेडी जिस प्रकार मनुष्य की स्वतन्त्रता का अपहरण करती है, उसी प्रकार पुण्य पाप दोनो कर्मों के द्वारा मुक्ति प्राप्त करने मे बाधा आती हैं। इस कारण पुण्य पाप समान है । उनमे कोई भेद नहीं है ।

उत्तर—ऐसा सोचना उचित नही है । पुण्य और पाप दोनो के कार्य आदि मे अन्तर है । जो इष्ट गति, जाति, शरीर, इन्द्रिय, विषयादि का निर्माता है, वह पुण्य कर्म है । इसके विपरीत पाप कर्म है । वह अनिष्ट गति, जाति, शरीर, इन्द्रिय, विषयादिक का हेतु है । इसीलिये इन दोनो मे महान अन्तर है । "यदिष्टगति-जाति-शरीरेन्द्रिय-विषयादि-निर्वर्तक तत्पुण्य, अनिष्ट-गति-जाति-शरीरेन्द्रिय-विषयादि-निर्वर्तक यत्तत्पाप मित्यनयोरयं भेद" –आचार्य अकलंक देव ने कहा है—यह नही समझना चाहिये कि शुभयोग पुण्य का ही कारण है, किन्तु यह जानना चाहिये "शुभ एवं पुण्यस्येति" शुभ योग ही पुण्य का कारण है अशुभयोग पुण्य का कारण नही है । (राजवार्तिक पेज २४८ अध्याय ६ सूत्र ३)

इस प्रकरण मे पुण्य के विषय मे कोई-कोई यह मानते हैं कि पाप पुण्य समान है, जैसे पाप कर्म त्याज्य हैं, उसी प्रकार पुण्य कर्म भी त्याज्य है । इस विषय मे स्पष्ट मार्गदर्शन आचार्य देवसेन ने भाव संग्रह मे लिखा है–

यावन्न त्यजति गृह तावन्न परिहरति एतत्पाप ।
पापमपरिहरन् हेतु पुण्यस्य मा त्यजतु ॥३९३॥

जब तक गृहस्थ ने गृह का परित्याग नही किया है, तब तक उससे पाप का परित्याग नही हो सकता । गृहस्थ के यदि पाप कर्म का बन्ध न होता और उसमे मुनि सदृश निर्मलता होती, तो वह गृहस्थ बनते हुए भी मोक्ष चला जाता । तीर्थंकर भगवान गृह त्यागकर दीक्षा ग्रहण नही करते, इसीलिए यह बात ध्यान मे रहनी चाहिये कि गृहस्थ के पाप बंध का प्रवाह निरंतर चलता है इसीलिये आचार्य कहते हैं कि जब तक पाप बन्ध से छुटकारा नहीं होता है, तब तक "हेऊ पुण्णस्स मा चयऊ" पुण्य के कारण का परित्याग मत करो ।

मा त्यज पुण्यहेतु पापस्यास्रवपरिहरेश्च
बध्यते पापेन नर: स दुर्गति याति मृत्वा ॥३९४॥

पाप के आस्रव को रोके बिना पुण्य के कारण (दान, पूजा आदि) का परित्याग मत करो, क्योकि पुण्य के कारण का त्याग करने पर पुण्य की प्राप्ति तो होगी नही इसलिए पाप के आगमन के कारण व्यक्ति मरकर दुर्गति मे जायेगा ।

आचार्य देवसेन ने यह विशेष बात कही है– गाथा की संस्कृत छाया इस प्रकार है–इससे सामान्य जन इस बात को समझ सकेंगे–

पुण्यं पूर्वाचार्याः द्विविधं कथयन्ति सूत्रोक्त्या ।
मिथ्यात्व प्रयुक्तेन कृत विपरीत सम्यक्त्व युक्तेन ॥३९९॥

परमागम मे प्राचीन ऋषियों ने दो प्रकार का पुण्य कहा है, एक मिथ्यात्व के साथ अर्जित किया गया है, दूसरा वह पुण्य जो सम्यक्त्वी के बंधता है ।

मिथ्यादृष्टि का पुण्य कुपात्रदान के फलस्वरूप नीच देव, कुभोगभूमि में मनुष्य और तिर्यंच के रूप में फल प्रदान करता है। पश्चात् वह मिथ्यादृष्टि का पुण्य, "कुत्सित भोगान् दत्वा पुनरपि पातयति संसारे" (४०२)–निंदनीय भोगों को प्रदान कर, वह पुण्य जीव को संसार-सिंधु में डुबा देता है।

सम्यक दृष्टि का पुण्य संसार का कारण नहीं होता है। सम्यक्त्वी जीव पुण्य कर्म के द्वारा स्वर्ग गमन करके वहाँ धर्म के विशिष्ट साधनों से लाभ उठाता है। तीर्थंकर प्रभु की दिव्य ध्वनि सुनता है। नंदीश्वर आदि रत्नमय प्रतिमाओं की वंदना करता है। तथा वहाँ से चय करके यदि वह चरम शरीरी है, तो शीघ्र ही केवलज्ञानी होकर सिद्ध भगवान बनता है। इस कारण पुण्य के विषय में गृहस्थ को अपनी विपरीत कल्पना में संशोधन करना चाहिए। सर्वप्रथम उसे अधिक से अधिक पाप कार्यों से बचना चाहिए। समंतभद्राचार्य ने गृहस्थ को पापों के निरोध के लिए प्रेरणा की है, पुण्य के निरोध के लिए नहीं। उनके शब्द हैं–

यदि पाप निरोधोन्य संपदा किं प्रयोजनम्।
अथ पापास्रवो स्त्यन्य-सम्पदा किं प्रयोजनम्॥२७॥

यदि पाप का निरोध है तो अन्य सम्पत्ति से क्या प्रयोजन? क्योंकि पुण्य बंध होने से स्वयं सम्पत्ति की प्राप्ति होगी। यदि हिंसादिक नीच कार्यों में निमग्न होने से पाप का आश्रव होता रहा, तो धन वैभव से क्या प्रयोजन? वह पाप उसके वैभव को खा जायेगा। सारी शान शौकत और वैभव लुप्त हो जायेगा, जैसा नभोमंडल में दिखने वाला नयनाभिराम इंद्र धनुष क्षण भर में विलुप्त हो जाता है।

इसलिए बुद्धिमान गृहस्थ को इस ऋषिवाणी पर ध्यान देना चाहिए—

तम्हा सम्माविट्ठी पुण्णं मोक्खस्स कारणं हवई।
इय णाऊण गिहत्थो पुण्णं चायरउ जत्तेण॥ ४२४॥

इसलिए यह बात ज्ञात कर कि सम्यग्दृष्टि का पुण्य परम्परा से मोक्ष का कारण होता है, इस बात को जानकर गृहस्थ को प्रयत्न पूर्वक पुण्यरूपी सम्पत्ति को कमाना चाहिए। उसका तिरस्कार करने वालों के रास्ते को नहीं अपनाना चाहिए। गृहस्थ का कर्तव्य है कि दान पूजादि उज्ज्वल कार्यों मे समय और शक्ति को लगाकर इस पंचमकाल के दुःखों से छूटकर दिव्य पथ को प्राप्त करना चाहिए।

प्रश्नोत्तर रत्नमालिका मे गृहस्थ के लिए कल्याणकारी बात कही है—

किं दिन कृत्य जिन प्रति पूजा–सामायिक गुरुपास्ति।
त्रिविध शुचि पात्रदानम् शास्त्राध्ययनम् च सानंदम्॥

प्रश्न—'किं दिन कृत्यं' हमारा दैनिक कार्यक्रम क्या रहना चाहिए?

उत्तर—जिन प्रति पूजा, देवाधिदेव अरहंत भगवान की पूजा, सामायिक, गुरुओं की उपासना तथा मनसा वाचा कर्मणा–निर्मलता के साथ निर्ग्रंथ मुनिरूप उत्तमपात्र, देशव्रती श्रावक रूप मध्यमपात्र तथा अविरत सम्यग्दृष्टि रूप जघन्य पात्र इन सत्पात्रो को दान देना चाहिए। गृहस्थ को यह बात नहीं भूलना चाहिए कि उसके समीप यमराज बैठा हुआ है जो क्षण भर मे उसके प्राणो का अपहरण कर लेगा। वर्तमान युग में 'हार्टफेल' हृदय गतिरोध तो ऐसी विचित्र बीमारी है कि न मालूम क्षण भर में प्राण पखेरु शरीर से कब निकलकर उड़ जावे। इसलिए पाप के कारण हिंसा, चोरी, बेईमानी, धूर्तता, छल कपट, कुशील सेवन आदि से बचकर अपने मलिन मन को जिनेन्द्र भगवान की भक्ति की गंगा में निर्मल बनाना चाहिए।

विवेकी पुरुष को पाप से बचने के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिये, क्योंकि जब पाप कर्म का उदय आता है, तब जीव की बुरी दशा हो जाती है। वह भयंकर निर्धनता का शिकार होता है। अन्धा, लंगड़ा, लूला, महारोगी हो महान विपत्तियाँ भोगनी पड़ती है।

गौतम गणधर ने महावीर भगवान् से पूछा था "अभोकधं पाव ण बज्झइ" किस प्रकार आचरण से पाप का बंध नहीं होगा ?

भगवान ने कहा था—

जदं चरे जदं चिट्ठे जदमासे जदं सए।
जदं भुजेज्ज भासेज्ज एवं पावं ण बज्झइ ॥

हे गौतम ! सावधानी पूर्वक जीवरक्षा करते हुए गमन करो, यत्नाचार पूर्वक खड़े रहो, यत्नाचार पूर्वक बैठो। यत्नाचार पूर्वक शयन करो, यत्नाचार पूर्वक भोजन करो तथा सावधानी पूर्वक अर्थात् तुम्हारी समस्त प्रवृत्ति से दूसरो को पीडा कभी न हो। इसीलिये कहा है सावधानी पूर्वक काम करो। इससे पाप का बंध नहीं होगा।

जम्हा कम्मस्स फलं विसयं फासेहिं भुंजदे णियदं।
जीवेण सुहं दुक्खं तम्हा कम्माणि मुत्ताणि ॥
यस्मात् कर्मणः फलं विषयः स्पर्शैः भुज्यते नियतं।
जीवेन सुखं दुःखं तस्मात् कर्माणि मूर्त्तानि ॥१३३॥

पुण्य तथा पाप कर्मों के फलस्वरूप जीव को सुख दुःख प्राप्त होता है, उसका कारण मूर्त्त विषय स्पर्शन आदि इन्द्रियों के द्वारा भोगा जाता है। इसीलिये कर्म मूर्तिक माने गये हैं।

विशेष—आत्मा रूप, रस आदि पुद्गल के गुणों से रहित है क्योंकि सिद्ध परमात्मा में रूप रस आदि का अभाव है। ऐसी स्थिति में यह शका उत्पन्न होती है, कि मूर्त्त पुद्गल कर्मों ने इस जीव को अपनी स्वाभाविक निवास भूमि मोक्ष में जाने से कैसे रोक दिया और क्यों यह चौरासी लाख योनियो मे अनादि काल से चक्कर मारा करता है ? वास्तव में विचार किया जावे, तो जैसे सुवर्ण पाषाण मिट्टी, कीट आदि से मलिन मिलता है, उसी प्रकार यह जीव भी अनादि काल से कर्म रूपी मलिनता से युक्त है।

जीव के औदारिक आदि शरीर पाये जाते हैं। सिद्ध भगवान के कोई शरीर नहीं है। इस स्थिति मे यह प्रश्न होता है, कि यह जीव कबसे शरीर रूपी कारागार में कैदी बना ?

इस प्रश्न के समाधान मे आगम कहता है, कि जीव और कर्म का सम्बन्ध अनादि काल से चला आ रहा है। गोम्मटसार कर्मकाण्ड में लिखा है "जीवंगाण अणाइ संबंधो कणयोवले मलं वा"–जीव और कर्मों का अनादि से सम्बन्ध है, जिस प्रकार स्वर्ण पाषाण में मलिनता का सम्बन्ध है। धवलग्रन्थ में लिखा है "अणादि बंधण बद्धस्स जीवस्स संसारावत्थाए अमुत्तता भावादो" अनादि काल से बन्धन में बद्ध जीव का संसार अवस्था में अमूर्तपना सम्भव नहीं है।

प्रश्न—जीव अमूर्तिक ही है, और कर्म मूर्तिक हैं। यदि अमूर्तिक और मूर्तिक का सम्बन्ध हो तो आकाश आदि अमूर्तिक द्रव्यो के साथ पुद्गल कर्मों का बंध हो जायेगा। किन्तु ऐसा नहीं देखा जाता ? इस सम्बन्ध मे आगम की क्या देशना है ?

समाधान—जीव अमूर्तिक ही है ऐसा मानने पर कठिनाई आती है। इस विषय में अनेकान्त दृष्टि प्रकाश प्रदान करती है। कहा है—

बंधं पडि एयत्तं लक्खणदो हवइ तस्स णाणत्तं।
तम्हा अमुत्ति भावो णेयन्तो होइ जीवस्स ॥

यद्यपि आत्मा कर्मों के साथ बन्ध रूप अवस्था को प्राप्त कर पुद्‌गल के साथ एक रूप बन गई है, किन्तु लक्षण की दृष्टि से आत्मा अमूर्तिक है और पुद्‌गल मूर्तिक है। इसीलिये एक अपेक्षा से जीव में मूर्तिपना है दूसरी अपेक्षा से मूर्तिपना नही है।

आचार्य अमृतचन्द्र ने लिखा है-"मूर्तं कर्मं मूर्त्त संबंधेनानुभूयमानं मूर्त्तफलत्वा दाखु विषवत्"-मूर्त्त पदार्थ के संबंध से अनुभूयमान कर्म मूर्त्त रूप है, कारण कर्म का फल मूर्त्त रूप में प्राप्त होना है। जैसे मूषक का विष मूर्त्त स्वरूप है क्योंकि उसका फल शरीर मे सूजनादि मूर्तिमान रूप मे दृष्टिगोचर होती है।

इस कर्म-सम्बन्ध के कारण ससारी आत्मा मूर्तिमान है। कर्मों ने आत्मा को मलमूत्र रुधिर आदि से मलिन शरीर मे कैदी बना रखा है प्रत्यक्ष मे देखा जाये, तो जो शुद्ध आत्मा की अपूर्व विभूतियाँ है, वे संसारी-अवस्था मे कहाँ मिलती है, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख, बल आदि संसार मे कहाँ है। बेचारा निगोदिया एक श्वास मे अठारह बार जन्म मरण करता है। उसके अक्षर के अनन्तवें भाग प्रमाण ज्ञान पाया जाता है। इस कारण यह मानना पडता है, कि पुद्‌गल कर्मों के कारण यह जीव ससार अवस्था मे मूर्तिक है और सिद्ध अवस्था मे अमूर्तिक है। जीव दो प्रकार के हैं—ससारी और मुक्त। पच परावर्तन रूप संसार मे परिभ्रमण करने वाला ससारी जीव मूर्तिक है और सिद्ध लोक में विराजमान मुक्तात्माएँ अमूर्तिक हैं। जीव सर्वथा अमूर्तिक नही है और वह सर्वथा मूर्तिक भी नही है। ससारी अवस्था में मूर्त्तिक है, निर्वाण प्राप्त करने पर विकार दूर होने से अपने अमूर्त्त स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। तत्त्वार्थ सार मे कहा है—

अनादि-नित्य-सम्बन्धात्सहकर्मभिरात्मनः ।
अमूर्त्तस्यापि सत्यैक्ये मूर्त्तत्वमवसीयते ॥

आत्मा का कर्मों के साथ अनादि काल से नित्य सम्बन्ध होने के कारण अमूर्त्त आत्मा का कर्मों के साथ एक क्षेत्रावगाह सम्बन्ध हो गया है। इसीलिये आत्मा को मूर्तियुक्त कहा है। इस विषय में जीवकाण्ड गोम्मटसार मे कहा है—

जीवाजीव दव्व रूवारूवित्ति होदि पत्तेय।
ससारत्था रूवा कम्मविमुक्का अरूवगया ॥५६२॥

जीव और अजीव के भेद से द्रव्य दो प्रकार के हैं। वे रूपी और अरूपी कहे गये हैं। अजीव द्रव्यरूपी तथा अरूपी है। ससार में रहने वाला जीव रूपी अर्थात् मूर्तिक है और कर्मरहित सिद्ध भगवान अमूर्तिक है, अरूपी हैं।

मुत्तो फासदि मुत्तं मुत्तो मुत्तेण बंध-मणुहवदि ।
जीवो मुत्तिविरहिदो गाहदिते तेहिं उग्गहदि ॥

मूर्त्तः स्पृशति मूर्त्तं मूर्त्तो मूर्त्तेनबन्ध मनुभवति ।
जीवो मूर्ति विरहितो गाहति तानि तैरवगाह्यते ॥१३४॥

संसारी जीव में विद्यमान जो कर्म हैं, वे पुद्गल रूप है। वे मूर्तिमान हैं। मूर्त कर्म आगामी कर्म का बन्ध करता है। जीव शुद्ध दृष्टि से स्पर्श, रस आदि मूर्ति रहित हैं, किन्तु संसार अवस्था वाला जीव मूर्त कर्मों के द्वारा अवगाहन किया जाता है। जीव और कर्म की परस्पर में संश्लेष रूप अवस्था को बन्ध कहा है।

विशेष— संसारी जीव के कर्म बन्ध होता है। जैन दर्शन में कर्म सम्बन्धी निरूपण अन्य सम्प्रदायों के मनीषी वर्ग के लिये मननीय है, कारण जैन धर्म में परमात्मा को निर्विकार शुद्ध, राग-द्वेष, मोह रहित माना है। वह संसार के निर्माण आदि के कार्य से सम्बन्धित नहीं है। यदि सर्वशक्तिमान और परम दयालु जगत-पिता विश्व निर्माता होता, तो दुनिया की आज जो दशा दिख रही है, वह न दिखाई देती। जब भगवान परम दयालु है, सर्वज्ञ है, सर्वशक्तिमान है, तब वह सहज ही भूकम्प, अतिवृष्टि, अनावृष्टि आदि व्यापक मुसीबतों को पलक मारते ही दूर कर देता। संसार मे पापाचार, हिंसा, कुशील, दुष्ट वृत्ति आदि की अनियन्त्रित और अमर्यादित वृद्धि हो रही है। यदि कोई विश्व निर्माता होता, तो उसकी चतुरता, बुद्धिमत्ता कलात्मकता की मुहर सारे विश्व मे लगी हुई दिखाई देती। विश्व स्थिति, चिंतनशील को करुणा-सागर ईश्वर की कृति अस्वीकार करने को प्रेरित करती है।

जब जैनो ने ईश्वर को परम शुद्धात्मा माना है, तब संसार में विद्यमान, निर्धन, धनवान, लगड़ा, अन्धा, मूर्ख, दुखी आदि जीव क्यों पाये जाते हैं ?

"सब्वे सुद्धाहु सुद्धणया" कहने वाला निश्चयनय उत्तर नहीं दे सकता। निश्चयनय की दुनिया में संसार का ही अभाव है। संसारी का भी अभाव है। कोई दुखी है ही नही। सब परम शुद्ध और सुखी हैं। यह बात संसारी जीव के अनुभव गोचर नहीं है। और जो अनुभव गोचर है, वह निश्चयनय के दिव्यप्रकाश में अन्धकार की तरह विलीन हो जाता है।

इस स्थिति में व्यवहारनय अनेकान्त का ध्वज हाथ लेकर कहता है कि मेरी दृष्टि से पदार्थ को देखो, तब आप को अनन्त प्रकार के जीवो का सद्भाव समझ मे आयेगा। संसारी आत्मा राग-द्वेष से मलिन हो रहा है। उसने अनादि काल से बीज और वृक्ष की तरह कर्मों का बन्ध किया है। उस कर्म का खेल यह जगत् की विविधता और विषमता है। जिस प्रकार का कर्म जीव से संश्लेष को प्राप्त है, उसके अनुसार निर्धन, धनवान, सुखी-दुखी आदि विश्वरूपताओं की उपलब्धि होती है।

आगम कहता है कि शुद्ध निश्चयनय से जीव के रागादि का अत्यन्त अभाव है, किन्तु व्यवहारनय कहता है कि रागादिक परिणाम जीव और पुद्गल कर्म दोनो की संयुक्त कृति है। जैसे हल्दी और चूना की संयुक्त कृति दोनों के संयोग से उत्पन्न लालिमा है।

आचार्य कहते है जीव कर्मों को बाँधता है और कर्म जीव को बाँधते हैं। दोनो मे निमित्त और नैमित्तिक सम्बन्ध है। उपादान और उपादेय भाव नहीं हैं। इस तत्व को समझने पर वस्तु की व्यवस्था में बाधा नही आती।

रागो जस्स पसत्थो अणुकंपा संसिदो य परिणामो।
चित्ते णत्थि कलुस्सं पुण्णं जीवस्स आसवदि ।।

रागो यस्य प्रशस्तोऽनुकम्पा सश्रितश्च परिणामः।
चित्ते नास्ति कालुष्यं पुण्यं जीवस्य आस्रवति ।।१३५।।

जिस व्यक्ति के हृदय में पंचपरमेष्ठी के प्रति प्रशस्त धर्मानुराग है, जीवों के प्रति अनुकम्पा के परिणाम हैं तथा चित्त में कषाय जनित कलुषता नहीं है अर्थात् जिसका अन्तःकरण निर्मल है, उसके पुण्य का आस्रव होता है।

विशेष— शंका— राग तो मोहनीय का भेद है। वह पापकर्म है। इसीलिये राग को प्रशस्त कहने का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर— आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं "प्रशस्तो रागः प्रशस्त विषयत्वात्" प्रशस्त विषय रूप देव, गुरु, शास्त्र आदि के प्रति राग प्रशस्त राग है। जिनेन्द्र भगवान के चरणों के प्रति अनुराग व भक्ति के द्वारा मुक्ति प्राप्त होती है। जिनेन्द्र के प्रति भक्ति के द्वारा पुण्य बंध भी होता है। उसके द्वारा कुगति का गमन रुक जाता है, वह भक्ति परम्परा से मोक्ष का कारण है। भक्ति प्रशस्त राग है। वह संसार के समुद्र में डूबते हुए जीव को भोगों से मुख मोड़कर मोक्ष मार्ग के साधनों में जीव की प्रवृत्ति कराता है। कुन्दकुन्द स्वामी ने भाव पाहुड में कहा है—

जिणवर-चरणंबुरुहं णमंति जे परमभत्तिराएण।
ते जम्म बेलिमूलं खणंति वरभावसत्थेण ॥ १५१ ॥

जो व्यक्ति परम भक्ति युक्त अनुरागपूर्वक जिनेन्द्र भगवान के चरण कमलों को प्रणाम करते हैं वे जन्म जरा मरण रूप संसार की बेल की जड़ को उज्ज्वल भाव रूपी शस्त्र के द्वारा काट देते हैं अर्थात् जिन भगवान के चरणों का भक्त मोक्ष को प्राप्त करता है।

प्रश्न- भक्ति में राग भाव है, उसके विषय में कुन्दकुन्द स्वामी ने कहा है "रत्तो बंधदि कम्मं" रागी पुरुष कर्म बन्ध करता है, तब भक्ति के द्वारा मुक्ति का क्या सम्बन्ध है ?

उत्तर—जिनेन्द्र भगवान की भक्ति से पुण्य का बन्ध होता है यह सत्य है। किन्तु उसके द्वारा पाप कर्मों की निर्जरा और संवर भी होते हैं, वे मोक्ष के कारण हैं। पुण्य का बंध करने वाली भक्ति द्वारा पाप का संवर होता है और पाप की निर्जरा भी होती है। संवर और निर्जरा का सम्बन्ध मोक्ष से है इसीलिये भक्ति को मोक्ष का कारण कहा है। कुंदकुंद स्वामी ने शीलपाहुड में जिनेन्द्र की भक्ति को सम्यक्त्व कहा है। सम्यक्त्व मोक्ष का कारण है—इसीलिये भक्ति को मुक्ति प्रदाता कहा है—उन्होंने "अरहंते सुहभत्ती सम्मत्तं" (४०) अरहन्त की शुभ भक्ति सम्यक्त्व कहा है।

जैसे अग्नि के द्वारा दाह, भोजन पाक आदि अनेक कार्य होते हैं बिजली के द्वारा विविध कार्य होता है, उसी प्रकार एक ही परिणाम भिन्न-भिन्न कार्यों को सम्पादित करता है। जिनेन्द्र भगवान का स्मरण करने से मन की मलिनता दूर होती है। आत्मा का पाप-भार हल्का होता है।

पुण्य बंध के विषय में जिनसेन स्वामी ने महापुराण में लिखा है कि जिनेन्द्र भगवान की पूजा, सत्पात्रदान, व्रतों का परिपालन और उपवास इन चार कारणों से मुक्ति प्रदाता पुण्य की प्राप्ति होती है जिनेन्द्र भक्ति के विषय में ऋषिगण भगवान के समक्ष कहते हैं—

याचेऽहं याचेऽहं याचेऽहं जिन तव चरणारविंदयोर्भक्तिम्।
याचेऽहं याचेऽहं पुनरपि तामेव तामेव ॥

हे जिनेन्द्र ! हम आपके चरणों की भक्ति की याचना करते हैं। आपके चरणों की भक्ति की पुनः याचना करते हैं। आपके चरणों की भक्ति की पुनः-पुनः याचना करते हैं। भगवान हम पुनः-पुन. जिनचरणों

की भक्ति की याचना करते हैं हम उसी जिन भक्ति की याचना करते हैं। आपके चरणों की भक्ति, जब तक मोक्ष नहीं मिलता है, तब तक हमे प्राप्त हो।

पुण्य के कारणों में अनुकम्पा सहित परिणामो का महत्त्व है। कुन्दकुन्द स्वामी ने बोधपाहुड में लिखा है—

धम्मो दयाविसुद्धो पव्वज्जा सव्वसंगपरिणत्ता।
देवो ववगयमोहो उदयकरो भव्वजीवाण ॥ २५ ॥

जो दया के परिणामो से निर्मलता को प्राप्त है वह धर्म है अर्थात् दया विहीन धर्म नहीं है। सम्पूर्ण परिग्रह रहित दीक्षा है। मोह रहित देव हैं। इनके द्वारा भव्य जीवो को कल्याण की प्राप्ति होती है। मुनियो के मूलगुणों में दया भाव का महत्त्वपूर्ण स्थान है। पंच समितियो के द्वारा जीवों पर दया की जाती है। उनकी समस्त प्रवृत्तियाँ करुणा और अहिंसा भाव से परिपूर्ण रहती हैं। जब मुनिराज शुक्ल ध्यान मे निमग्न होते हैं, तब वे आत्मनिष्ठ होते हैं। अपने स्वरूप मे तल्लीन रहते हैं. उस अवस्था मे प्रवृत्ति रूप जीव दया नहीं रहती है। आत्मा जब बहिर्मुख होती है, तब त्रस आदि जीवो की रक्षा की ओर दृष्टि जाती है। किन्तु जब सयमी आत्मा आत्मध्यान मे निमग्न रहते है, उस समय दया आदि के आश्रय जगत् के जीवो पर से दृष्टि हट जाती है। वे मुनीन्द्र जिनदेव अथवा आत्मदेव की आराधना मे तल्लीन रहते हैं।

मन मे क्रोध, मान, माया आदि के द्वारा मलिनता उत्पन्न होती है। जब क्रोध, मान, माया, लोभ रूपी विकार मन मे क्षोभ उत्पन्न नहीं करते उस समय जीव के पुण्य की प्राप्ति होती है। जीव, हिंसा आदि पाप प्रवृत्तियों का परित्याग पुण्य प्राप्ति का साधन है। मानतुग आचार्य ने पाप को "पाप-तमोवितान"- अंधकार का विस्तार समान कहा है। अंधकार जैसे सर्वत्र व्यक्ति को अंधा बनाता है, इसी प्रकार पाप कर्म के उदय होने पर "हिये की आँखे" काम नहीं देती, इस प्रकार पापी जीव खोटी बाते सोचता है, खोटे कार्य करता है। उनका फल नरक पशु पर्याय मे भोगा करता है। पुण्य की स्थिति पाप से भिन्न है। पुण्यवान् आत्मा ही महान कार्य करते हैं और पुण्योदय होने पर सर्व प्रकार की आनंददायिनी सामग्री प्राप्त करते हैं।

अरहंत सिद्ध साहुसु भत्ती धम्मम्मि जाय खलु चेट्ठा।
अणुगमणं वि गुरुणं पसत्थरागो त्ति वुण्णंति ॥

अर्हत्सिद्ध साधुषु भक्तिर्धर्मे या च खलु चेष्टा।
अनुगमनमपि गुरुणा प्रशस्तराग इति ब्रुवन्ति ॥१३६॥

अरहंत, सिद्ध, साधु परमेष्ठी मे भक्ति, धर्म में प्रवृत्ति, गुरुजनो के प्रति विनय भाव धारण करना प्रशस्त राग कहा है।

विशेष—जैसे प्रकाश के आने पर अन्धकार का विनाश हो जाता है, इसी प्रकार अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु रूप, पंच परमेष्ठियो से सम्बन्धित भक्ति प्रशस्त राग होने से पुण्य बन्ध का कारण है। कार्तिकेयानुप्रेक्षा मे लिखा है—

जह जीवो कुणइ रइं पुत्तकलत्तेसु कामभोगेसु।
तह जइ जिणिंदधम्मे तो लीलाए सुहे लहदि ॥

इसका भाव इस प्रकार है—

जैसे रमणी विषय सुत ममता के आधार।
वैसा यदि जिनधर्म हो शीघ्र होय भव पार॥

जैसे जंगल को काटने के लिये लोहे की कुल्हाड़ी आवश्यक है, उस कुल्हाड़ी में लकड़ी रहने से जंगल की लकड़ी काटी जाती है। यदि लकड़ी न रहे, तो वह कुल्हाड़ी काम नहीं करती। इसी प्रकार आर्तध्यान और रौद्रध्यान द्वारा जो जीव अपने मन को पाप बन्ध में लगाता है पाप से बचने को उसके लिये भक्ति रूप निर्मल पुण्य मनोवृत्ति आवश्यक है।

प्रश्न—जिस परिणाम से पुण्य का बन्ध होता है, उससे उसका विरोधी पाप का क्षय कैसे होगा?

उत्तर—तत्त्वार्थसार में कहा है—

अनेक कार्यकारित्वं न चैकस्य विरुध्यते।
दाहपाकादि हेतुत्वं दृश्यते हि विभावसौ॥

एक पदार्थ के द्वारा अनेक कार्यों के सम्पन्न होने में कोई विरोध नहीं आता। एक अग्नि द्वारा दाह का कार्य होता है और भोजन पाक आदि कार्य भी हुआ करते हैं। पंचपरमेष्ठी की भक्ति को यहाँ प्रशस्त राग कहा है, जिससे पुण्यबन्ध होता है। जिनेन्द्र की भक्ति के द्वारा ऐसा कोई महान कार्य नहीं है, जो न सिद्ध हो। जयधवला टीका में कहा है—"अरहंत णमोक्कारो संपहि बंधादो असंखेज्ज-गुण-कम्मक्खय कारओत्ति" (भाग १ पेज ६) अरहंत भगवान को किया गया नमस्कार तत्कालीन होने वाले पुण्य बन्ध की अपेक्षा असंख्यात गुणी कर्म निर्जरा का कारण है। वीतराग जिनेन्द्र भगवान् की भक्ति आदि को इसीलिये महत्त्व दिया गया है, कि उससे पाप बंधक स्त्री पुत्रादि परिवार धन धान्य आदि का संग्रह, पाप चिन्तन आदि से मन हट जाता है। जिनेन्द्र भक्ति में पंचनमस्कार मंत्र का विशेष स्थान है। कहा भी है—

एकत्र पंचगुरुमंत्रपदाक्षराणि विश्वत्रयं पुनरनंतगुणं परत्र।
यो धारयेत् किल तुलानुगतं तथापि वंदे महागुरुतरं परमेष्ठिमंत्रम्॥

यदि कोई व्यक्ति तराजू के एक पलड़े पर पंच नमस्कार मंत्र के अक्षरों को रखे और दूसरे पर अनन्त गुणात्मक तीन लोक को रखकर तौले, तो भी परमेष्ठी मंत्र अधिक वजनदार प्रतीत होगा। मैं उस पंच नमस्कार मंत्र को प्रणाम करता हूँ। आचार्य गुणभद्र ने आत्मानुशासन में कहा है

परिणाममेव कारण माहुः खलु पुण्यपापयोः प्राज्ञाः।
तस्मात् पापापचयः पुण्योपचयश्च सुविधेयः॥२३॥

सुख दुःख के कारण जीव के पुण्य तथा पाप हैं; ऐसा ऋषियों ने कहा है। इसीलिये पाप का निरोध और पुण्य का संचय करना चाहिये। पंचपरमेष्ठी की भक्ति करने वाली पवित्र आत्मा तीर्थंकर के पद को प्राप्त करती है। विवेकीजन दुःख और सन्ताप के कारण पापमय प्रवृत्तियों से दूर रहते हैं।

तिसिदं बुभुक्खिदं वा दुहिदं दट्ठूण जो दु दुहिदमणो।
पडिवज्जदि तं किवया तस्सेसा होदि अणुकंपा॥

तृषितं बुभुक्षितं वा दुःखितं दृष्ट्वा यस्तु दुःखितमनाः।
प्रतिपद्यते तं कृपया तस्यैषा भवत्यनुकम्पा॥१३७॥

जो व्यक्ति प्यासे भूखे दुःखी व्यक्ति को देखकर अपने हृदय में पीड़ा का अनुभव करता है तथा करुणाभाव से प्रेरित हो उनके दुःख निवारण करने में प्रवृत्त होता है उसके यह अनुकम्पा होती है। यह अनुकम्पा पुण्य बंध का कारण है।

विशेष—यहाँ पुण्यप्रद अनुकम्पा भाव पर प्रकाश डाला गया है। सम्यक्त्वी जीव के प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य ये चार बाह्यचिह्न कहे गए हैं। रागादि दोषों से चित्त को हटाना प्रशम है। संसार भय को सवेग कहते हैं। "सर्वेषु प्राणिषु चित्तस्य दयार्द्रत्वं अनुकम्पा" सभी प्राणियों के प्रति चित्त मे दया भाव रखना अनुकम्पा है। आप्त, श्रुतव्रत तथा तत्त्वो मे प्रगाढ़ श्रद्धा आस्तिक्य गुण है। जिस प्रकार का जिनागम में कथन कहा गया है, वह पूर्णतया सत्य है, ऐसी अखण्ड श्रद्धा आस्तिक्य है। यशस्तिलकचम्पू मे लिखा है, सम्यक्त्वरत्न प्रशम, सवेग, अनुकम्पा तथा आस्तिकपने के द्वारा जाना जाता है। इससे सम्यक्त्वी की पहिचान हो जाती है।

अनुकम्पा की इस प्रकार परिभाषा है—

सत्वे सर्वत्र चित्तस्य दयार्द्रत्व दयात्मक ।
धर्मस्य परमं मूलमनुकम्पा प्रचक्षते ॥

दयावान पुरुष का सब जीवो पर चित्त मे करुणाभाव धारण करना अनुकम्पा है। यह धर्म की असली जड है।

पूज्यपाद स्वामी ने सर्वार्थसिद्धि मे सम्यक्त्व के दो भेद कहे हैं। प्रथम सराग सम्यक्त्व का लक्षण इस प्रकार किया है "प्रशम संवेग, अनुकम्पा, आस्तिक आदि की अभिव्यक्ति रूप लक्षण वाला सराग सम्यक्त्व है। आत्मविशुद्धि मात्र वीतराग सम्यक्त्व है। "प्रशम-सवेगानुकम्पास्तिक्याद्यभिव्यक्तिलक्षण प्रथमम् आत्मविशुद्धिमात्रमितरत्" (अध्याय १ सूत्र २)

दया, अनुकम्पा, प्रेम आदि समानार्थक शब्द है। स्वामी समन्तभद्र ने भगवान शातिनाथ के स्तवन में उन्हें दयामूर्ति लिखा है—"मुनिर्दयामूर्ति" जिस मानव के हृदय मे पीडित व्यक्ति को देख समवेदना रूप अनुकम्पा नहीं जागृत होती, वह तो मनुष्य नहीं है। पशुओं से भी गया बीता है। अन्तिम तीर्थंकर महावीर प्रभु पूर्वभव में सिंह थे, तब उन्होंने जीव दया को अपने जीवन में स्वीकार किया था तथा जीवघात का त्याग कर मरण के उपरान्त स्वर्गगमन किया था। कितनी अद्भुत बात है, कि जंगल का राजा सिंह अहिंसा का पालन कर रहा था। वह करुणामूर्ति मृगराज अकेला ही था। यदि मनोबल है, तो अकेला भी व्यक्ति अपनी आत्मा की कुपथ से रक्षा कर सकता है।

महापुराण में परमधार्मिक स्वयंबुद्ध मंत्री ने अपने स्वामी विद्याधरों के शिरोमणि महाबल (जो दशमें भव मे ऋषभनाथ भगवान हुए हैं) को यह कल्याणकारी उपदेश विद्याधरो की ससद् मे दिया था। "राजन् ! धर्म से मनोवांछित पदार्थ प्राप्त होते हैं। राज सम्पदा, भोग, योग्य कुल मे जन्म, सुन्दरता पाण्डित्य, दीर्घायु और आरोग्य यह सब पुण्य का फल है। राजन् ! धर्म के द्वारा सासारिक सुख और निर्वाण प्राप्त होते हैं। धर्म क्या है ? इसको स्पष्ट करते हुए कहा है—

दयामूलो भवेद्धर्मो दया प्राण्यनुकम्पनम् ।
दयायाः परिरक्षार्थं गुणाः शेषाः प्रकीर्तिताः ॥

धर्म वही है, जिसका मूल करुणा है। प्राणीमात्र के प्रति अनुकम्पा धारण करना दया है। इस दया धर्म के पूर्णतः परिपालन के लिये क्षमा, सत्य, शील आदि गुण कहे गये हैं।

धर्म की अन्तःकरण में यदि प्रतिष्ठा है, तो उस दयाधर्म पालक व्यक्ति में इन्द्रिय को वश में करना, क्षमा धारण करना, अहिंसा, तप, दान, शील, योग, वैराग्य, गुण विद्यमान होंगे। अहिंसा, सत्यवादिता, अचौर्य निस्पृहता तथा अकिंचनता सदृश गुणों का निवास होगा। यही सनातन धर्म है। दया धर्म अनादि से चला आया है। तीर्थंकरों ने करुणा को अपनी देशना में प्रमुख स्थान दिया है। जिसके हृदय में करुणा का निवास होता है, उसको कल्याणदायिनी विवेक लक्ष्मी प्राप्त होती है। ज्ञानार्णव में कहा है—

यथा यथा हृदिस्थैर्यं करोति करुणा नृणाम्।

तथा तथा विवेकश्रीः परां प्रीतिं प्रकाशते ॥५५॥

जैसे-जैसे मानवों के हृदय में करुणा प्रतिष्ठित होती है, वैसे-वैसे उसके प्रति विवेक लक्ष्मी प्रेमभाव धारण करती है। करुणा से दूर भागने वाला क्रूर जीव कभी सुखी नहीं रह सकता। अपने पापों के फलस्वरूप वह कष्ट पाये बिना नहीं रहेगा। तत्त्वार्थसूत्र में लिखा है, कि अनुकम्पा से अलंकृत अंतःकरण वाली आत्मा दुखी नहीं रहती। सुख के कारणों के विषय में यह सूत्र है—

भूतव्रत्यनुकम्पादान सराग-संयमादियोगः क्षान्तिः शौचमिति सद्वेद्यस्य (सूत्र- १२ अ ६) जीवों पर अनुकम्पा भाव धारण करना, व्रती सत्पुरुषों के प्रति विशेष रूप से अनुकम्पा करना दान, सरागसंयम आदि का परिपालन, क्षमा, निर्लोभता रूप शौच साता वेदनीय के कारण हैं।

चित्त की निर्मलता को ग्रंथकार ने पुण्यबंध का उत्पादक कहा है। मानसिक विशुद्धि ही पापसिंधु से जीव का रक्षण करती है। आर्तध्यान तथा रौद्ररूप ध्यान द्वारा दुर्गति में जाता है। आचार्य कहते हैं—

संक्लेशो नैव कर्तव्यः सक्लेशः बंधकारणम्।

सक्लेशपरिणामेन जीवो दुःखस्य भाजनम् ॥

संक्लेश अर्थात आर्तरौद्र रूप दुर्ध्यान नहीं करना चाहिए। सक्लेश भाव बंध का कारण है। संक्लेश परिणामेन जीवो दुःखस्यभाजनं—संक्लेशभाव से जीव दुःख का पात्र बनता है। ये वचन सदा परिपालनीय हैं।

अन्येषां मरणं भगवन्नगणयन् स्वस्यामरत्वं सदा।

देहिन्! चिन्तयतीन्द्रिय द्विपवशी भूत्वा परिभ्राम्यसि॥

अद्य श्वः पुनरागमिष्यति यमो न ज्ञायते तत्त्वतः।

तस्मादात्महितं कुरु त्वमचिराद् धर्मं जिनेन्द्रोदितं॥

अरे प्राणी! तू दूसरों के मरण को देखकर उसकी उपेक्षा करता है अर्थात् उससे कोई शिक्षा नहीं लेता और सदा तू अपने को अमर सोचा करता है! तू इन्द्रिय रूपी हाथी के वशीभूत होकर स्वच्छन्द प्रवृत्ति में संलग्न रहता है! तू नहीं जानता कि यम आज या कल आयेगा और तेरा जीवन समाप्त हो जायेगा। इसीलिये जिनेन्द्र भगवान के कहे हुये धर्म पर ध्यान दे तुरन्त आत्मकल्याण में लग। सत्प्रवृत्तियों में संलग्न रह।

करुणा के परिणाम आत्मा को महान बनाते हैं। (सागारधर्मामृत में कहा है)

दयालोरव्रतस्यापि स्वर्गतिः स्याददुर्गतिः।

व्रतिनोपि दयोनस्य दुर्गतिः स्याददुर्गतिः ॥७-४॥

व्रत आचरण रहित भी यदि दयालु पुरुष है तो उसके लिये स्वर्ग की गति अर्थात् सुगति सहज है। दया परिणाम के द्वारा जीव उच्चगति को जाता है। जो व्यक्ति दया भाव से शून्य है अर्थात् जो कठोर अन्तःकरण है, वह व्रत पालन करते हुए भी कुगति मे जाता है। उसके लिये दुर्गति में जाना कठिन नहीं है । इस कारण आचार्य कुंदकुंद ने पुण्यबन्ध मे अनुकम्पा तथा दया को कारण कहा है।

कोधो व जदा माणो माया लोभो य चित्तमासेज्ज।
जीवस्स कुणदि खोहं कलुसोत्ति य तंबुधा वेन्ति ॥

क्रोधो वा यदा मानो माया लोभो च चित्तमासाय।
जीवस्य करोति क्षोभं कलुषोत्ति च तं बुधाः वदन्ति ॥१३८॥

जब क्रोध मान माया अथवा लोभ जीव के चित्त मे क्षोभ उत्पन्न करते हैं, उस समय की जीव की परिणति को कलुषपना कहते हैं।

विशेष— इस जीव को संसार मे परिभ्रमण कराने वाले मोह महाशत्रु के दो भेद हैं। दर्शनमोहनीय कर्म श्रद्धा को मलिन बनाता है। दर्शनमोहनीय को मिथ्यात्व कहते हैं। समस्त दुखो मलिनताओ तथा दुर्गति मे गिराने वाले साधनो मे मिथ्यात्व प्रमुख है। मोहनीय का दूसरा भेद चारित्रमोहनीय है इसके अन्तर्गत क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार कषाय तथा हास्य रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद तथा नपुसक वेद रूप नो कषाय कहे गये हैं। यहाँ मानसिक मलिनता उत्पन्न करने वाली सामग्री मे कषाय का विशेष स्थान है। कषाय शब्द का अर्थ नेमिचन्द्राचार्य ने इस प्रकार किया है—

सुह-दुक्ख-सुबहुसस्सं कम्मक्खेत्त कसेदि जीवस्स ।
ससार दूरमेरं तेण कसाओत्ति ण वेति ॥२८१॥

जीव के सुख दुख आदि विविध प्रकार के धान्य को उत्पन्न करने वाले तथा जिसकी ससार रूप मर्यादा अत्यन्त दूर है ऐसे कर्मरूपी क्षेत्र (खेत) का यह कर्षण करता है, इसीलिये इसको कषाय कहते हैं। जिस तरह से हल चलाकर कृषक खेत में धान्य उत्पन्न करता है, उसी प्रकार यह कषाय कर्मरूपी खेत का कर्षण करता है। यहाँ कृष धातु की अपेक्षा कषाय का कथन किया है। कषाय शब्द हिंसार्थक कष धातु से उत्पन्न भी कहा है "कष् हिंसायां कषति हिनस्त्यात्मानं दुर्गति प्रापयति इति कषायः"—कष का अर्थ हिंसा है। जो आत्मा के गुणो का नाश कर उसे दुर्गति में पहुँचाता है उसे कषाय कहा है। गोम्मटसार में कषाय के द्वारा किन भावों का घात होता है, यह इस प्रकार कहा है-

सम्मत्त-देस-सयल-चरित्त-जहक्खाद-चरण परिणामे ।
घादंति वा कषाया चउसोल-असंखलोगमिदा ॥ २८२ ॥

जो सम्यग्दर्शन, एक देश चारित्र, सकल चारित्र तथा यथाख्यात चारित्र रूपी परिणामों को घाते अर्थात् उनको उत्पन्न न होने दे उसे कषाय कहा है। इसके अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण, संज्वलन ये चार भेद हैं। इनमे प्रत्येक के क्रोध, मान, माया और लोभ इस तरह म चार भेद होने से कषाय के सोलह उत्तरभेद कहे गये हैं। कषाय के उदय स्थानो की अपेक्षा से असंख्यात लोक प्रमाण भेद है।

सर्वार्थसिद्धि मे लिखा है "कषाय एव कषायः यथा कषायो न्यग्रोधादिः श्लेष हेतुस्तथा क्रोधादि रप्यात्मनः कर्म श्लेष हेतुत्वात् कषाय एव कषायः इत्युच्यते"—जैसे बहेड़ा, हर्रा, न्योग्रोध आदि की छाल को मंजिष्ठ आदि रंग के साथ वस्त्र का योग करने से पक्का रग बनता है, इसी प्रकार क्रोधादि की आत्मा के कर्मों के साथ संश्लेष कार्य करते हैं। इसीलिये कषाय रूप क्षार द्रव्य के समान कषाय का स्वरूप कहा है।

योग के द्वारा कर्मों का आकर्षण होता है। उससे प्रकृति और प्रदेश बन्ध होते हैं और कषाय से स्थिति और अनुभाग बन्ध होते हैं। सकषाय जीव के साम्परायिक आस्रव होता है। अकषाय जीव के ईर्यापथ आस्रव होता है। अकषाय गुणस्थानो मे केवल ईर्यापथ आस्रव होता है। आचार्य अकलंक देव ने स्वरूप सम्बोधन मे लिखा है

कषायै· रञ्जित चेत स्तत्व नैवावगाहते।
नीलीरक्तेऽम्बरे रागो दुराधेयो हि कौङ्कुमः ॥१७॥

रागद्वेष आदि कषायो से अनुरंजित चित्त आत्मा के विशुद्ध स्वरूप को नही विचार पाता है, जैसे नीले रग के कपड़े पर कुमकुम का रग कठिनाई से चढ़ता है। कषायो के द्वारा आत्मा मलिन हो जाती है। इसीलिये वह अध्यात्मरस का पान करने मे असमर्थ होती है। पूज्यपाद स्वामी ने कहा है राग द्वेष आदि कषाय भावो के द्वारा आत्मा की उपलब्धि मे बाधा आती है -

रागद्वेषादि कल्लोलैरलोल यन्मनोजलम्।
स पश्यत्यात्मनस्तत्वं तत्तवं नेतरो जनः ॥३५॥ स श ॥

जिस पुरुष का मन रूपी जल राग, द्वेष, मोह, क्रोध, मान, माया, लोभ रूपी लहरो से चचल नही है, वह व्यक्ति आत्म तत्त्व का दर्शन करता है। अन्य मलिन मन वाले व्यक्ति उस आत्मदर्शन से वचित रहते हैं। जिस प्रकार लहरो से व्याप्त चंचल सरोवर के पानी मे अपना मुख नही दिखाई देता और पवन सचार रहित अवस्था मे वह सरोवर का अकम्प जल मुखदर्शन मे सहायक होता है इसी प्रकार कषायो के द्वारा मानसिक चचलता आत्मदर्शन मे विघ्नकारी है।

कषायो पर विजय पाने के लिये मनुष्य को इन्द्रियों की दासता त्यागकर उनको वश में करना चाहिये। इन्द्रियों पर आत्मा का नियन्त्रण हो जाने पर कषाय रूपी मलिनता आत्मा को विकार भावयुक्त नही बना पाती। ज्ञानार्णव मे कहा है -

यथा यथा हृषीकाणि स्ववशं यान्ति देहिनाम्।
तथा तथा स्फुरत्युच्चैर्हृदि विज्ञान भास्करः ॥सर्ग २०-११॥
अजिताक्ष· कषायाग्नि विनेतु न प्रभुर्भवेत्।
अत क्रोधादिकं जेतुमक्षरोध· प्रशस्यते ॥१॥

जो इन्द्रियो को वश मे नही करता है, वह कषायाग्नि का निवारण करने मे असमर्थ है; इसलिये क्रोध, मान, माया, लोभ पर विजय पाने के लिये इन्द्रिय विजय प्रशसनीय है।

क्रोध चार प्रकार का है—पत्थर की रेखा के समान, पृथ्वी की रेखा के समान, धूलि की रेखा के समान और जल रेखा के समान। ये चारों प्रकार के क्रोध क्रम से नरक, तिर्यंच, मनुष्य तथा देव गति मे उत्पन्न करने वाले हैं। पत्थर के समान मान कषाय नरकगति का कारण है। हड्डी के समान मान तिर्यंच गति का कारण है। काष्ठ के समान मान मनुष्यगति का कारण है और बेत के समान मान के उदय से देवगति प्राप्त होती है।

पत्थर के समान अनन्तानुबन्धी मान कहा है। अस्थि के समान पत्थर से कम कठोर मान अप्रत्याख्यानावरण समान है। प्रत्याख्यानावरण मान काष्ठ के सदृश है। संज्वलन कषाय के मान को बेंत के समान बताया है। यह मान कषाय सम्यग्दर्शन को गहरी क्षति पहुँचाता है। शास्त्र में कहा है सम्यग्दृष्टि को आठ प्रकार के मदों से मुक्त होना चाहिये।

माया भाव वाला व्यक्ति कुटिल होता है। अनन्तानुबन्धी कषाय, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण तथा संज्वलन कषायो के लिये क्रमश: बाँस की जड, मेढे का सीग, गोमूत्र के समान तथा खुरपा का उदाहरण दिया गया है। इनसे जीव क्रमश: नरक, तिर्यंच, मनुष्य, देव गति मे जाता है। अनन्तानुबन्धी लोभ किरमिची के रंग के समान प्रगाढ होता है, कठिनता से छूटता है। इसी प्रकार अनन्तानुबन्धी लोभ कहा गया है, जो नरक गति को ले जाता है। गाडी के औंगन के समान अप्रत्याख्यानावरण लोभ पशुगति को पहुँचाता है। शरीर के मल के समान लोभ मनुष्यगति का कारण है इसकी प्रत्याख्यानावरण कषाय से तुलना की गई है। संज्वलन लोभ हल्दी के रग के समान है। यह देवगति मे उत्पादक है।

नरक, तिर्यंच, मनुष्य तथा देवगति में उत्पन्न होने के प्रथम समय में क्रम से क्रोध, माया, मान और लोभ का उदय होता है अथवा अनियम भी है। क्रोधादि के द्वारा जब मन मलिन नही होता, तब वह कलुषताहीन मनोवृत्ति पुण्य की प्राप्ति कराती है। ज्ञानार्णव में लिखा है—

शमाम्बुभि: क्रोधशिखी निवार्यताम् । नियम्यता मानमुदार मार्दवै: ।
इयं च मायाऽऽर्जवत: प्रतिक्षण निरीहतां चाश्रयलोभशान्तये ॥७२॥

आत्मन्! शान्तिरूपी जल से क्रोधाग्नि को दूर कर। उदार मार्दव भाव से मानरूपी कषाय को नियन्त्रित कर। आर्जव भाव के द्वारा सदा माया को दूर कर। लोभ की शान्ति के लिये निर्लोभता का आश्रय कर।

आचार्य कुन्दकुन्द ने नियमसार मे कहा है --

कोह खमया माण समद्दवेण–ज्जवेण मायं च ।
सतोसेणय लोह जयदि खुए चउविह कसाये ॥११५॥

क्रोध को क्षमा से, मान को मार्दव से, माया को आर्जव से तथा लोभ को सन्तोष से जीतना चाहिये। योगी इसी प्रकार चार कषायो को वश मे करता है। कुलभद्राचार्य ने कहा है—

कषायान्शत्रुवत्पश्येत् विषयान् विषवत्तथा ।
मोहे च परम व्याधि मेव मूचुर्विचक्षणा: ॥३५॥

कषायो को शत्रु के समान देखो, विषय भोगो को विष सदृश समझो। मोह को महारोग जानो ऐसा ज्ञानी पुरुषों ने कहा है।

चरिया पमाव बहुला कालुस्सं लोलदा य विसयेसु ।
परपरितावपवावो पावस्स य आसवं कुणदि ॥

चर्या प्रमाद बहुला कालुष्यं लोलता च विषयेषु ।
परपरितापा–पवाद: पापस्य आस्रवं करोति ॥१३६॥

यह जीव प्रमाद प्रचुर प्रवृत्ति, कलुषतापूर्ण परिणाम, इन्द्रियों के विषयों के प्रति लोलुपता, दूसरों को सन्ताप देना, दूसरों का अपवाद करना अर्थात् निन्दा करना। इस प्रकार के अशुभ परिणामों के द्वारा पाप कर्म का आस्रव होता है।

विशेष—आठ कर्मों में जीव के गुण को घात करने वाले ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ये चार घातिया कर्म हैं। इनका घात करके केवलज्ञान प्राप्त होता है। असातावेदनीय, अशुभ नाम, अशुभ गोत्र, अशुभ आयु ये चार अघातियाकर्म और चारों घातियाकर्म मिलकर पाप कर्म कहे गये हैं। आत्मानुशासन में लिखा है—

पापाद्दुःखं धर्मात्सुखमिति सर्वजन–सुप्रसिद्धमिदम् ।
तस्माद्विहाय पाप चरतु सुखार्थी सदा धर्म्मम् ।।८।।

पाप से दुख होता है और पाप का त्याग रूप धर्म के आचरण से सुख प्राप्त होता है। यह बात सर्व जगत में प्रसिद्ध है। इसीलिये सुख चाहने वाले को पाप का त्याग करके सदा दयामय धर्म का परिपालन करना चाहिये। इस धर्म के द्वारा श्रेष्ठ वैभव प्राप्त होता है। यह मोक्ष का भी कारण है। गृहस्थ परिग्रही होने से धर्म का पालन करते हुए सौलहवे स्वर्ग तक जायेगा किन्तु उसे परिग्रह त्यागकर मुनि पदवी को स्वीकार किये बिना मोक्ष नहीं मिलेगा। आचार्य सामान्य लोगो को लक्ष्य मे रखते हुये कहते हैं, धर्म आराधन के फलरूप तुम्हें वैभव मिला है तो तुम सुख का अनुभव करते हुए धर्म की आराधना नही छोड़ो, जैसे, किसान बीज बोकर धान्य को प्राप्त करता है और वह आगे की बात सोचकर बीज की रक्षा करता है। आचार्य कहते हैं -

धर्मादवाप्तविभवो धर्मप्रतिपाल्य भोगमनुभवतु ।
बीजादवाप्तधान्य कृषीवलस्तस्य बीजमिव ।।२१।।

पारसपुराण मे लिखा है कि जब वज्रनाभि चक्रवर्ती की पर्याय मे भगवान पार्श्वनाथ थे, तब वे वैभव द्वारा प्राप्त वैभव और विभूति का सुख भोगते हुए भी धर्म पालन मे सतत् सावधान रहते थे—

धर्मध्यान अहनिशि आचारैं। निर्मल नीतिपथ पग धरैं ।।
बीजराखि फल भोगवे, ज्यो किसान जगमाँहि ।
त्यो चक्रीनृप सुख करै, धर्म बिसारै नाहिं ।।

जो जीव प्रमादमय आचरण करते हैं, विषयो के प्रति गृद्धता धारण करते हैं, दूसरे प्राणियो को संताप देते हैं, जीवहिंसा निरत रहते हैं, पर-निंदा करते हैं, वे जीव पापास्रव को करते हैं, जिसका परिपाक मुख्यतया नरक गति मे होता है। मनुष्य विषयों की आसक्तिवश अपने चिंतन आचरण तथा वाणी द्वारा पाप के पथ मे प्रवृत्ति करता है। पाप बंध के कुछ कारण इस प्रकार गिनाए हैं—

हिंसाया निरता ये स्यु: ये मृषावादतत्पराः ।
चौराशीला· परस्त्रीषु ये रता मद्यपाश्चये ।।पर्व १०–२२।।

जो व्यक्ति हिंसा करने में सदा निरत रहते हैं, मिथ्या भाषण मे सदा तत्पर रहते है, जो चोरी करते हैं, जो परिस्त्री में आसक्त हैं, जो मद्यपान करते हैं। तथा—

ये च मिथ्यादृशः क्रूराः रौद्रध्यान परायणाः ।
सत्वेषु निरनुकोशाः बह्वारम्भ परिग्रह ।।पर्व १०–२३।।

जो मिथ्या दृष्टि है, क्रूर वृत्ति है, रौद्रध्यान में तत्पर हैं, प्राणियों के प्रति करुणा भाव विहीन है, बहुत आरम्भ परिग्रह में फसे है। तथा--

धर्मद्रुहश्च ये नित्यम् अधर्मं परिपोषका।
दूषका साधुवर्गस्य मात्सर्योपहताश्च ये ॥२४॥

जो धर्म से द्रोह करते है, सदा अधर्म का पोषण करते हैं, साधु पुरुषो को दोष लगाते हैं, जो मात्सर्य मे उपहृत है। तथा—

रुष्यन्त्य कारण ये च निर्ग्रंथेभ्योऽतिपातका।
मुनिभ्यो धर्मं शीलेभ्यो मधु मांसाशने रता ॥ २५ ॥

जो अकारण निर्ग्रंथ धर्म परिपालन मे तत्पर साधुओ के प्रति रोष भाव धारण करते हैं, बडे–बडे पातक करते हैं, मधु तथा मास सेवन मे सलग्न हैं। तथा

वधकान् पोषयित्वान्य जीवाना येऽतिनिघृंणाः।
खादकाः मधुमासस्य तेषा ये चानुमोदका ॥ २६ ॥

जो अन्य जीवो के घात करने वाले कुत्ता, बिल्ली सदृश जानवरो को पोषण देते हैं, जो अत्यन्त क्रूर है, मधु और मास के खाने वाले है, उनकी अनुमोदना करते है। तथा—

ते नरा पापभारण प्रविशति रसातलम्।
विपाक क्षेत्र मेतद्धि विद्धि दुष्कृतकर्मणाम् ॥२७॥

वे व्यक्ति अपने पाप के भार से रसातल मे अर्थात् नरको मे जाते हैं। वहाँ खोटे कर्मो का परिपाक हुआ करता है।

रयणसार मे पाप बन्ध के विषय मे यह स्पष्ट किया है कि पूजा, दान, प्रतिष्ठा आदि की सम्पति को अपनी बना लेने वाला महान पापी है--

जिणुद्धारपत्तिट्ठाजिणपूजा तित्थवदण विसय।
धण जो भुजइ सो भुजइ जिणदिट्ठ णरयगयदुक्ख ॥३२॥

जो मदिर का जीर्णोद्धार, प्रतिष्ठा, जिनपूजा, तीर्थवदन सम्बन्धी सम्पत्ति का उपभोग करता है वह नरकगति का दुख भोगता है। ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है---

खयकुट्ठमूलसूला लूयभयदर जलोदर खिसिरो।
सीदुण्हवाहिराइ पूजादाणांतराय कम्मफल ॥३६॥

जो मनुष्य जिनेन्द्रभगवान की पूजा दान के विषय मे अन्तराय रूप बनता है, वह पापी, कुष्ठ, क्षय, मूल व्याधि, शूल लूत्ता, जलोदर, भगन्दर, खिसिर, शीत, उष्ण आदि जनित व्याधियों के द्वारा तीव्र वेदना को प्राप्त होता है।

पुत्तकलत्त विदूरो दारिद्दो पंगु मूकबहिरधो।
चडालाइकुजादो पूजादाणाइदव्वहरो ॥३३॥

जो पूजा दानादि का द्रव्य हरण करता है, वह पुत्र, स्त्री आदि से विरहित होता है। वह दरिद्र, पंगु, मूक, बधिर, अन्धा होता है तथा चाण्डाल आदि कुजातियो मे उसका जन्म होता है। यह ऋषिवाणी

धन लोलुपी, धर्म सम्बन्धी द्रव्य को पास मे रखकर उसका उपभोग करने वाले पुरुषों को चेतावनी देती है ।

महापुराण मे एक कथानक है, राजा श्रेयास का पद पाने वाले सत्पुरुष पूर्वभव में श्रीमती महारानी थे और उनके पति वज्रजंघ महाराज थे जो आगे ऋषभनाथ तीर्थंकर हुए) । उनके सम्बन्ध में यह बात बताई गई है कि समाधिगुप्त मुनिराज के समीप तूने मरे कुत्ते का कलेवर डाला था इसीलिए मुनिराज ने तुझे उपदेश दिया। तूने क्षमा भाव प्राप्त किया और जिनेन्द्र-गुण-सम्पत्ति और श्रुतज्ञान नाम के उपवास पूर्वक पाले जाने वाले दो व्रतो को ग्रहण किया । जिनेन्द्र गुण सम्पत्ति व्रत मे ६३ उपवास होते हैं । श्रुतज्ञान व्रत में १५८ उपवास करना चाहिये। मुनिराज ने कहा-

मुनयः पश्य कल्याणि शापानुग्रहयोः क्षमा ।
अतिक्रान्तिरतस्तेषा लोकद्वय विरोधिनी ।।१५२।। म ६ गा. १५२

हे कल्याणी ! देख, मुनि शाप और अनुग्रह करने मे समर्थ होते है, इसीलिए उनके प्रति की गई अवज्ञा दोनों लोकों मे कष्ट देती है ।

वाचातिलघन वाच निरुणद्धि भवे परे ।
मनसोल्लघनचापि स्मृतिमाहन्ति मानसीम् ।।१५३।।

जो पुरुष दुष्टवचनो के द्वारा साधुओ का तिरस्कार करते हैं वे आगामी भव मे गूंगे होते हैं । जो मन से मुनियो का निरादर करते है, उनकी स्मृति का क्षय हो जाता है ।

कायेनातिक्रमस्तेषा कायार्त्तीः साधयेत्तराम् ।
तस्मात्तपोधनेन्द्राणा कार्यो नातिक्रमो बुधैः ।।१५४।।

जो अपने शरीर द्वारा तिरस्कार करते हैं उन्हे कौनसा दुख नही प्राप्त होता है, इसीलिये बुद्धिमान पुरुषों को साधु जनों का अनादर नही करना चाहिये ।

पाप प्रवृत्ति द्वारा अर्जित पाप का उदय आता है, तब हँस-हँस कर पाप करने वाले व्यक्ति को अपार कष्ट होता है । वह रो-रोकर काल व्यतीत करता है ।

सण्णाओ य तिलेस्सा इंदियवसदा य अत्तरुद्दाणि ।
णाणं च दुप्पउत्तं मोहो पावप्पदा होंति ।।१४०।।

संज्ञाश्च त्रिलेश्या इन्द्रियवशता चार्त्तरौद्रे ।।
ज्ञानं च दुःप्रयुक्त मोहः पापप्रदाः भवन्ति ।।१४०।।

आहार, भय, मैथुन तथा परिग्रह रूप चार सज्ञा, कृष्ण नील कापोत रूप अशुभ तय लेश्या, स्पर्शन आदि इंद्रियों की दासता, आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान अपने ज्ञान को दुष्टकार्यों मे लगाना, मोह के अधीन होना पाप बन्ध के कारण हैं ।

विशेष—जीव को आहार, भय, मैथुन और परिग्रह ये चार संज्ञाएँ दुखदायिनी हैं । सज्ञाओं के विषय में गोम्मटसार में लिखा है–

इह जाहि बाहियावि य जीवा पावंति दारणं दुक्खं ।
सेवंतावि य उभये ताओ चत्तारि सण्णाओ ।।१३३।।

जिनसे क्लेशित होकर जीव इस लोक मे और जिनके विषय का सेवन करने से दोनों भवों में दारुण दुखो को प्राप्त होता है, उनको सज्ञा कहते हैं। वह चार प्रकार है।

आहार संज्ञा के विषय मे इन कारणों का कथन किया है। आहार के देखने से, आहार के विषय में चिन्तवन करने से, पेट के खाली रहने से, असाता वेदनीय के उदय और उदीर्ण होने से जीव के आहार संज्ञा होती है ।

भय सज्ञा के ये कारण हैं– भयंकर पदार्थ का दर्शन होने से, पूर्व में देखे गये भीषण सामग्री का स्मरण करने से, क्षीण शक्ति होने से और अन्तरग में भय कर्म की उदय उदीरणा द्वारा भय संज्ञा होती है ।

मैथुन संज्ञा के विषय मे लिखा है–स्वादिष्ट और गरिष्ठ रसयुक्त भोजन करने से, पूर्व में खाये गये मधुर पदार्थों का स्मरण करने से, कुशील सेवा करने से और वेदनीयकर्म का उदय उदीरणा आदि से मैथुन संज्ञा होती है ।

परिग्रह सज्ञा के विषय मे लिखा है– भोग-उपभोग की साधन रूप आकर्षक सामग्री को देखने से, पूर्व भुक्त रम्य सामग्री के स्मरण करने से, ममत्व परिणाम के होने से, लोभ कर्म का उदय उदीर्ण होने से, परिग्रह सज्ञा होती है ।

सातवें गुणस्थान में आहार संज्ञा नही होती क्योकि उसका कारण असाता वेदनीय कर्म का उदय वहां नही है। वहां शेष तीन सज्ञा उपचार से कही हैं क्योकि उनका कारण कर्म वहां मौजूद है ।

सागार धर्मामृत मे लिखा है यह जीव चार सज्ञा रूपी ज्वर से पीड़ित हो अपने आत्मज्ञान से विमुख हो रहा है। इन्द्रियजनित सुख की लालसा के अधीन व्यक्ति आत्मकल्याण की बात नही सोच पाता। कल्याण मार्ग से विमुख होने वाले संज्ञा ज्वर से पीडित व्यक्ति के पाप का आचरण होता है।

ग्रन्थकार ने कृष्ण नील कापोत लेश्याओं के फन्दे मे फँसे जीव को पाप बन्ध करने वाला कहा है। इन लेश्याओ के द्वारा जीव के संक्लेश परिणाम होते है। नील लेश्या मे कापोत लेश्या की अपेक्षा विशेष संक्लेश पाया जाता है और कापोत लेश्या की अपेक्षा नील लेश्या में अधिक संक्लेश भाव की वृद्धि होती है। संक्लेश परिणाम जीव को दुर्गति प्रदान करता है।

इन्द्रियाँ जीव को अपना गुलाम बनाती हैं। इन इन्द्रियों का दास बनकर जीव अनेक प्रकार के अनर्थ करता है और कष्ट पाता है। ज्ञानार्णव मे लिखा है–

अजिताक्षः कषायाग्नि विनेतुं न प्रभुर्भवेत् ।
अत: क्रोधादिकं जेतुमक्षरोधः प्रशस्यते ।।१।।

जिसने इन्द्रियों को वश में नही किया वह कषाय रूपी अग्नि को शांत करने मे असमर्थ है। इसीलिए क्रोधादि को जीतने के लिए इन्द्रियो के विजय को अच्छा कहा है। आचार्य कहते हैं– यदि तुमने इन्द्रियो को अपने वश में कर लिया तो तुम्हारी आत्मा शीघ्र ही मुक्ति मंदिर में प्रवेश करने की पात्रता प्राप्त करेगी। इन्द्रियो पर नियन्त्रण हितकारीहै। संसारी प्राणी इन्द्रियों के नियन्त्रण मे रहता है और विषयभोगों को निमंत्रण देता है इस कारण ही वह सच्चे सुख से वंचित रहता है। कहा भी है–

विषयेषु यथा चित्तं जन्तोर्मग्नमनाकुलम् ।
तथा यद्यात्मनस्तत्वे सद्यः को न शिवी भवेत् (सर्ग २०, २, १२)

जिस प्रकार जीवों का चित्त विषय भोगो में तन्मय होकर निमग्न हो जाता है, उसी प्रकार की दृष्टि आत्म तत्त्व की ओर होकर यदि जीव आत्मा में लीन हो जाए तो कौन व्यक्ति शीघ्र मोक्ष को प्राप्त नही करेगा। इन इन्द्रियों को धर्म रत्न के चोर की उपमादी है।इन्द्रिय जनित सुख के पीछे दौड़ने वाले जीव को धर्म रूपी अमृत विष सरीखा लगता है। इन्द्रियों की आसक्ति के द्वारा जीवों की दुर्गति होती है। उससे पाप होता है।

ज्ञानी पुरुषो के हृदय मे जब विवेक का प्रकाश उत्पन्न होता है, तब वे विषयो से विरक्त हो, सोचते हैं कि आत्मन ! क्यों तू अपने अनन्त सुख को भूलकर नकली इन्द्रियजन्य सुखो के पीछे दौडता है। यह भोग प्रारम्भ मे अच्छे लगते, किंतु फल देते समय सतापप्रद होते हैं। रूप, आरोग्य ऐश्वर्य सभी क्षण–नश्वर हैं यह विवेकी व्यक्ति सोचते हैं। मोही आत्मा के पास सद् विचारो का आगमन नही होता इसीलिए वह दुर्गति में जाता है। महापुराण मे लिखा है कि–विद्याधरों का राजा अरविन्द इन्द्रियो पर विजय न करने के कारण नरक का पात्र हुआ। जितेन्द्रिय की उन्नति होती है। नीतिवाक्यामृत मे आचार्य सोमदेव ने लिखा–"नाऽजितेन्द्रियस्य कापि कार्यं सिद्धि"।

पाप कर्म के प्रमुख कारण आर्त और रौद्र ध्यान हैं वे दोनों दुर्ध्यान दुर्गति प्रद हैं। ऋत अर्थात् पीडा में जो ध्यान उत्पन्न है, उसे आर्तध्यान कहते हैं। इस पदार्थ का वियोग होने पर जो दुख होता है वह इष्ट वियोगज आर्त्तध्यान है। अनिष्ट वस्तु के सयोग होने पर जो दुर्ध्यान होता है, वह अनिष्ट संयोगज आर्तध्यान है। शरीर में वेदना उत्पन्न होने पर जो मानसिक संताप होता है वह वेदनोभव आर्तध्यान है। आगामी काल मे भोगों की वाछा रूप निदान बध नामका आर्त्तध्यान है। इस आर्त्तध्यान मे क्षयोपशमिक भाव होता है। और इसका फल-तिर्यंच गति है। इस आर्त्तध्यान के इस प्रकार चिह्न हैं–परिग्रह मे अत्यन्त आसक्त होना, कुशील रूप प्रवृत्ति करना कृपणता, अत्यन्त लोभ, अधिक शोक इत्यादि चिह्न कहे हैं। इस दुर्ध्यान के द्वारा जीव पाप कर्म का सचय करता है, जिससे आगे फिर दु ख की प्राप्ति होती है। सद्गुरु समझाते हैं "अरे जीव तू अकेला है, अकेला था, अकेला रहेगा। न कोई तेरा इष्ट है, न अनिष्ट है। आगामी सुख की इच्छा अज्ञान मूलक है। कही ओस की बूंद से प्यास बुझी है ? यदि पूर्व संचित पुण्य होगा, तो मनोवाछित सामग्री मिलेगी। उसके लिये तीव्र तृष्णा करना लालायित होना ठीक नही है। असाता वेदनीय के उदय से शरीर मे रोग उत्पन्न हो गया हो, धीरता धारण करो। कष्ट के काल मे धर्म और धैर्य ही शरण रूप रहते हैं। मन को आर्त्तध्यान से मलिन करने के बदले वह व्यक्ति जिनेन्द्र भगवान की भक्ति करे तो विशेष लाभ हो। पूज्यपाद स्वामी ने शान्ति भक्ति मे कहा है। भगवन आपके चरणों को प्रणाम करने से पीडाएं शान्त होती है "पुसां त्वच्चरण–प्रणामकरणात् पीडाः प्रयाति क्षयं" जिनेन्द्र भक्ति की अपार महिमा है। उसमें अद्भुत शक्ति है। यदि पवित्र हृदय से जिनेश्वर की आराधना की जाये, तो महान कष्ट दूर होते हैं। आचार्य वादिराज ने एकीभाव स्तोत्र में कहा है—

आनंदाश्रुस्नापितवदनं गद्गदं चाभिजल्पन्यश्चायेत् ।
त्वयि दृढमना स्तोत्र मन्त्रैर्भवंतम् ।
तस्याभ्यस्तादपि च सुचिर देहवल्मीकमध्यान्निष्कास्यंते ।
विविध विषम व्याधयः काद्रवेयाः ॥ ३ ॥

हे वीतराग भगवान ! जो मनस्वी भक्त नेत्रों में आनन्द अश्रु परिपूर्ण हो अपने मुख को उनसे सुशोभित करते हैं तथा गद्गद् होकर स्तोत्र रूपी मन्त्रों के द्वारा आपका स्तवन करते हैं, उनके शरीर रूपी बाँबी में निवास करने वाले विविध व्याधि-रूप सर्प बाहर भाग जाते हैं। इसीलिये आर्त्तध्यान को दुर्गति का कारण जान उससे बचने के लिये अपने मनोबल को बढ़ाना चाहिये। इष्ट का वियोग हो गया या अनिष्ट का संयोग हो गया इत्यादि अपने मन के विपरीत सामग्री की प्राप्ति हो गई। वह अकस्मात् नहीं प्राप्त होती। पूर्व में बाँधे कर्म जब उदय में आते हैं, तब उन कर्मों के फल को कौन टाल सकता है ? त्रिलोकीनाथ तीर्थंकर पार्श्वनाथ भगवान को अशुभ के उदय होने पर अपार संकट आया, किन्तु वे महाप्रभु अपने ध्यान से विचलित नहीं हुये। जिस जीव के जिस प्रकार के कर्म बंधे, उनका फल अवश्य उदय में आयेगा। इस बात को सोचकर विपत्ति की बेला में व्यथित न होना विवेकी व्यक्ति का कर्त्तव्य है। 'तू करम पूरब किए खोटे सहै क्यों नहिं जीयरा' यह विचार करना चाहिए।

तत्वार्थ सूत्र में लिखा है, कि ये चार प्रकार के आर्त्तध्यान पंचम गुणस्थान तक होते हैं तथा प्रमत्त संयत गुणस्थान में भोगाकांक्षा रूप निदान रहित तीन दुर्ध्यान भी प्रमाद के उदय से कदाचित् हो जाते हैं।

रौद्र ध्यान के विषय में यह जानना चाहिये कि जो पुरुष प्राणियों को रुलाता है वह रुद्र या क्रूर कहलाता है। इसके आर्त्तध्यान के समान चार भेद हैं। हिंसा, जीवघात आदि में आनन्द मानना, असत्य बोलने में हर्षित होना, चोरी करने में आनन्द मानना और परिग्रह के संरक्षण में दिन रात लगे रहकर हर्ष मानना। यह रौद्रध्यान पंचम गुणस्थान तक होता है। रौद्रध्यान वाला अत्यन्त निर्दय, क्रोधी, कुत्सित आचरण करने वाला होता है। उसकी क्रूर और दुष्ट मनोवृत्ति दूसरों को पीडित देखकर आनन्द का अनुभव करती है। ज्ञानार्णव में कहा है-"अभिलषति नितांत यत् परस्यापकार" वह दुष्ट जीव दूसरे को हानि पहुँचाने की बात ही सोचा करता है कहा है -

दहत्येव क्षणार्द्धेन देहिनामिदमुत्थितम् ।
असद्ध्यान त्रिलोक-श्री-प्रसव धर्मपादपम् ॥४०॥

यह दुर्ध्यान जब जीवों के उत्पन्न होता है, तब तीन लोक की लक्ष्मी को प्रदान करने वाला धर्म रूपी वृक्ष क्षणभर में जला दिया जाता है। ज्ञानार्णव में कहा है---

स्वयमेव प्रजायन्ते बिना यत्नेन देहिनाम् ।
अनादि दृढ संस्कारादुर्ध्यानानि प्रतिक्षणम् ॥४३॥

यह दुर्ध्यान अनादि काल के संस्कार से बिना प्रयत्न के स्वयमेव उत्पन्न हो जाता है। इन दोनों अशुभ ध्यानों के कुचक्र से बचकर धर्मध्यान का शरण लेने वाला व्यक्ति आनन्द, शान्ति और अभ्युदय को प्राप्त करता है।

पापबंध में, दुष्ट भाव में प्रवृत्त ज्ञान तथा दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय के उदय से उत्पन्न अविवेक स्वरूप मोह द्वारा ही पापास्रव होता है। यह भाव पापास्रव द्रव्य पापास्रव का कारण है।

जो आत्मा जिनेन्द्र भक्ति, व्रत, संयम लोकोपकार, करुणा आदि पवित्र प्रवृत्तियों में लगा रहता है, उनकी जीवन नौका पाप सिन्धु में डूबने से बच जाती है। संसार में जितने भी जीव दुखी देखे जाते हैं वे सब आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान के कारण से संताप पाते हैं। इन सन्तापों से त्राण पाने के लिये वीतराग भगवान के चरण ही शरण रूप है। परमात्म प्रकाश में कहा है --

मोक्ख ण पावहि जीव तुहु घरु परियणु चिंतंतु ।
तो वरि चिन्तहि तउ जितउ पावहि मोक्ख महंतु ।।१२४।।

हे आत्मन ! गृह परिजन की चिन्ता द्वारा तू मोक्ष नहीं प्राप्त करेगा । तू यदि उत्तम तप का पुनः-पुनः चिन्तवन करे तो तुझे श्रेष्ठ सुख प्राप्त हो जायेगा । आर्तध्यान, रौद्रध्यान रूपी मानसिक मलिनता द्वारा ही सारे संकट और विपदाएँ प्राप्त होती हैं । जीवन की मलिनता दूर करने में तीर्थंकर भगवान ने तप रूपी अग्नि का आश्रय लिया है ।

इंदिय कसाय सण्णा णिग्गहिदा जेहिं सुट्ठमग्गम्मि ।
जावत्ता वत्तेहिं पिहियं पावासवं छिद्दं ।।
इन्द्रिय कषाय सञ्ज्ञा निगृहीताः यैः सुष्ठुमार्गे ।
यावत्तावत्तेषा पिहितं पापास्त्रव छिद्रं ।। १४१ ।।

जिन्होंने इन्द्रिय कषाय तथा चार प्रकार की संज्ञाओं का जितने अंश में जितने काल तक निग्रह किया है उतने काल पर्यन्त, उतने अंश में उन्होंने पापास्रव रूप छिद्र को बन्द कर दिया है । इन्द्रिय, कषाय और संज्ञा का निरोध होने पर भाव-पाप का संवर होता है । वह द्रव्य पाप के संवर का कारण होता है ।

विशेष यहाँ संवर तत्त्व का प्रतिपादन किया गया है । यह संवर मोक्ष का प्रधान हेतु है । पूज्यपाद स्वामी ने सर्वार्थसिद्धि में कहा है "इह मोक्षः प्रकृतः । सोऽवश्य निर्देष्टव्यः । स च संसारपूर्वकः । संसारस्य प्रधानहेतु-रास्रवो-बन्धश्च मोक्षस्य प्रधानहेतुः संवरो निर्जरा च" (१-सू ४) यहाँ मोक्ष का प्रकरण है । उसका निर्देश आवश्यक है । वह मोक्ष संसार पूर्वक होता है । संसार के प्रधान कारण आस्रव और बंध है । मोक्ष के प्रधान हेतु संवर और निर्जरा है । यहाँ मोक्ष का हेतु संवर तत्त्व का कथन किया गया है । द्रव्यसंग्रह में संवर के विषय में कहा है—

चेदण परिणामो जो कम्मस्सासवणिरोहणे हेऊ ।
सो भाव संवरो खलु दव्वासवरोहणे अण्णो ।।३५।।

जो चेतन का परिणाम कर्मों के आस्रव का निरोध करता है वह भाव संवर है । उससे भिन्न द्रव्य संवर है ।

यहाँ पापासवं छिद्दं-पापास्रव रूपी छिद्र को बन्द करने रूप संवर का कथन किया है । आचार्य कुन्दकुन्द ने पाप के संवर को मुख्यता प्रदान की है । पाप के भेद ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय के क्षय होने से केवलज्ञान की ज्योति प्राप्त होती है । अध्यात्मशास्त्र में पुण्य और पाप को समान कर्मरूप माना है किन्तु दोनों में भिन्नता भी है । यदि सर्वथा अभिन्नता होती तो नौ पदार्थ के स्थान पर आठ पदार्थ मानना चाहिये था । पुण्यकर्म केवलज्ञान की प्राप्ति में बाधक नहीं है । पुण्यकर्म घातिया कर्म से भिन्न है । वह अघातिया कर्मरूप है । प्रथमतः कर्मों की चौकड़ी के चक्कर से आत्मा को बचाना जरूरी है, उसके बाद अघातिया कर्म रूप पुण्य प्रकृतियाँ विनष्ट की जाती है । कुन्दकुन्द स्वामी ने कहा है कि अशुभ का संवर शुभयोग के द्वारा होता है । और शुभयोग का संवर शुद्धयोग से होता है

सुहजोगेसु पवित्ती संवरणं कुणदि असुह जोगस्स ।
सुहजोगस्स णिरोहो सुद्धुवजोगेण संभवदि ।। ६३ ।। अनुप्रेक्षा

शुभयोगों मे प्रवृत्ति द्वारा अशुभ योग का संवर होता है तथा शुद्धोपयोग द्वारा शुभ योग का संवर होता है।

संवरानुप्रेक्षा मे सर्वार्थ सिद्धि मे लिखा है–यथा महार्णवे नावो विवरपिधानेऽसति क्रमात्स्रुतजलाभिप्लवे सति तदाश्रयाणा विनाशोऽवश्यंभावी। छिद्रपिधाने च निरुपद्रवमभिलषित देशान्तरप्रापण तथा कर्मागम द्वार संवरणेसति नास्ति श्रेय प्रति बंध इति संवरगुणानुचिन्तन संवरानुप्रेक्षा। एवं ह्यस्यचितयत· संवरे नित्योद्युक्तता भवति। ततश्च निःश्रेयसपदप्राप्ति। जैसे महासागर मे विद्यमान जहाज के छिद्रों को नही ढाकने पर क्रम २ से उसमे प्रवेश पाने वाले जल के भर जाने पर उसमे बैठने वालों का विनाश अवश्यभावी है, छिद्रो को बन्द कर देने पर बिना किसी विपत्ति के जहाज अभिलषित देशान्तर को पहुँचा देता है, इसी प्रकार कर्मों के आगमन के द्वारो को बन्द कर देने पर कल्याण प्राप्ति मे कोई प्रतिबन्ध नही होता है। इस प्रकार संवर के गुणो का अनुचिंतन संवर अनुप्रेक्षा है। इस प्रकार चिंतवन करने वाले व्यक्ति के संवर के विषय मे सतत उद्योग होता है। इससे मोक्षपद की प्राप्ति होती है।

यहाँ यह बात ध्यान देने की है कि बुद्धिमान व्यक्ति जहाज मे जल प्रवेश के द्वारों को देखकर सर्व-प्रथम बडे-बडे छिद्रों को बन्द करता है, क्योंकि उनसे आगत अधिक जल ही उस जहाज को रसातल मे पहुँचाने का कार्य करता है। बहुत सूक्ष्म छिद्रों से आगत पानी को ओर वह उस समय ध्यान नही देता है। इसी प्रकार कर्मों के प्रवेश के विषय मे विचारक व्यक्ति की दृष्टि रहती है। नागसेन आचार्य ने लिखा है, कि बंध के कारणो मे प्रथम चक्रवर्ती तुल्य मोहनीय कर्म है। उसके साथी ज्ञानावरण, दर्शनावरण तथा अंतराय है। ये चार घातिया कर्म जीव के अनतज्ञान, अनतदर्शन, अनतसुख तथा अनन्तवीर्य गुणो को नही प्रकट होने देते है। इन चारो घातिया कर्मों को आगम से जीव के अनुजीवी गुणों का घातक कहा है। इनकी पाप प्रकृतियो मे परिगणना की गई है 'पाति रक्षति आत्मान शुभादिति पापम' (स सि.) जो आत्मा को शुभ से बचाता है अर्थात् अशुभ को प्राप्त कराता है, वह पाप है, इस दृष्टि से पापो का संवर करना चतुर पुरुष का प्राथमिक कर्तव्य है।

पुण्यकर्म अघातिया है। वह केवलज्ञान की प्राप्ति मे बाधक नही है। मोक्ष की प्राप्ति दिगम्बर श्रमण अवस्था द्वारा होती है। उसके लिए पुण्य कर्म बाधा न कर सहायक बनता है। शुभ आयु अर्थात् मनुष्यायु, शुभगोत्र अर्थात् उच्च गोत्र, शुभनाम अर्थात् वज्रवृषभनाराच सहनन आदि शारीरिक क्षमता, जो भयकर कष्टो को सहन करने की योग्यता प्रदान करता है तथा सातावेदनीय कर्म ये चार पुण्य कर्म मोक्ष के लिए प्रयत्नरत व्यक्ति के लिए सहायक हैं। पंचम काल मे मोक्ष नही प्राप्त होता, इसका प्रधान कारण पुण्य कर्म रूप वज्रवृषभनाराच सहनन का अभाव है। इससे अनेकान्त ज्योति के प्रकाश मे सर्वप्रथम पाप के संवर की ओर विवेकी का ध्यान जाता है।

मूलाचार मे लिखा है—

हिंसादिएहि पचहि आसवदारेहि आसवदि पाव।
तोहिंतो ध्रुव विणासो सासवणावा जह समुद्दे ॥४६॥

हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पंच कारणो से पापकर्म आता है। उनके द्वारा नियम से विनाश होता है। जैसे समुद्र मे वह जहाज जिसमे पानी भीतर भरता जा रहा है वह डूब जाता है।

इसीलिये आवश्यक है कि संवर के लिये आस्रव के कारणो का निरोध किया जाये। इस संवर के इन्द्रिय संवर और चारित्र संवर ये दो भेद मूलाचार मे किये हैं। इसमे "इन्द्रियाणि तपसा निगृह्यन्ते।

कषाया. ज्ञानभावनाया वशीक्रियन्ते । द्वेषो विनय क्रियया प्रलय मुपनीयते" इन्द्रियों का निग्रह तप के द्वारा करे। कषाय ज्ञान भावना के द्वारा वशीभूत होती है। विनय क्रिया के द्वारा द्वेष भाव दूर होता है।

चारित्र सवर के लिये लिखा है, कि मन वचन, काय से गुप्त इन्द्रियों युक्त तथा समितियों के पालन मे सावधान व्यक्ति के द्वारा आस्रव के द्वार का निरोध होने पर नवीन कर्म रूपी रज का आगमन नही होता। संवर के विषय मे यह बात ध्यान देने की है, कि सर्वप्रथम पाप के कारणो से आत्मा की रक्षा की जाये। पाप कर्म महा तस्कर है। वह जीव के सम्यक्दर्शन, ज्ञान तथा चारित्र रूप रत्नो को चुराता है। अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य इन चार आत्मगुणो को प्राप्त करने मे बाधक कारण पाप रूप घातिया कर्म है। पुण्य कर्म और पाप मे बडा अन्तर है। पुण्य कर्म रत्नत्रय को नहीं चुराता। अगर गहराई से सोचा जाये तो कहना होगा कि तीर्थंकर प्रकृति रुप पुण्य कर्मो का ही प्रताप है, जो समवशरण की रचना होकर तीर्थंकर के अचिन्त्य और अद्भुत वैभव के कारण जगत् के अगणित प्राणी धर्म क मार्ग मे लगते हैं। वे रत्नत्रय को प्राप्त करते हैं। पूज्यपाद आचार्य ने अरहन्त पद का कारण तीर्थंकर नामकर्म को बताया है -

"आर्हन्त्यकारण तीर्थकरत्वनाम।'

राजवार्तिक मे आचार्य अकलक लिखते है कि तीर्थंकर रूपी पुण्य कर्म के उदय से अरहत पद, अचिन्त्य विभूति युक्त अवस्था प्राप्त होता है।

'यस्यादयादार्हन्त्यमचिन्त्य विभूति-विशेष-युक्त मुपजायते तत्तीर्थकरत्वनाम कर्म प्रतिपत्तव्य।" चार घातिया कर्मो का नाश कर अनन्त चतुष्टय केवली भगवान को प्राप्त होते है। समवशरण की रचना इन्द्र के आदेश से कुबेर करता है। असख्य देवा, देवता रत्नत्रय धर्म की महिमा के प्रसार कार्य मे प्रमुख बनते हैं। इसीलिये नरक मे गिराने वाले पाप के साथ तीर्थंकर पद प्रदान करने वाले पुण्यकर्म की तुलना करना ठीक नहीं है। पुण्यकर्म मोक्ष जाने वाले व्यक्तियो के हितार्थ अद्भुत जहाज सदृश है, जिसके द्वारा ससार सिन्धु सतरणका श्रेष्ठ कार्य सम्पन्न होता है। उसके सम्बन्ध मे निंदा करना अनुचित है, क्योंकि सम्यक्त्व के आयतन के प्रति दुर्बुद्धि और दुर्भावना रखना अच्छा नही है। वह दुर्गति प्रदाता है।

जीवो के कल्याण हेतु श्री गणधर देव ने तीर्थंकर परम देव से यह प्रश्न किया था। मूलाचार में लिखा है—

कध चरे कध चिट्ठे कधमासे कध सये ।

कध भुजेज्ज भासिज्ज कधं पाव ण वज्झदि ॥१२१॥

भगवन्! किस प्रकार गमन करना चाहिये? किस प्रकार खडे रहना चाहिये, बैठना चाहिये? किस प्रकार शयन करना चाहिये? किस प्रकार भोजन करना चाहिये? किस प्रकार बोलना चाहिये? जिससे पाप का आगमन न हो—"पापागमो न स्यात्"। इस प्रश्नमालिका का उत्तर 'कध' शब्द को बदल-कर 'जद' शब्द के परिवर्तन के साथ दिया गया है। यह भाषा का सौन्दर्य है।

जदं चरे जदं चिट्ठे जदमासे जद सये ।

जदं भुंजेज्ज भासेज्ज एवं पावं ण बज्झइ ॥१२२॥

यत्नाचार पूर्वक चलो ताकि किसी जीव का घात न हो, यत्नाचार पूर्वक खडे रहो, यत्नाचार पूर्वक बैठो, यत्नाचार पूर्वक शयन करो, यत्नाचार पूर्वक भोजन करो। यत्नाचार पूर्वक सम्भाषण करो। ऐसा

आचरण करने से पाप कर्म का बंध नहीं होता। इस कथन से यह बात स्पष्ट होती है कि जो व्यक्ति गमनागमन क्रिया, सम्भाषण कार्य आदि प्रवृत्तियों में लगे रहते हैं उन व्यक्तियों का कल्याण यत्नाचार पूर्वक प्रवृत्ति करने में है, क्योंकि उससे पाप कर्म का संवर होता है।

जीवों के कल्याण हेतु पूज्यपाद स्वामी ने समाधिशतक में कहा है—

अव्रतानि परित्यज्य व्रतेषु परिनिष्ठितः ।
त्यजेत्तान्यपि सम्प्राप्य परमं पदमात्मनः ॥१२२॥

हिंसा, चोरी, कुशील और परिग्रह का त्याग करके अहिंसा सत्य अचौर्य, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह का धारण ग्रहण करना चाहिये। उच्च साधक महामुनि परम पद को प्राप्त कर उन व्रतों का भी त्याग करे। गृहस्थ के लिये एक ही प्रशस्त मार्ग है, कि वह पाप और संकट के कारणभूत अशुभ प्रवृत्ति का परित्याग कर पुण्य पथ में प्रवृत्ति करे। इस काल में मुनिजन भी पाप प्रवृत्ति का त्याग कर सत्प्रवृत्ति में संलग्न रहते हैं। अशुभ प्रवृत्ति का त्यागकर शुभ प्रवृत्तियों का आश्रय लेना चारित्र है। व्रत, समिति आदि रूप मुनियों की प्रवृत्ति अशुभ रूप से निवृत्ति रूप होती है।

जस्स ण विज्जदि रागो दोसो मोहो व सव्वदव्वेसु ।
णासवदि सुहं असुहं समसुहदुक्खस्स भिक्खुस्स ॥
यस्य न विद्यते रागो द्वेषो मोहो वा सर्व द्रव्येषु ।
नास्रवति शुभमशुभ समसुख दुःखस्य भिक्षो ॥१४२॥

जिन मुनिराज के समस्त पदार्थों में राग द्वेष तथा मोह का भाव नहीं है, उन सुख और दुख में समता भाव धारण करने वाले महामुनि के शुभ और अशुभ कर्मों का आस्रव नहीं होता है।

विशेष चतुर्दशम गुणस्थान में विराजमान सर्वज्ञ अयोगकेवली भगवान के शुभ और अशुभ का आस्रव रहित पूर्ण संवर होता है। तेरहवें गुणस्थान वर्ती केवली के बंधरहित अवस्था नहीं होती। षट्खण्डागम सूत्र में कहा है "केवलाणो बन्धावि अत्थि अबन्धावि अत्थि" इसका भाव यह है कि जो केवलज्ञानी सयोगी हैं उनके साता वेदनीय पुण्य कर्म का योग के कारण आस्रव होता है। कषाय न होने से उस कर्म में स्थितिबन्ध और अनुभाग बन्ध नहीं होता। केवल योग के कारण प्रदेश एवं प्रकृति बन्ध रहे हैं। केवली होते हुए जिन्होंने योगों का क्षय कर दिया है उनके शुभ अशुभ दोनों कर्मों का पूर्णतया संवर पाया जाता है। जब सयोग केवली भगवान के पूर्ण संवर नहीं होता, तब जो चतुर्थ, पंचम गुणस्थान वर्ती गृहस्थ अपने को अबन्धक सोचता है वह महान भूल है। गोम्मट सार जीवकाण्ड में कहा है—

सीलेसिं संपत्तो णिरुद्धणिस्सेसआसवो जीवो ।
कम्मरयविप्पमुक्को गयजोगो केवली होदि ॥६५॥

जिस आत्मा ने अठारह हजार शील के भेदों का स्वामित्व प्राप्त किया है तथा जिसके कर्मों के आने का द्वार रूप आस्रव बन्द हो गया है वह शीघ्र ही समस्त कर्म रज का क्षय करने वाला योग रहित केवली होता है। मोह, राग तथा द्वेष श्रेष्ठ ध्यान में प्रतिबन्धक हैं वृहद्द्रव्य संग्रह में लिखा है—"मोहो मिथ्यात्व,

चारित्रमोहो रागद्वेषौ मन्येते । क्रोध मानद्वयं द्वेषागं माया लोभं रागांग अरति शोकद्वयं भय जुगुप्साद्वय द्वेषागं वेदत्रयं हास्यरतिद्वयं रागांगम् ।"

मोह शब्द मिथ्यात्व का ज्ञापक है। चारित्र मोह को राग द्वेष शब्द द्वारा बोलते हैं। क्रोध और मान ये दोनों द्वेष के अंग हैं माया और लोभ राग मे अन्तर्भूत हैं। रति और शोक तथा भय और जुगुप्सा ये द्वेष के अंग हैं। स्त्री वेद, पुरुष वेद, नपुंसक वेद, हास्य तथा रति राग के अंग हैं। इनके कारण उच्च ध्यान करने मे योगी असमर्थ होता है।

आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं कि पूर्णतया राग-द्वेष तथा मोह रूप विकार रहित साधु के शुभ अशुभ कर्म का आस्रव नही होता है। उनका संवर होता है। "मोह-राग-द्वेष-परिणाम-निरोधो भाव सवर । तन्निमित्त: शुभाशुभ कर्म परिणाम-निरोधो, योगद्वारेण प्रविशता पुद्गलाना द्रव्य सवर: ।"–मोह, राग, द्वेष परिणाम का निरोध भाव सवर है। उनके निमित्त से शुभ, अशुभ कर्म परिणाम निरोध रूप जो परिणति होती है, उससे योग के द्वारा आने वाले पुद्गलों का द्रव्य सवर होता है। जयसेनाचार्य लिखते हैं "अत्र शुभाशुभ सवर-समर्थ: शुद्धोपयोगो भाव सवर·"–यहाँ शुभ एव अशुभ का सवर करने में समर्थ जो शुद्धोपयोग है वह भाव सवर है।

जो गृहस्थ यह सोचता है, मैं सम्यग्दृष्टि हूँ। मेरे राग द्वेष, मोह का अभाव है इसीलिये मेरे पूर्ण सवर है वह यह नही विचारता है, कि अपने को सम्यग्दृष्टि कहने से वह विपरीत श्रद्धावान किस प्रकार सम्यक्त्वी है? खाना पीना मोज उड़ाना और सदाचरण से शून्य व्यक्ति के तो निरन्तर पाप का आस्रव ही विशेष रूप से होगा। अपने को चक्रवर्ती कह भीख माँगने वाले भिक्षुक को कौन चक्रवर्ती मानेगा? शास्त्र मे प्रतिपादित पथ पर चलने वाला व्यक्ति यह श्रद्धान करेगा कि उस के जब तक कर्मों के आस्रव के कारण विद्यमान हैं तब तक वह निर्विकल्प समाधि से पूर्ण रहित होगा। शुद्धोपयोग, निर्विकल्प समाधि दुर्लभ रत्न है।

गृहस्थ के निर्विकल्प समाधि की परिकल्पना अनुचित है। मुनि अवस्था मे भी शुद्धोपयोग से सम्बन्धित निर्विकल्प समाधि को प्राप्त करना सामान्य बात नही है। गृहस्थ के परिग्रही जीवन मे ध्यान की, सामग्री कहाँ सम्भव है। आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान रूप महाव्याधि उसे सदा घेरा करती है। ध्यान की सामग्री के विषय मे लिखा है---

वैराग्य तत्त्वविज्ञान नैर्ग्रन्थ्य समचित्तता।
परीषह–जयश्चेति पञ्चैते ध्यान हेतव. ॥

वैराग्य, तत्त्वों का विज्ञान, निर्ग्रन्थ मुद्रा, समचित्तपना और परीषहजय ये ध्यान के पाँच कारण कहे गये हैं। इनके द्वारा महामुनि निर्विकल्प समाधि की अवस्था को प्राप्त करता है। उस अवस्था में योगी को अपने शरीर का भी भान नहीं रहता। पूज्यपाद स्वामी ने इष्टोपदेश मे लिखा है—

स्वदेहमपि नावैति योगी योग परायण. ॥ ४२ ॥

योग में तत्पर अर्थात् निर्विकल्प समाधि मे निमग्न योगी को अपने शरीर का भी भान नही रहता। ऐसा ध्यान उच्च कोटि के महामुनि का होता है जो शरीर के प्रति ममता रहित हो जाता है। सुकुमाल महामुनि के शरीर को स्यालनी खा रही थी और वे ध्यान से विचलित नहीं हुये थे, उनके निर्विकल्प समाधि का सद्भाव मानना उचित होगा। लौकिक कार्यों मे निमग्न दुर्ध्यान का केन्द्र रहता है। वह विशुद्ध मनोवृत्ति का पूर्णतया अपात्र है।

जस्स जदा खलु पुण्णं जोगे पावं च णत्थि विरदस्स ।
सवरणं तस्स तदा सुहासुह कदस्स कम्मस्स ॥

यस्य यदा खलु पुण्य योगे पाप च नास्ति विरतस्य ।
सवरण तस्य तदा शुभाशुभ-कृतस्य कर्मण. ॥ १४३ ॥

जिस महामुनि के पुण्य और पाप का अर्थात् शुभ परिणाम तथा अशुभ परिणाम का अभाव है, उसके शुभ अशुभ कर्मो का सवर होता है ।

विशेष -अमृतचन्द्र स्वामी लिखते है "शुभाशुभ परिणाम निरोधो भावपुण्यपाप-संवरो, द्रव्य-पुण्यपाप सवरस्य हेतुप्रधानो अवधारणीय "-शुभ अशुभ परिणाम निरोध होने से भाव पुण्य पाप का संवर होता है । उसके द्वारा द्रव्य पुण्य पाप का सवर होता है । आचार्य जयसेन लिखते हैं - यह कथन अयोग केवली गुणस्थान की अपेक्षा किया गया है । उनके शुभ अशुभ सकल्प विकल्प रहित श्रेष्ठ भाव होते हैं ।

अयोग केवली भगवान सर्व आस्रव रहित हो चौथे शुक्लध्यान को अन्तर्मूहूर्त तक धारण करते हैं, इन अयोगी परमेष्ठी के चौदहवे गुणस्थान मे उपान्त्य समय मे बहत्तर और अन्तिम समय मे तेरह प्रकृतियो का नाश होता है । पहले वे त्रेसठ प्रकृतियों का नाशकर सयोग केवली भगवान हुये थे । शेष पच्यासी प्रकृतियो के क्षय का कार्य चौदहवें गुणस्थान मे होता है । सयोग केवली भगवान के एक भी कर्म प्रकृति का क्षय नही होता है । ऐसा धवल ग्रंथ मे लिखा है इसके अनन्तर श्रेष्ठ सवर और निर्जरा के फलस्वरूप सम्पूर्ण कर्म राशि का क्षय हो जाता है । उस समय कर्म क्षय हो जाने से जो सुख प्राप्त होता है उसके लिये ही मुनि जन तपश्चरण करते है । जिस प्रकार वायु से टकराये हुए मेघ शीघ्र ही विलीन हो जाते हैं उसी प्रकार ध्यान रूपी वायु से टकराये हुए कर्म रूपी मेघ शीघ्र ही विलीन हो जाते है । महापुराणकार कहते हैं—

सर्वांगीण विष यद्वन्मन्त्रशक्त्या प्रकृस्यते ।
तद्वत्कर्मविष कृत्स्न ध्यानशक्त्यापसार्यते ॥ २१-२१४ ॥

जिस प्रकार मन्त्र की शक्ति से समस्त शरीर मे व्याप्त विष को खीच लिया जाता है, उसी प्रकार ध्यान की शक्ति से कर्म रूपी विष दूर हटा दिया जाता है । इसीलिये आचार्य कहते हैं "ध्यानाभ्यासे ततो यत्न शश्वत्कार्यो मुमुक्षुभि. (२१५)" मोक्ष का प्रमुख कारण ध्यान है । कहा भी है—

"णाणेण झाणसिद्धि झाणादो सव्वकम्म णिज्जरण ।
णिज्जर फल च मोक्ख णाणब्भासो तदोकुज्जा ॥"

ज्ञान के द्वारा ध्यान की सिद्धि होती है । ध्यान के द्वारा सम्पूर्ण कर्मों की निर्जरा होती है । इसीलिये ज्ञान का अभ्यास करना चाहिये ।

सवर के साथ मे निर्जरा का गहरा सम्बन्ध है; इसीलिये जिन परिणामो से संवर होता है, उनसे निर्जरा भी होती है । मोक्ष के साधक सवर और निर्जरा है । आत्महिताकांक्षी को सद्गुरु उपदेश देते हैं— आत्मन् यदि स्वहित संपादन करना चाहता है तो "कषायोत्पादकंवस्तु त्यजेद्"-कषायोत्पादक सामग्री का परित्याग कर । बाह्य सामग्री का मन पर असर पड़ता है, यही कारण है कि तीर्थंकर भगवान सदृश महान ज्ञानी राज्यादि का परित्यागकर तपोवन की ओर जाते हैं । बड़े-बड़े साधकों की कषायाग्नि छोटा सा निमित्त पाकर प्रज्वलित होकर तपस्या की कमाई को क्षणभर मे भस्म कर देती है । परिग्रह और परिग्रहासक्त

व्यक्तियों के संपर्क से आत्मा का उज्वल प्रकाश पाने में विघ्न होता है। मन में चंचलता उत्पन्न न हो इसलिए आचार्य पूज्यपाद इष्टोपदेश मे कहते हैं—

'इच्छत्येकांतसंवासं निर्जनं' (४०,-योगी जनशून्य एकान्त स्थान मे निवास करने की इच्छा करता है। 'योगी एकान्ते निजात्मनः तत्त्वं अभ्यस्येत्' (३६) योगी एकान्त मे अपनी आत्मा के ध्यान का अभ्यास करे।

संवर-जोगेहिं जुदो तवेहिं जो चिट्ठदे बहुविहेहिं।
कम्माणं णिज्जरणं बहुगाणं कुणदि सो णियदं ॥

सवरयोगाभ्यां युक्तस्तपोभिर्य श्चेष्टते बहुविधैः ।
कर्मणां निर्जरणं बहुकानां करोति स नियत ॥१४४॥

जो शुभ तथा अशुभ भावो के निरोध रूप सवर तथा योग अर्थात् शुद्धोपयोग से युक्त हैं, जो अनेक प्रकार के अनशन आदि बाह्य तप और प्रायश्चित आदि अन्तरग तप का पालन करता है वह बहुत कर्मों की निर्जरा करता है; यह बात निश्चित है।

विशेष—कर्मों के पहाड को नष्ट करने मे तपस्या का विशेष स्थान है। तत्त्वार्थ सूत्र मे कहा है 'तपसा निर्जरा च" तप के द्वारा संवर और निर्जरा होते हैं। सर्वार्थसिद्धि मे लिखा है, दस धर्मों के अन्तर्गत तप के होते हुए भी उसको पृथक् रूप से यहाँ ग्रहण किया गया है। यह इस बात का द्योतक है कि तप सवर का प्रमुख कारण है। तप के द्वारा सवर तथा निर्जरा होती है।

प्रश्न—तप अभ्युदय का अंग है। वह देवेन्द्र आदि उच्च पदो की प्राप्ति का कारण कहा गया है। जो अभ्युदय का कारण है वह निर्जरा का कारण कैसे होगा ?

उत्तर—"एकस्य अनेकार्य-दर्शनात् अग्निवत्" अग्नि के समान एक वस्तु के अनेक कार्य देखे जाते है। जैसे—अग्नि एक है वह भोजन, पाक, भस्म करना, अगार आदि रूप धारण करना आदि प्रयोजन सहित है, उसी प्रकार तप अभ्युदय का हेतु है और कर्म क्षय का हेतु है ऐसा मानने मे क्या विरोध है?"यथाऽग्निरकोऽपि क्लेदन भस्माङ्गारादि प्रयोजन उपलभ्यते तथा तपोभ्युदय-कर्मक्षय-हेतुरित्यत्र को विरोध: (स. सि पेज २७६)"

जैसे एक छत्र छाया प्रदान करता है और पसीने का भी निवारण करता है। एक के द्वारा अनेक कार्य सम्पन्न होते देखे जाते हैं।

प्रश्न—शरीर जड है। उसकी क्रिया व्रत उपवास आदि से आत्मा का क्या भला होगा ?

उत्तर—इस प्रश्न के उत्तर मे हमे तीर्थंकरो के जीवन पर दृष्टि डालनी चाहिये। सभी तीर्थंकरो ने वैभव की सामग्री का परित्याग कर घोर तप किया है। गणधर देव गौतम स्वामी ने कहा है—'वीरस्य घोरं तपः' वीर भगवान ने घोर तप किया था। आदिनाथ तीर्थंकर के छह महिने के उपवास की बात सर्वत्र प्रसिद्ध है। इसीलिये तीर्थंकरों के जीवन से हम बात को समझना चाहिये कि तप को जड शरीर की क्रिया मानकर अनुपयोगी सोचना उचित नहीं है। बाह्य पदार्थ का शरीर पर प्रभाव पडता है उससे आत्मा प्रभावित होती है। तमो गुण प्रधान भोजन करने वाले व्यक्ति मे सात्विक भावों का जागरण नहीं होता। यथार्थ मे उपवास के समय शरीर की सेवा का त्यागकर आत्मा अपने स्वरूप का विचार करने में विशेष क्षमता प्राप्त करता है। स्वामी समन्तभद्र ने लिखा है—

बाह्य तपः परमदुश्चरमाचरस्त्व ।
आध्यत्मिकस्य तपस परिवृंहणार्थम् ॥८३॥

हे कुन्थुनाथ भगवान ! आपने अत्यन्त कठिन उपवास आदि बाह्य तपों का परिपालन किया है, क्योकि इसके द्वारा अध्यात्मिक तप की वृद्धि होती है। योग विद्या से सम्बन्ध रखने वाले व्यक्ति इसका महत्त्व जानते हैं। विवेकी व्यक्ति के द्वारा की गई शरीर की गुलामी का परित्याग आत्मविकास मे कारण है। एक अजैन विद्वान व्यक्ति ने मुझसे पूछा था "कि आप लोग उपवास के दिन भोजन क्यों नही करते ? मैंने कहा था "उपवास का अर्थ Fasting of the body and feasting of the soul is fast शरीर को भोजन न देकर आत्मा को पुण्य विचार रूप मधुर पुष्ट आहार प्रदान करना उपवास है। ससारी आत्मा शरीर से जुदी नही है। निश्चयनय से शरीर और आत्मा पृथक है। व्यवहारनय से शरीर और आत्मा का सम्बन्ध है। शरीर को दुग्धपान कराने पर नशा नही आता किन्तु शराब पी जाने पर वह शराबी बेहोश हो जाता है या मूर्खतापूर्ण प्रलाप करता है। माता को स्त्री कहता है। स्त्री को माता कहता है। एक प्रकार से वह पागल सा बन जाता है। इससे यह बात ज्ञात होती है कि खानपान का अन्तरग पर प्रभाव पडता है। मांस-भक्षण करने वाले के मन पर बुरा प्रभाव पडता है। उपवास को जड शरीर की क्रिया मानने वाला मांस भक्षण मदिरा पान आदि को क्या अस्वीकार करेगा। कुन्दकुन्द स्वामी ने मोक्षपाहुड मे कहा है--

वर वयतवेहि सग्गो मा दुक्ख होउ निरइ इयरेहि ॥२५॥

व्रत और तप के द्वारा स्वर्ग जाना अच्छा है। व्रत उपवास आदि से विमुख व्यक्ति नरक मे दुःख भोगता है। इसीलिये उपवास आदि करना हितप्रद है। उन्होंने यह भी कहा है। "णाणतवेण सजुत्तो लहइ णिव्वाण" ॥५६॥ ज्ञान और तप के द्वारा मुनि निर्वाण को प्राप्त करते हैं---

धुवसिद्धी तित्थयरो चउणाणजुदो करेइ तवयरणं ।
णाऊण ध्रुव कुज्जा तवयरण णाणजुत्तो वि ॥६०॥

जिनका मोक्षगमन निश्चित है, ऐसे तीर्थंकर परमदेव मति, श्रुत अवधि और मन पर्यय ज्ञान युक्त होते हुए भी मासोपवास आदि तप करते हैं इस बात को जानकर ज्ञान युक्त होते हुए भी अनशनादि रूप तपश्चरण करना चाहिये। यदि तपस्या और त्याग का महत्त्व न होता तो तीर्थंकर भगवान परिग्रह का त्याग कर क्यो तपोवन मे जाते ? घर मे रहते हुए मेरी आत्मा अबद्ध है, मै शुद्ध हूँ, मै भगवान हूँ, इत्यादि चिन्तवन से कार्य सिद्ध होता तो भगवान के दीक्षा कल्याण का सद्भाव नही होता। केवल चिन्तन मात्र से कार्य नही होता। क्षायिक सम्यक्त्वी सर्वार्थसिद्धि के महाज्ञानी देव सदा आत्मा का चिन्तवन करते हैं। किन्तु वहाँ से उन्हे मोक्ष नही मिलता इसीलिये वे मनुष्य पर्याय प्राप्ति के लिये सदा उत्कण्ठित रहते हैं।

तप चाहे सुरराय कर्म शिखर को वज्रसम ।
द्वादश विधि सुखदाय क्यो न करे निज सकति सम ॥

खदान से निकला हुआ मलिन सुवर्ण अग्नि आदि का तप सहन करने के बाद उज्जवल रूप को धारण करता है। उस तपस्वी सुवर्ण को सब चाहते हैं इसी प्रकार तप पुनीत जीवन विश्ववंद्य होता है।

जैन ग्रन्थो मे तपस्वी सुकुमाल, सुकोशल, सनतकुमार, पाण्डव आदि की तपस्या का वर्णन आता है। जैनी लोग उन स्थानों को तीर्थ मानकर पूजते है जहाँ तपस्वी मनस्वी आत्माओं ने वासनाओं और विकारों से युद्ध कर कर्मों को परास्त किया है और जहां से मोक्ष प्राप्त किया है तप की अद्भुत महिमा है। राजा

श्रेणिक ने यशोधर मुनि के गले में दुष्ट भाव से मरा सांप डाला था उसके द्वारा जो उनके अत्यन्त मलिन अध्यवसान हुये थे उनके कारण वे आज भी नरक में अपार पीड़ा भोग रहे हैं। सुकोशल महाराज ने मुनि दीक्षा ली, तब उनके प्राणों से अधिक प्यार करने वाली राजमाता सहदेवी को बड़ा दुख हुआ। अपने खोटे ध्यान के कारण वह मरकर व्याघ्री हुई। उसने वन मे ध्यान करते हुए अपने ही पूर्व भव के परम प्रिय पुत्र का भक्षण कर लिया। जहाँ श्रेणिक ने मुनि के गले मे मरा साँप डाला था, वहाँ इस व्याघ्री ने तो मुनि के शरीर का भक्षण ही कर लिया, फिर भी वह व्याघ्री नरक न जाकर स्वर्ग मे गई। इसका कारण विचारने पर प्रतीत होगा कि जब व्याघ्री को उनके पति के जीव महामुनि कीर्तिधर महाराज ने कहा था, अरे तूने अपने बेटे को ही खा लिया जिसके पीछे तू आर्तध्यान में डूबी रहती थी। उस समय व्याघ्री को पूर्व जन्म का स्मरण हो गया। उसने क्रूरता का परित्याग कर शान्त वृत्ति अंगीकार की। अपने पापों को धोने के लिये उसने मरण पर्यन्त उपवास किया। व्याघ्री का उपवास कितनी बड़ी तपस्या है। उस तपरूपी अग्नि मे उसका पाप भस्म हो गया और उस तपजनित विशुद्धि ने उसे नरक में गिरने से बचा लिया। मूलाचार में लिखा है—

> चिरकाल मज्जिद पि य विहुणदि तवसा रयत्ति णाऊण।
> दुविहे तवम्मि णिच्चं भावे दव्वो हवदि अप्पा ॥५८॥ अ. १.

बहुत काल से उपार्जित पाप रूपी रज तप के द्वारा दूर हो जाती है, इस बात को जानकर आत्मा को सदा बाह्य तप और अन्तरंग तप की भावना करनी चाहिये। आचार्य कहते हैं -

> णाणं पयासओ तओ सोधओ संजमो य गुत्तियरो।
> तिण्हं पि य संपजोगे होदि हु जिणसासणे मोक्खो ॥८ अ. ३॥

ज्ञान विवेक रूप प्रकाश प्रदान करता है। तप रूपी अग्नि के द्वारा जीवन विशुद्ध बनता है। संयम आत्मा की रक्षा करता है। ज्ञान, तप और संयम के समागम होने पर मोक्ष मिलता है ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने कहा है। जिन्हें अपने जीवन को निर्मल करना है, उन्हे तपस्या से नही डरना चाहिये।

जीवन क्षणिक है। कौन जाने कब उसे यमराज अपना ग्रास बना ले इसलिये एक क्षण भी असंयम की अवस्था मे नही जाने देना चाहिये। जिन्होंने तप का अभ्यास किया है और जो शरीर के गुलाम नही है, उनकी समाधि सहित मृत्यु होती है। जो डरपोक, कमजोर दिल और दिमाग वाले तप और तपस्वी का तिरस्कार करते हुए शरीर की आज्ञा के अनुसार उसकी सेवा गुलामी मे संलग्न रहते हैं उनका खोटा मरण होता है यह बात प्रत्यक्ष गोचर हुई है। कुमरण के कारण वे नियम से कुगति मे जाते हैं। जब तीर्थंकरों ने तप के महत्त्व का मूल्यांकन किया है तब उनके पाद-पद्म के पुजारियों को उनके मार्ग का अनुसरण करना चाहिये।

> **जो संवरेण जुत्तो अप्पट्ठपसाधगो हि अप्पाणं।**
> **मुनिऊण झादि णियदं णाणं सो संधुणोदि कम्मरयं॥**
> यः संवरेण युक्तः आत्मार्थ प्रसाधको ह्यात्मानं।
> ज्ञात्वा ध्यायति नियतं ज्ञानं स संधुनोति कर्मरजः ॥१४५॥

जो शुभ अशुभ भावों के निरोध रूप श्रेष्ठ संवर भाव से युक्त है तथा स्वहित सम्पादन में आत्मा को लगाये हुये है वह आत्मा का परिज्ञान करके आत्मा का अविचलित ध्यान करता है। वह अपने अविचलित स्वरूप का ध्यान करता है। वह आत्मा कर्म रूपी धूरी को दूर करता है।

विशेष—यहाँ ग्रन्थकार ने संवरयुक्त आत्मा का ध्यान करने वाले मुनि के निर्जरा का कथन किया है। निर्जरा का साक्षात्कारण निर्विकल्प ध्यान है।

प्रश्न—ध्यान से मोक्ष होता है यह बात हमें बड़ी उचित प्रतीत होती है। अतः चारित्र का मोक्ष के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है वह अनावश्यक है।

उत्तर—यह परिकल्पना भूल भरी है। चारित्र का भेद ही ध्यान है। बाह्य और अन्तरंग तप सम्यग्चारित्र के प्राण हैं। अनशन, अवमौदर्य, वृत्ति परिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्त शय्यासन ये छह प्रकार के बाह्य तप हैं। प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्त, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग तथा ध्यान ये अन्तरंग तप के भेद हैं। तत्त्वार्थ सूत्र मे लिखा है—

अनशनावमौदर्य्य-वृत्ति परिसख्यानरसपरित्याग-विविक्त शय्यासन-कायक्लेश बाह्य तपः ॥१९॥
प्रायश्चित्त-विनय-वैयावृत्य-स्वाध्याय-व्युत्सर्ग-ध्याना न्युत्तरम् ॥२०॥

इसलिये ध्यान की सिद्धि के लिये आत्मा को सम्यग्चारित्र रूपी अमृतपान से पुष्ट करना चाहिये। जिस ध्यान के द्वारा कर्मों की महान राशि क्षण भर मे नष्ट हो जाती है उसके लिये गृहवास का त्यागकर पंच समिति, पचमहाव्रत, तीन गुप्ति रूप त्रयोदश रूप चारित्र का परिपालन परम आवश्यक है। योगसार संग्रह मे कहा है—

संसार भीरुभिस्तस्मात् प्राणिभिर्मोक्ष–काङ्क्षिभिः ।
गेहवासः परित्याज्यो धीरैर्ध्यान–प्रसिद्धये ॥ १४ ॥

मोक्षाभिलाषी ससार के दुखो से भयभीत मनोबली व्यक्तियों को ध्यान प्राप्ति के लिये गृह का वास त्याग करना चाहिये। संसार मे रचमात्र भी सुख नही है, परमार्थ दृष्टि से देखा जाये तो अज्ञान के कारण जीव अपने को सुखी एव दुखी सोचता है। तो आत्मज्ञानी मुनि की दृष्टि मे इन्द्रिय जनित सुख एव दुख समान हैं। कहा भी है—

न दु.खं न सुख किंचित् ससारे परमार्थत. ।
वासनावासितो जन्तुः सुख दुःख च मन्यते ॥ २५ ॥

परमार्थ दृष्टि से संसार मे न दु ख है न सुख है। पूर्व वासना के अधीन हो यह जन्तु सुख और दु.ख की कल्पना करता है। पूज्यपाद स्वामी ने लिखा है कि आत्मध्यान मे निमग्न महामुनि बाहरी दुखो के विषय मे तनिक भी ध्यान नही देते। उपसर्ग काल मे जगत के जीव यह कल्पना करते हैं कि इन उपसर्ग प्राप्त मुनिराज को बड़ा कष्ट होता होगा किन्तु यथार्थ बात ऐसी नही है। समाधि शतक मे पूज्यपाद स्वामी ने कहा है—

आत्म–देहान्तर–ज्ञान जनिता ल्हाद निर्वृतः ।
तपसा दुष्कृतं घोर भुजानोऽपि न खिद्यते ॥

आत्मा और शरीर के भेद विज्ञान से उत्पन्न आनन्द का अनुभव करने वाला साधु तप के द्वारा कर्मों के तीव्र उदय से प्राप्त कष्टों को भोगते हुए भी दुखी नही होता है।

ध्यान की अचिन्त्य महिमा है। अयोग केवली भगवान श्रेष्ठ व्युपरत क्रिया निवृत्ति शुक्लध्यान के द्वारा परम निर्वाण को प्राप्त करते हैं। चित्त की एकाग्रता में अद्भुत शक्ति है।

जस्स ण विज्जदि रागो दोसो मोहो व जोगपरिकम्मो ।
तस्स सुहासुह ऽहणो झाणमओ जायए अगणी ।।
यस्य न विद्यते रागो द्वेषो मोहो वा योगपरिकर्म: ।
तस्य शुभाशुभ दहने ध्यानमयो जायते अग्नि: ।। १४६ ।।

जिसके राग द्वेष तथा मोह का अभाव हो गया है तथा मन वचन काय की परिस्पंदन रूप योग की क्रिया नही है, ऐसे योगीश्वर के शुभ और अशुभ कर्मों को भस्म करने वाली ध्यान रूपी अग्नि प्रदीप्त होती है ।

विशेष—आत्मध्यान और तपस्या की सुधी वर्ग ने स्तुति की है । ध्यान के विषय मे आगम में कहा है कि आर्तध्यान ,रौद्रध्यान को त्यागकर धर्मध्यान और शुक्लध्यान का शरण ग्रहण करें । ज्ञानांकुश स्तोत्र में कहा है—

नास्ति ध्यानसमो बधु:, नास्ति ध्यानसमो गुरु: ।
नास्ति ध्यानसम मित्रं, नास्ति ध्यानसम तप. ।।२५।।

ध्यान के समान कोई बधु नही है । ध्यान के समान कोई गुरु नही है । ध्यान के समान मित्र कोई नहीं है तथा ध्यान के समान कोई तप नही है ।

श्रूयते ध्यान योगेन, संप्राप्तं पदमव्ययम् ।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन, कुर्याद् ध्यान बुधोत्तम: ।।२७।।

ध्यान के योग से अविनाशी निर्वाणपद की प्राप्ति का कथन सुना जाता है इसलिए ज्ञानवान पुरुष को ध्यान के लिए सर्व प्रकार से प्रयत्न करना चाहिए । चित्रवृत्ति को एकाग्र बनाने पर ध्यान होता है । एकाग्रता हीन चित्तवृत्ति प्रायः शक्तिशून्य रहती है और यदि वह एकाग्र हो गई तो अंतर्मूहर्त मे सम्पूर्ण कर्मों का क्षय कर सकती है । यथार्थ में मन की चचलता ही आत्म विकास मे रोधक है । जिन्होंने मनरूपी बदर को अपने नियंत्रण मे कर लिया है, वे व्यक्ति इस जगत मे बिरले है ।

मन सब पर असवार है मन के मते अनेक ।
जे मन पर असवार हैं वे लाखन में एक ।।

जैसे विकेन्द्रित सूर्य की किरणें सामान्य उष्णता युक्त रहती हैं और वे ही जब लेंस के द्वारा केंद्रित होती हैं तो वे किरणे दाहक शक्ति संपन्न हो जाती हैं । मन को केंद्रित करने के लिए ज्ञान वैराग्य तपश्चर्या आदि की परम आवश्यकता है । जिस ध्यान करने की आदत जीव की अनादिकाल से चली आ रही है, उस ध्यान को आर्त्तध्यान रौद्रध्यान कहते हैं । उस दुर्ध्यान के लिए कोई प्रयत्न नही करना पडता । महापुराण में कहा है—

प्रयत्नेन विनैवैतद् असद्ध्यानद्वयं भवेत् ।
अनादिवासनोद् भूत अनस्तद्विसृजेन्मुनि: ।। ५४ ।। पर्व २१ ।।

अनादिकाल की वासना से उत्पन्न होने वाले आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान बिना प्रयत्न के हो जाते हैं अतः मुनियों को इन दुर्ध्यानों का परित्याग करना चाहिए ।

ज्ञानार्णव मे लिखा है—

अविक्षिप्त यदाचेतः स्वतत्त्वाभिमुखं भवेत् ।
मुनेस्तदैव निर्विघ्ना ध्यान सिद्धि रुदाहृता ॥ सर्ग २८ श्लोक १६ ॥

जिस समय मुनि का चित्त क्षोभ रहित हो आत्म स्वरूप के अभिमुख होता है, उस समय बिना विघ्न के ध्यान की सिद्धि होती है। आत्म विकास का मूल मन को नियंत्रित करना है।

ध्यान को अग्नि कहा है। जिस प्रकार अग्नि मे डाला गया किट्ट कालिमा सहित स्वर्ण पाषाण अग्नि के संताप से शुद्ध हो जाता है, उसी प्रकार ध्यान रूपी अग्नि द्वारा आत्मा की चिरसंचित मलिनता अल्पकाल में क्षय को प्राप्त होती है।

राग द्वेष तथा मोह का क्षय करके जब योगी योगों का निरोध करता है तब उस ध्यान रूपी अग्नि में पुण्य और पाप दोनो भस्म होते हैं। जो राग और द्वेष तथा मोह से आक्रांत है, वह व्यक्ति नहीं कर सकता। उसका मन कुम्भकार के चक्र के समान विश्व मे चक्कर लगाता है। प्राथमिक अवस्था में पंचपरमेष्ठी का शरण रूप ध्यान हितकारी है। तत्त्वानुशासन में कहा है—

निश्चयाद व्यवहाराच्च ध्यान द्विविधमागमे ।
स्वरूपालंबन पूर्वं परालंबनमुत्तरं ॥६६॥

आगम में निश्चय और व्यवहार के भेद से दो प्रकार का ध्यान कहा है। आत्मा को आलम्बन लेकर जो ध्यान होता है, वह निश्चय ध्यान है और जो आत्मा के सिवाय जिनबिम्ब आदि अन्य पदार्थों का आलम्बन लेकर होता है, वह व्यवहार ध्यान है। ध्यान के विषय मे गुरूपदेश को भी उपयोगी बताया है। क्योंकि उनके मार्ग दर्शन मे यह जीव अपने कार्य मे सफलता प्राप्त कर लेता है।

कार्तिकेयानुप्रेक्षा मे आत्मस्वरूप का चिंतवन कल्याणकारी कहा है। जिनेन्द्र भगवान का अवलम्बन अथवा नमस्कार मन्त्र आदि का चिंतवन जीव के लिए उपयोगी माना है। पंचपरमेष्ठी का स्मरण भी अद्भुत शक्ति और क्षमता सम्पन्न है। पंचनमस्कार मंत्र को 'केवलज्ञान मंत्रम्' केवलज्ञान प्रदाता मंत्र कहा है।

यहाँ इस गाथा मे जिस ध्यानाग्नि का उल्लेख किया है वह धर्मध्यान रूप अग्नि नहीं है। वह शुक्ल ध्यान रूपी अग्नि है जिसमे शुभ और अशुभ कर्म रूप ईंधन भस्म हो जाता है। कर्मों के नाश के लिए तपोग्नि को भी महत्त्व प्रदान किया है। स्वामी समतभद्र ने भगवान धर्मनाथ तीर्थंकर की स्तुति मे कहा है—भगवन ! आपने तपोग्नि द्वारा अर्थात् ध्यान रूपी अग्नि के द्वारा कर्म रूपी वन को दग्ध कर दिया है।

"कर्म–कक्ष–मदहत्तपोग्निभि." ॥७१॥—तपोग्नि के द्वारा जिनेन्द्र ने कर्मों का नाश कर 'शर्म शाश्वतमवाप' अविनाशी सुख को प्राप्त किया है।

आत्मा मे चंचलता और मलिनता उत्पन्न करने वाली परिग्रहादि सामग्री का परित्याग परम आवश्यक है। दिगम्बर पद को प्राप्त अन्तरंग बहिरंग परिग्रह से रहित मुनीश्वरों को ध्यान होता है। वास्तव में मोक्ष का साक्षात कारण ध्यान है और ध्यान में सहायक ज्ञान है। कुंदकुंद स्वामी ने कहा है, ज्ञान के द्वारा ध्यान होता है ध्यान के द्वारा कर्मों की निर्जरा होती है उस निर्जरा के फलस्वरूप मोक्ष की प्राप्ति होती है।

जं सुहमसुहमुदिण्ण भावं रत्तो करेदि जदि अप्पा ।
सो तेण हवदि बंधो पोग्गल कम्मेण विविहेण ॥
यं शुभाशुभमुदीर्णं भावं रक्तः करोति यद्यात्मा ।
स तेन भवति बद्धः पुद्गल कर्मणा विविधेन ॥१४७॥

जो आत्मा रागी द्वेषी होकर कर्मोदय वश शुभ व अशुभ कर्मों को करता है वह नाना प्रकार के पुद्गलकर्मों के द्वारा बन्ध को प्राप्त होता है।

विशेष—आगम की देशना है कि भव का बीज रागभाव है। रागी जीव यदि शुभ भाव करता है, तो पुण्य कर्म का बंध होता है और यदि अशुभ अध्यवसान को करता है, तो पाप का बंध होता है। कुंदकुंद स्वामी ने समयसार में कहा है—कोई पुरुष अपने शरीर मे तेल लगाकर विविध प्रकार के व्यायाम कार्य करता है, तब धूलि उड़कर शरीर में चिपक जाती है, इसी प्रकार रागादि भाव युक्त जीव के कर्मों का बंध होता है। यह राग भाव सूक्ष्म सापराय नाम के दशम गुण स्थान मे विद्यमान रहता है, इससे वह शुद्धोपयोगी, शुक्ल ध्यानी महायोगी भी रागादि विकार विरहित आत्मा का अनुभव नहीं कर पाता। ऐसा योगी सर्व आगम रूप महोदधि का ज्ञाता होते हुए सूक्ष्म लोभ का सद्भाव रहने से विशुद्ध चित् चमत्कार रूप चिदानंदमयी आत्मा का अनुभव करने में असमर्थ होता है। समयसार में कहा है—

परमाणुमित्तयं पि हु रायादिण दु विज्जदे जस्स ।
ण वि सो जाणदि अप्पाणयं तु सव्वागम धरोवि ॥२०१॥

जिसके परमाणु प्रमाण भी रागादि का सद्भाव है, वह सर्वागम का ज्ञाता होते हुए भी आत्मा अर्थात् शुद्ध आत्मा को नही जानता है।

प्रश्न— हम तो यह मानते हैं कि चतुर्थ गुण स्थान वाला अविरत सम्यक्त्वी शुद्ध आत्मा का अनुभव करता है। वह निर्विकल्प समाधि का रसपान करता है।

उत्तर—यह परिकल्पना उचित नहीं है। अविरत सम्यग्दृष्टि के जिनागम की श्रद्धा रहती है। जीव काण्ड मे लिखा है कि, अविरत सम्यग्दृष्टि जिनेन्द्र भगवान के वचनों में श्रद्धा धारण करता है।

णो इंदिय सु विरदो णो जीवे थावरे तसे वापि ।
जो सद्दहदि जिणुत्तम सम्मादिट्ठो अविरदो सो ॥२९॥

जिसके इंद्रियों की विरति नही है, जो स्थावर तथा त्रस जीवो की हिंसा का भी त्यागी नही है किन्तु जो जिनेन्द्र के वचनों पर श्रद्धान करता है वह अविरत सम्यक्त्वी है।

नियमसार में कुंदकुंद स्वामी ने श्रद्धान को सम्यक्त्व कहा है -

अत्तागम-तच्चाण सद्दहणादो हवई सम्मत्तं ॥५॥

आप्त आगम तथा तत्वों का श्रद्धान करने से सम्यक्त्व होता है। मोक्ष पाहुड में भी श्रद्धान को सम्यक्त्व इन शब्दो में कहा है

हिंसा रहिए धम्मे अट्ठारहदोसवज्जिए देवे ।
णिग्गंथे पावयणे सद्दहणं होदिसम्मत्तं ॥९०॥

हिंसा रहित धर्म, क्षुधादि दोष रहित देव निर्ग्रंथ गुरु और जिनवाणी में श्रद्धान करना सम्यक्त्व है। अविरत गुण स्थान में आत्म प्रकाश की उपलब्धि नहीं होती। प्रवचनसार की टीका में (गाथा नं २५४) अमृतचंद्र सूरि ने लिखा है—

"गृहिणां तु समस्त विरतेरभावेन शुद्धात्म-प्रकाशन-स्याभावात् कषाय-सद्भावात्"—गृहस्थों के सकल संयम का सद्भाव न रहने से तथा कषाय का सद्भाव होने से शुद्ध आत्मा के अनुभवन का अभाव है।

इस प्रकार में यदि कोई गृहस्थ यह कहता है कि मै शुद्धात्मानुभूति के सरोवर में डुबकी लगाकर आत्मानन्द का अमृतपान करता हूँ और मेरे शुभ तथा अशुभ उपयोग का अभाव हो जाता है और मै उस समय शुद्धोपयोगी हो जाता हूँ, तो उसका कथन उस भिक्षुक के सदृश है, जो जगह-जगह भीख मांगता हुआ यह कहता है कि मै स्वप्न मे राजा बन गया था इस कारण मुझे अभी भी राजा मानों। आत्मा का अमृत रसपान करने वाला विषय भोग से विरक्त रहता है वह इंद्रियों का दास नही है। इंद्रियाँ उसके वश मे रहती हैं।

इष्टोपदेश में पूज्यपाद स्वामी ने मार्मिक बात लिखी है—

यथा यथा समायाति संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम् ।
तथा तथा न रोचते विषयाः सुलभा अपि ॥३७॥

जैसे-जैसे ज्ञान मे विशद्ध आत्म तत्त्व आता है, वैसे-वैसे सुलभता से प्राप्त हुए भी इंद्रियों के विषय रुचिकर नही लगते। इस विवेचन के प्रकाश मे विषयो मे फँसे हुए त्याग विहीन व्यक्ति के शुद्धात्मानुभूति की परिकल्पना अयोग्य है।

रागी के बध होता है इसका खुलासा यह है कि क्रोध मान माया तीन रूप कषाय वाला व्यक्ति बध करता है। उस क्रोध, मान, माया, लोभ के अनतानुबधी अप्रत्याख्यानावरण प्रत्याख्यानावरण और सज्वलन ये भेद हैं। जिसके अनतानुबंधी का उदय नही है वह अन्य कषायो का उदय रहने से बधन-बद्ध होता है। इस राग का सूक्ष्म अश सूक्ष्म लोभ जिन शुद्धोपयोगी शुक्लध्यानी महामुनि के पाया जाता है, उनके भी शुद्धात्मा की अनुभूति नही होती। शुद्धात्मानुभूति कहने मात्र से उसकी प्राप्ति नही होती। उसकी पात्रता कषाय रहित यथाख्यात संयमी के होती है। इस बात को ध्यान मे रखते हुए यह मानना होगा कि इस पचमकाल में शुद्धात्मा का परिज्ञान करने वाला व्यक्ति नही है। क्योंकि सातवे गुणस्थान तक ही आत्मा पहुँच पाता है। वह स्वस्थान अप्रमत्त होता है। अब सातिशय अप्रमत्त भी नही होता है।

राग भाव के होने पर जीव पुद्गल कर्मों से बन्धन को प्राप्त होता है। इन राग-द्वेषो तथा मिथ्यात्व के विषय मे ज्ञानार्णव मे लिखा है—

रागद्वेषौ समत्वेन निर्ममत्वेन वाऽनिशम् ।
मिथ्यात्व दृष्टियोगेन निराकुर्वन्ति योगिनः ॥ (सर्ग २-७)

योगी लोग समता भाव अथवा निर्ममत्व भाव के द्वारा राग द्वेष का निराकरण करते हैं। सम्यग्दर्शन योग से मिथ्यात्व अर्थात् दर्शन मोह को दूर करते हैं।

आत्मा के शत्रु क्रोध, मान, माया, लोभ है। उनके भी शत्रु ज्ञानार्णव मे इस प्रकार कहे हैं—

क्षमा क्रोधस्य मानस्य मार्दवं त्वार्जवं पुनः।
मायायाः सङ्गसन्यासो लोभस्यैते द्विषः क्रमात् ॥६॥

क्रोध कषाय का शत्रु क्षमा भाव है अर्थात् क्षमा परिणाम के द्वारा क्रोध का नाश होता है। मान कषाय का शत्रु मार्दव भाव है। मार्दव भाव के द्वारा मान कषाय नष्ट होता है। माया कषाय का शत्रु आर्जव भाव है। उसके होने पर माया कषाय दूर होती है। लोभ कषाय का शत्रु संगसन्यास अर्थात् परिग्रह परित्याग है, क्योंकि इसके द्वारा लोभ पर विजय की जाती है। ससारी आत्मा क्रोध, मान, माया, लोभ आदि

के निमित्त से बन्धन की अवस्था को प्राप्त करते हैं। बुद्धिमान व्यक्ति को भी गुरु सचेत करते हैं, कि राग-द्वेष मोह के कारण तू अब तक संसार में परिभ्रमण करता रहा। अब मोह-निद्रा का त्याग कर। आचार्य कहते हैं -

हृषीकार्य – समुत्पन्ने प्रतिक्षण-विनश्वरे ।
सुखे कृत्वा रतिं मूढ विनष्टं भुवनत्रयं ॥८॥

हे अज्ञानी आत्मन्! प्रतिक्षण विनाशशील इन्द्रिय जन्य सुख में प्रीति करके तीन लोक के जीव कष्ट पा रहे हैं दुखी हो रहे हैं। इस तत्त्व को अपने ध्यान में ला और सन्मार्ग में लग। रागादि का विनाश करने के लिये विषयसुख की लालसा को छोडकर तप के मार्ग का पथिक बन। उसके द्वारा तेरी आत्मा विशुद्धता को प्राप्त होगी।

जा धादू धम्मतो सुज्झदि सो अग्गिणा दु सतंत्तो।
तवसा तहा विसुज्झदि जीवो कम्मेहिं कणयं व ॥५६॥ मू. १

जैसे अग्नि के द्वारा संतप्त की गई धातु शुद्धता को प्राप्त होती है इसी प्रकार यह जीव तप के द्वारा कर्म कलंक से मुक्त हो जाता है। जिस प्रकार सुवर्ण अग्नि द्वारा शुद्धि को प्राप्त होता है।

जोगणिमित्तं गहणं जोगो मण-वयण-काय-संभूदो ।
भावणिमित्तो बंधो भावो रदि-राग-दोस-मोहजुदो ॥

योग निमित्तं ग्रहणं योगो मनोवचम काय संभूतः ।
भाव निमित्तो बंधो भावो रति-राग-द्वेष-मोह-युतः ॥१४८॥

योग के निमित्त से जीव के प्रदेशो मे कर्म स्कन्धो का प्रवेश होता है। वह योग मन, वचन काय की क्रिया से उत्पन्न होता है। जीव का कर्मों के साथ बन्ध, रति, राग, द्वेष, मोह के द्वारा होता है।

विशेष—रति, राग, द्वेष, मोह का जयसेन आचार्य ने इस प्रकार खुलासा किया है। रति शब्द के द्वारा हास्य को भी ग्रहण किया है। राग, माया और लोभ का ज्ञापक है। द्वेष, क्रोध, मान, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा का ज्ञापक है। मोह शब्द से दर्शन मोह को ग्रहण किया है। चार प्रकार का बन्ध आगम में कहा है। ये प्रकृति बन्ध, प्रदेश बन्ध, स्थिति बन्ध और अनुभाग बन्ध चार बन्ध हैं। योग के द्वारा प्रकृति, प्रदेश बन्ध होते हैं और कषाय से स्थिति और अनुभाग बन्ध होते हैं। भाव सग्रह मे देवसेन आचार्य कहते हैं–

आसवइ जं तु कम्मं मणवयकाएहिं राय-दोसेहिं ।
तं संवरइ णिरत्तं तिगुत्तिगुत्तो णिरालंबो ॥३२१॥

मन वचन काय की क्रिया से जो कर्मों का आस्रव होता है और राग द्वेष के द्वारा वह आत्मा के साथ बन्ध को प्राप्त होता है उसे तीन गुप्ति से युक्त बाह्य आलम्बन रहित विरक्त योगी आत्मा से सम्बन्ध होने से रोकता है। आचार्य कहते हैं– जब तक तेरे संकल्प विकल्प होते रहेंगे तब तक शुभ-अशुभ कर्मों का आगमन नियम से होगा। शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करने पर कर्मों का आगमन रुक जाता है।

हेदू चदुव्विप्पो अट्ठवियप्पस्स कारणं भणिदं ।
तेसिं पि य रागादी तेसिमभावे ण बज्झंति ।।१४९।।

हेतुश्चतुर्विकल्पोऽष्टविकल्पस्य कारणं भणितम् ।
तेषामपि च रागादयस्तेषामभावे न बध्यन्ते ।।१४९।।

मिथ्यात्व, असंयम, कषाय तथा योग ये चार कारण ज्ञानावरणादि अष्टकर्मों के बन्ध के हेतु कहे गये हैं। इनके कारण जीव के रागादिका परिणाम हैं। रागादिका अभाव है तो जीव के कर्म बन्ध नहीं होगा।

विशेष— चतुर्विधि बन्ध के कारण आठ प्रकार के कर्मों का बन्ध होता है। यदि रागादि का अभाव हो गया, तो स्थिति और अनुभाग बन्ध नहीं होता। रागादि रहित यथाख्यात चारित्रयुक्त मुनि के योग के कारण आगत कर्मों मे केवल प्रकृति और प्रदेश बन्ध होता है।

बन्ध के विषय मे भाव संग्रह में लिखा है—

अत्थि हु अणाइभूवो बंधो जीवस्स विविहकम्मेण।
तस्सोदएण जायइ भावो पुण राय-होषमओ ।।३२६।।

जीव का अनेक कर्मों के साथ अनादिकाल से बंध चला आ रहा है। उसके उदय से राग द्वेष मय परिणाम पुनः होते हैं। अर्थात् कर्मोदय के होने पर राग द्वेष रूप संसार परिभ्रमण के कारण परिणाम होते हैं।

भावेण तेण पुणरवि अण्णे बहु पुग्गला हु लग्गति ।
जह तुप्पियग (प) त्तस्स य णिविडा रेणुव्व लग्गति ।।३२७।।

कर्मोदय से जो राग द्वेष होते हैं उनके कारण पुनः अन्य पुद्गल कर्म आकर आत्मा के साथ एक क्षेत्रावगाह रूप हो जाते हैं जैसे घी के बर्तन में धूल चिपट जाती है।

इस विषय मे यह भी ज्ञातव्य है कि एक समय मे बांधा कर्म आयु कर्म को छोड सात कर्म रूप परिणमन करता है। और आगामी आयु का बंध पूर्व बंधी आयु के त्रिभाग शेष रहने पर होता है। भुज्यमान आयु के दो शेष भाग व्यतीत होने का शेष भाग पर प्रथम अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त प्रथम अपकर्ष का काल कहा गया है। इस समय पर भव सम्बन्धी आयु का बन्ध होता है। यदि नहीं हुआ, तो आगामी अपकर्ष मे परभव की आयु का बन्ध होगा। ऐसे आठ अपकर्षों मे यदि बन्ध नहीं हुआ तो भुज्यमान आयु के अन्त मे अवश्य बन्ध होता है। इस कारण ज्ञानावरणादि सात कर्मों का निरन्तर बन्ध होता है ऐसी बात आयु के संबंध मे नहीं है।

यहां यह बात ध्यान देने की है कि इस ग्रन्थ मे बन्ध का कारण रति, राग, द्वेष और मोह को कहा है। अनुप्रेक्षा नाम की रचना मे कुंदकुंद स्वामी ने मिथ्यात्व अविरत कषाय और योग को कर्मों के आगमन का द्वार कहा है।

मिच्छत्तं अविरमण कसायजोगा य आसवा होंति ।
पणपण चउतियभेदा सम्मं परिकित्तिदा समए ।।४७।।

मिथ्यात्व, अविरमण, कषाय और योग ये आस्रव हैं। मिथ्यात्व के पांच भेद, अविरमण के पांच भेद कषाय के चार भेद तथा योग के तीन भेद ये आगम मे भली प्रकार कहे गए हैं।

अमृतचन्द्र स्वामी कहते हैं— कि अन्य ग्रन्थों में मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योग ये बन्ध के चार कारण है उन मिथ्यात्व आदि का बन्ध रागादि से होता है। रागादि के अभाव में द्रव्य मिथ्यात्व असंयम

कषाय और योग का सद्भाव होते हुए भी बन्ध नहीं होता, इसीलिये रागादिक को बन्ध का हेतु निश्चय दृष्टि से जानना चाहिये ।

हेदुमभावे णियमा जायदि णाणिस्स आसवणिरोधो ।
आसव भावेण विणा जायदि कम्मस्स दु णिरोधो ।।१५०।।
कम्मस्साभावेण य सव्वण्हू सव्वलोग दरसी य ।
पावदि इंदियरहिदं अव्वाबाहं सुहमणंतं ।।१५१।।

हेत्वभावे नियमाज्जायते ज्ञानिनः आस्रवनिरोधः ।
आस्रव भावेन विना जायते कर्मणस्तु निरोधः ।।१५०।।
कर्मणामभावेन च सर्वज्ञ. सर्वलोकदर्शी च ।
प्राप्नोतीन्द्रियरहित मव्याबाधं मुखमनन्तं ।।१५१।।

आस्रव के कारणो का अभाव होने पर ज्ञानी जीव के आस्रव का निरोध होता है और कर्मों का आस्रव न रहने से उस आत्मा के सर्वज्ञता सर्वदर्शिता तथा अतीन्द्रिय अव्याबाध और अनन्त सुख की प्राप्ति होती है ।

विशेष– मोहनीय कर्म का सर्वप्रथम क्षय होता है । उस अवस्था मे क्षीण कषाय गुणस्थान प्राप्त होता है । मोहनीय कर्म आत्मा का बड़ा शत्रु है । इसीलिये बारहवे गुणस्थान मे आत्मा मोहनीय का नाश करने के कारण अरिहत पद को प्राप्त करता है इसके पश्चात् ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय का क्षय करके वे योगीश्वर तेरहवे गुणस्थान को प्राप्त करते हैं, तब देवेन्द्र आदि आकर केवलज्ञान कल्याण की पूजा करते हैं। उस समय वे अरिहन्त के स्थान मे अरहन्त बन जाते हैं । उसी समय तीर्थंकर नाम की पुण्य प्रकृति का उदय तीर्थंकर भगवान के होता है जिसके कारण जीवो को मोक्षमार्ग की दिव्य देशना दिव्य-ध्वनि के माध्यम से प्राप्त होती है । बारहवे गुणस्थान तक मुनिराज ससारी थे । तेरहवे गुणस्थान मे वे नो संसारी (ईषत् ससारी) कहे गये हैं । सिद्धो को असंसारी कहा गया । है अयोग केवली को ससारी, असंसारी, नो ससारी रूप तीन भेदों से रहित बताया है । राजवार्तिक में लिखा है 'चतुर्विधश्चात्मा'– संसारः असंसार. नो संसारः तत् त्रितय व्यपायश्चेति, तत्र ससाश्चतसृषु गतिषु नानायोनि-विकल्पासु-परिभ्रमणम् । अनागतिरसंसार· शिव-पदपरमामृत-सुख-प्रतिष्ठा, नोससार. सयोगकेवलिन. चतुर्गतिभ्रमणाभावात्, असंसार , प्राप्त्यभावाच्च ईषत् संसार· नोसंसारः इति अयोगकेवलिन. तत्त्रितयव्यपाय. । तत्र भ्रमणाभावात् सयोग केवलिवत् ।" (३२७ अ ६ सू ७)

आठों कर्मों के क्षय होने पर अव्याबाध, अचिन्त्य, अतुल तथ्य अविनाशी सुख की प्राप्ति होती है ।

दसंण–णाण–समग्गं झाणं णो अण्णदव्वसंजुत्त ।
जायदि णिज्जरहेदू सभावसहिदस्स साधुस्स ।।
दर्शन-ज्ञान-समग्रं ध्यान नो अन्यद्रव्यसंयुक्त ।
जायते निर्जरा हेतुः स्वभाव सहितस्य साधोः ।।१५२।।

निज स्वभाव मे स्थित मुनीश्वर के अनन्त दर्शन अनन्त ज्ञान होता है। उनका ध्यान अन्य द्रव्य संयुक्त नही होता। अपने स्वभाव मे स्थित मुनीश्वर का ध्यान कर्मों की निर्जरा का कारण होता है।

विशेष– अनन्त चतुष्टय युक्त केवली भगवान का ध्यान कर्मों के क्षय का कारण कहा है। घातिया चतुष्टय का नाश कर पूर्ण ज्ञान और दर्शन प्राप्त होता है। वे सयोग जिन अयोगी जिन होकर आयु, नाम, गोत्र तथा वेदनीय इन चार अघातियो कर्मों को शुक्ल ध्यानाग्नि मे भस्म करके नित्य, निरजन, निर्विकार सिद्ध परमात्मा होते हैं।

भाव सग्रह मे मोक्ष के दो भेद किए है। एक देश मोक्ष अर्हन्त भगवान के होता है तथा सर्व मोक्ष सिद्धो के कहा है -

सो पुण दुविहो भणियो एक्कदेसो य सव्वमोक्खो च।
देसो चउघाइखए सव्वो णिस्सेण-णासम्मि ।३६७।।

वह मोक्ष दो प्रकार का है। घातिया चतुष्टय के क्षय होने पर एक देश मोक्ष होता है। सर्व कर्म क्षय होने पर सर्व मोक्ष होता है।

यह बात ध्यान देने की है कि चार घातिया के क्षय से केवली होते हैं। उनके सिद्ध पद को प्राप्त करने को शेष चार अघातिया का क्षय होता है। एक देश मोक्ष प्राप्त अर्हन्त चार अघातिया का क्षय कर सिद्ध होते है। वे आठ कर्मों का क्षय नही करते हैं। अरहन्त पद प्राप्ति काल मे उनके चार घातिया नष्ट होते हैं। शेष अघातिया चतुष्टय का क्षय करके वे सिद्ध परमात्मा होते हैं।

जो संवरेणजुत्तो णिज्जरमाणोध सव्वकम्माणि ।
ववगद-वेदाउस्सो मुयदि भवं तेण सो मोक्खो ।।

य संवरेणयुक्तो निर्जरयन्नथ सर्वकर्माणि ।
व्यपगतवेदायुष्को मुञ्चति तेन स मोक्षः ।।१५३।।

जो पूर्ण सवर युक्त होता हुआ तथा सर्व कर्मो की निर्जरा करता हुआ आयु, वेदनीय, नाम, गोत्र का क्षय करता है वह मोक्ष को प्राप्त करता है।

विशेष–अयोगी जिनके योग का निरोध होने से पूर्णतया संवर हो जाता है। उस समय अघातिया कर्मों की पचासी प्रकृति बच जाती है। वे उनकी निर्जरा शुक्ल ध्यान द्वारा करते है। अब क्षय योग्य सामग्री का अभाव रहने से कर्मो से मोक्ष हो जाता है और वह सकल परमात्मा निकल परमात्मा बन जाता है।

द्रव्य सग्रह मे कहा है—

सव्वस्स कम्मणस्स खयहेदू अप्पणोहु परिणामो ।
णेयो स भावमोक्खो दव्वविमोक्खो य कम्मपुहभावो ।।

सर्व कर्मो के क्षय का कारण आत्मा का परिणाम भाव मोक्ष कहा है। आत्मा से कर्मों का पृथक हो जाना द्रव्य मोक्ष है।

पूज्यपाद स्वामी ने निजस्वरूप की उपलब्धि को मोक्ष संज्ञा प्रदान की है। उन्होंने कहा है—

यस्य स्वयं स्वभावाप्तिरभावे कृतस्नकर्मण. ।
तस्मै संज्ञानरूपाय नमोस्तु परमात्मने ।।

जिनके समस्त कर्मों का क्षय हो जाने से आत्म स्वरूप की प्राप्ति हुई है, उन सम्यग्ज्ञान स्वरूप परमात्मा को नमस्कार हो। कर्मों के क्षय द्वारा मोक्ष प्राप्त होता है। कोई आँख बन्द करके यह सोचे तथा कहे, कि मैं सिद्ध भगवान बन गया हूँ, तो ऐसी परिकल्पना अविवेकपूर्ण है। सिद्ध भगवान अशरीरी हैं। अतः सशरीर व्यक्ति की उपरोक्त धारणा सर्वथा मिथ्या है।

जीवसहावंणाणं अप्पडिहद-दंसणं अणण्णमयं ।
चरियं तेसु णियदं अत्थित्त-मणिंदियं भणितं ।।
जीवस्वभावंज्ञानमप्रतिहत-दर्शन-मनन्यमयम् ।
चारित्रं च तयो नियतमास्तित्व मनिन्दित भणितम् ।।१५४।।

जीव का स्वभाव ज्ञान तथा अप्रतिहत दर्शन है। उसके स्वभाव रूप केवलज्ञान तथा केवलदर्शन अन्य रूप नहीं है। वे जीव से अभिन्न हैं। चारित्र भी जीव का निश्चित स्वभाव है। ज्ञान और दर्शन को उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्य युक्त होने से सद्भाव रूप कहा है। राग-द्वेष आदि पर परणतिका अभाव हो जाने से जो अनिन्दित चारित्र है, वह मोक्षमार्ग है। स्वरूप मे आचरण करना चारित्र है।

विशेष यहाँ जीव के स्वभाव मे चारित्र ज्ञान और दर्शन रत्नत्रय की परिगणना की गई है। चारित्र को अनिन्दित कहा है कारण वह रागादि परिणति से रहित है। रागादि से रहित चारित्र मोक्ष का मार्ग है। चारित्र के दो भेद कहे है (१) स्वचारित्र (२) परचरित्र। अपने स्वरूप मे आचरण करना स्वचरित्र है। परभाव रूप परिणमन करना परचारित्र है। मिथ्यात्व और राग, द्वेष आदि मे संलग्न होने से मेरा अनन्त काल चला गया, ऐसा जानकर जीव स्वभाव रूप चारित्र को मोक्ष का कारण रूप जानकर उसकी भावना करना चाहिये।

जैसे सिद्धो मे सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शन पाया जाता है, इस प्रकार उनमे सम्यक्चारित्र का भी सद्भाव माना है। दशभक्ति पाठ मे सिद्ध भक्ति करते हुए साधु गण यह पाठ पढ़ते हैं 'इच्छामि भन्ते सिद्ध भत्ति सम्मणाण, सम्मदंसण, सम्मचारित्तजुत्ताण अट्ठविह कम्म-विप्पमुक्काण अट्ठगुण संपण्णाण उड्ढलोय-मत्थयम्मि पइट्ठियाण तवसिद्धाण णयसिद्धाण सजमसिद्धाण अतीताणागद-वट्टमाण कालत्तय सिद्धाण, सव्व सिद्धाण सयाणिच्चकाल अच्चेमि, वदामि, पूजेमि, णमसामि"— इस चारित्र भक्ति में भूत, भविष्य, वर्तमान सिद्ध भगवान को सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, सम्यग्दर्शन युक्त कहा है

तत्त्वार्थसार मे अमृतचन्द्र सूरि ने लिखा है—

दर्शनज्ञानचारित्रगुणानां य इहाश्रयः ।
दर्शनज्ञानचारित्र त्रय मात्मैव स स्मृतः ।।१६।।

जो दर्शन, ज्ञान, चारित्र गुणों का आश्रय है, वह दर्शनज्ञान चारित्र त्रय युक्त आत्मा ही है। सिद्धो के आठ गुणों मे चारित्र गुण का कथन नहीं है। इसका कारण यह है कि उनमें आठ कर्मों के अभाव से उत्पन्न होने वाले गुणों को गिनाया गया है। ज्ञानावरण के क्षय से केवलज्ञान, दर्शनावरण के क्षय से केवल दर्शन, वेदनीय के क्षय से अव्याबाध सुख मोहनीय के अभाव मे दर्शन, आयु के अभाव में सूक्ष्मत्व, नामकर्म के अभाव मे अवगाहनत्व, गोत्र के अभाव में अगुरुलघुत्व तथा अन्तराय के अभाव मे अनन्तवीर्य गुण कहे हैं।

जीव का स्वभाव अनतज्ञान, अनंतदर्शन तथा अनिन्दित चारित्र हैं।

जीवो सहावणियदो अणियद गुण पज्जओध परसमओ।
जदि कुणदि सगं समयं पब्भस्सदि कम्मबन्धा दो ॥

जीव स्वभाव नियतः अनियत गुण पर्यायोथ परसमय ।
यदि कुरुते स्वकं समयं प्रभ्रश्यति कर्मबंधात् ॥१५५॥

ससारी जीव के ज्ञान तथा दर्शन रूप नियत स्वभाव है कर्मोदयवश अनियत गुण पर्याय युक्त होने से उसे पर समय कहा है। यह जीव जब स्वसमय मे परिणत होता है तब वह कर्मो के बधन से छूट जाता है।

विशेष यहाँ स्वसमय, परसमय का कथन किया गया है। इस विषय मे मोक्षपाहुड मे यह कथन आया है–

आद सहावादण्ण सच्चित्ताचित्त–मिस्सियदव्व ।
त परदव्व भणियं अवितत्थ सव्वदव्व दरसीहि ॥१७॥

सर्व द्रव्यो के ज्ञाता सर्वज्ञ जिनेन्द्र ने आत्म स्वभाव मे भिन्न सचेतन स्त्री पुत्रादि, अचेतन धन धान्य आदि तथा आभरण वस्त्रादि युक्त स्त्री आदि रूप भिन्न द्रव्य को पर द्रव्य कहा है।

स्वद्रव्य के विषय मे यह कहा है –

दुट्ठट्ठ कम्मरहियं अणोवम णाणविग्गह णिच्च ।
सुद्धं जिणेहिं कहिय अप्पाण हवदि सद्दव्व ॥१८॥

जिनेन्द्र देव ने कहा है दुष्ट आठ कर्मो से रहित अनुपम ज्ञान रूपी शरीर धारण करने वाली अविनाशी शुद्ध आत्मा स्वद्रव्य है।

जे झाणंति सदव्व परदव्व परम्मुहा दु सुचरित्ता ।
ते जिणवराण मग्ग अणुलग्गा लहदि णिव्वाण ॥१९॥

जो परद्रव्य के ध्यान से विमुख होकर सुचरित्र सम्पन्न हो स्वद्रव्य का ध्यान करते है वे मुनिराज जिनेन्द्र भगवान के मार्ग में सलग्न हैं। वे मोक्ष को प्राप्त करते हैं।

रयणसागर मे लिखा है –

बहि-रतप्पभेय परसमय भण्णये जिणिंदेहिं ।
परमप्पो सगसमय तब्भेय जाणगुणठाणे ॥१४८॥

जिनेन्द्र भगवान ने बहिरात्मा तथा अन्तरात्मा के भेद रूप पर समय कहा है। परमात्मा स्वसमय है। इनके भेद इस प्रकार गुणस्थान मे जानना चाहिये।

मिस्सोत्ति बहिरप्पा तरतमया तुरिय अंतरप्प-जहण्णा ।
संतोत्ति मज्झमतर खीणुत्तम परमजिणसिद्धा ॥१४९॥

आदि के तीन गुणस्थान वाले जीव बहिरात्मा हैं। चौथे गुण स्थान मे स्थित जीव जघन्य अंतरात्मा है। उपशान्त कषाय गुणस्थान तक के जीव मध्यम अन्तरात्मा कहे हैं। क्षीण कषाय गुणस्थान में विद्यमान साधु उत्तम अन्तरात्मा है। केवली भगवान तथा सिद्ध भगवान परमात्मा हैं।

जो परदव्वम्मि सुहं असुहं रागेण कुणदि जदि भावं ।
सो सगचरित्त भट्ठो परचरियचरो हवदि जीवो ॥
यः परद्रव्ये शुभ अशुभं रागेण करोति यदि भावं ।
सः स्वकचरित्र भ्रष्टः परचरितचरो भवति जीवः ॥१५६॥

जो जीव रागभाव पूर्वक परद्रव्यो के विषय मे शुभ तथा अशुभ परिणाम धारण करता है, वह स्वचरित्र से भ्रष्ट हो परचरित्रचर होता है।

विशेष—जो जीव परद्रव्य में शुभ अशुभ भाव करता है वह स्वचरित्र से भ्रष्ट होकर परचरित्रयुक्त होता है किन्तु जो शुभ भाव, अशुभ भावो से रहित हो वीतराग भाव रूप परिणत होगा, वह परचरित्रचर न होकर स्वरूप मे रमण करता है।

शास्त्र मे सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहार विशुद्धि तथा यथाख्यात रूप पच विध चारित्र कहे हैं। शुभ अशुभ रूप राग से रहित मुनीश्वर के यथाख्यान चारित्र होता है। वीतराग अवस्था मे शुभ अशुभ भाव नही होते ।

स्वरूपाचरण चारित्र यदि पृथक् होता तो छह प्रकार के चारित्र हो जाते, यह बात विचारणीय है। स्वरूप मे आचरण रूपता यथाख्यात चारित्र मे घटित होती है। चौथे गुणस्थान में प्राप्त आगम तत्वों में श्रद्धान रहता है। गोम्मटसागर मे कहा है–चारित्तं णात्थि" वहाँ चारित्र नही है, वहाँ वीतराग भाव नहीं होते, आगम मे अविरत सम्यक्त्वी शब्द का प्रयोग किया गया है। विरत अर्थात् चारित्र युक्त और जो चारित्र युक्त न हो, वह अविरत है, इससे उस गुणस्थान मे चारित्र का अभाव है। वहाँ यथाख्यात चारित्र अर्थात् स्वरूपाचरण चारित्र नही होगा।

चारित्त पाहुड मे कुंदकुंद स्वामी ने सम्यक्त्व चरण चारित्र तथा संयमचरण चारित्र का कथन किया है। सावयधम्म–श्रावक धर्म तथा जइ धम्म–यति धर्म को संयमचरण चारित्र मे गर्भित किया है। जहाँ संयम नही है, वहाँ सम्यक्त्व है, उस सम्यक्त्व मे चरण करना सम्यक्त्व चरण चारित्र माना है। चारित्रप्राभृत मे कहा है—

जिणणाण-दिट्ठिसुद्धं पढमं सम्मत्तचरणचारित्तं ।
बिदियं संजमचरणं जिणणाण-सदेसियं तं पि ॥५॥

जिन भगवान सर्वज्ञवीतराग के ज्ञान तथा दृष्टि से शुद्ध सम्यक्त्व चरण चारित्र होता है। दूसरा संयम चरण है। वह भी जिनेश्वर के केवल ज्ञान में निरूपित है।

निर्दोष सम्यक्त्व का परिपालन सम्यक्त्व चरण कहा गया है।

एवंचिय णाऊण य सव्वे मिच्छत्त–दोस–संकाई ।
परिहर सम्मत्तमला जिणभणिया तिविह जोएण ॥६॥

इस प्रकार आगमवाणी से जानकर मिथ्यात्व, दोष शंकादिक तथा सम्यक्त्व के मलो का त्रियोग से परित्याग करो, ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है।

यहाँ अष्टांग गुण युक्त, तीन मूढता रहित तथा शंकादि दोष रहित सम्यक्त्व को सम्यक्त्वचरण कहा है। शंकादि पच्चीस सम्यक्त्व के दोष इस प्रकार कहे हैं—

मूढत्रयं मदाश्चाष्टौ तथानायतनानिषट् ।
अष्टौ शंकादयश्चेति दृग्दोषा. पचविंशतिः ॥

देवमूढता, गुरुमूढता, लोक मूढता, ज्ञानमद, पूजामद, कुलमद,जातिमद,बलमद,ऋद्धिमद, तपमद, शरीरमद ये आठ मद, छह अनायतन अर्थात् मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र तथा मिथ्यादृष्टि, मिथ्याज्ञानी तथा मिथ्याचारित्र पालन करने वाले मिथ्यात्व के छह आयतन अर्थात् स्थान कहे है। शका, काक्षा, विचिकित्सा, मूढदृष्टि, अनुपगूहन, अस्थितिकरण, अवात्सल्य, अप्रभावना, ये शकादि आठ दोष कहे हैं। इनका परित्याग सम्यक्त्व के आठ गुण हो जाते हैं। स्वामी समन्तभद्र ने सम्यक्त्व के विषय मे लिखा है—

श्रद्धान परमार्थानामाप्तागमतपोभृताम् ।
त्रिमूढापोढमष्टाङ्ग सम्यग्दर्शनमस्मयम् ॥४॥

सच्चे आप्त, आगम तथा तपस्वी मुनियो पर श्रद्धान करना इसे ही देव, गुरु, शास्त्र की श्रद्धा कहते हैं। यह श्रद्धान त्रिमूढता रहित, अष्टअग सहित और आठ मद रहित होता है। अविरत सम्यग्दृष्टि के यदि स्वरूप मे आचरण (स्वरूपाचरण) हो जाये, तो फिर आगे चारित्र की क्या आवश्यकता होगी? यहाँ शास्त्रकार ने शुभ अशुभ परिणामो को करने वाले व्यक्ति के चारित्र को परचारित्र युक्त कहा है। आगम मे मिथ्यात्व, सासादन और मिश्र इन तीन गुणस्थानो मे अशुभोपयोग कहा है। अविरत सम्यक्त्व देश–सयम से सातवें गुणस्थान पर्यन्त शुद्धोपयोग का साधक शुभोपयोग रहता है। सातवें गुणस्थान के दो भेद कहे हैं। स्वस्थान अप्रमत्त, सातिशय अप्रमत्त कहे हैं। सातिशय अप्रमत्त गणस्थान वाला मोहनीय की अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण, सज्वलन सम्बन्धो क्रोध मान, माया लोभ तथा हास्यादि नाकषाय मिलाकर मोहनीय की इक्कीस प्रकृतियों के उपशम क्षय करने के लिये अध.करण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, रूप तीन करण करता है। सातिशय अप्रमत्त प्रथम अधाप्रवृत्तकरण को करता है। कहा भी है—

इगवीस-मोह-खवणुवसमण-णिमित्ताणि तिकरणाणि तहिं।
पढम अधापवत्त करण तु करेदि अपमत्तो ॥ ४७ ॥

इससे यह ज्ञात होता है कि सातिशय अप्रमत्त गुणस्थान वाली आत्मा शुद्धोपयोगी होगी।

स्वस्थान अप्रमत्त गुणस्थान मे कोई-कोई शुभोपयोग मानते हैं और किन्ही का मत है कि वहाँ शुद्धोपयोग होता है। प आशाधर जो ने अनगार धर्मामृत मे कहा है असंयत देशसयत और प्रमत्त इन तीन गुणस्थान मे शुभोपयोग होता है। वह क्रम से शुभ, शुभतर, शुभतम होता है। वह शुद्धोपयोग का साधक होता है। अप्रमत्त गुणस्थान से क्षीण कषाय गुणस्थान पर्यन्त शुद्धोपयोग होता है। (अध्याय १ श्लोक ११०)

बृहत् द्रव्य सग्रह मे कहा है चौथे से सातवें पर्यन्त "शुद्धोपयोग साधकः शुभोपयोगो वर्तते" आगम मे धर्मध्यान सातवे गुणस्थान पर्यन्त माना है। वह धर्मध्यान शुभभाव रूप कहा गया है। महापुराण मे धर्मध्यान वाले के तीन शुभलेश्या कही हैं। शुभ लेश्या "सुहतिय लेस्साहु देशविरदतिये" देशव्रती श्रावक, प्रमत्त गुणस्थानवर्ती मुनि तथा अप्रमत्त गुणस्थान वर्ती मुनि के पाई जाती है। "(गोम्मटसार गाथा ५३१) महापुराण में कहा है, अतिशय शुद्धि को धारण करने वाले तथा तीन लेश्या युक्त धर्मध्यान वाले मुनिराज होते हैं। "लेश्यात्रयोपोदबल बृंहित।" (पर्व २१ श्लोक १५६) धर्मध्यान वाले मुनि के पीत, पद्म, शुक्लरूप शुभलेश्या त्रय कही गई है। सातवें गुण स्थान मे धर्मध्यान का सद्भाव माना गया है। शुभलेश्या त्रय सातवें गुणस्थान पर्यन्त कही हैं। यदि सातवे गुणस्थान में शुद्ध भाव होता तो वहाँ केवल शुक्ललेश्या कहना था। धर्मध्यान शुभभाव है, वह शुद्धभाव नही है। इस विषय का स्पष्टीकरण आगम की इस गाथा द्वारा होता है—

भाव तिविह पयारं सुहासुहं सुद्धमेव णादव्व ।
असुहं अट्टरउद्द सुह धम्मं जिणवरिंदेहिं ॥१॥ भा. पा.

भाव शुभ अशुभ तथा शुद्ध तीन प्रकार के जानना चाहिये । आर्त्त तथा रौद्रध्यान अशुभभाव हैं। धर्मध्यान शुभ भाव है ऐसा जिनेन्द्र ने कहा है । इस सम्बन्ध में यह बात ध्यान देने की है कि धर्मध्यान शुभभाव है जो कि चौथे से सातवें गुणस्थान पर्यन्त कहा है । धर्मध्यान वाले के त्रिविध शुभ लेश्या कही गई है। गोम्मटसार में सातवें गुणस्थान वाले के शुभ लेश्या मानी है । इसीलिये कोई शास्त्रज्ञ सातवें गुणस्थान में शुद्धोपयोग के स्थान में शुभोपयोग कहते हैं । बृहत्द्रव्यसग्रह में सातवें गुणस्थान पर्यन्त शुभोपयोग कहा है ।

इस गाथा से यह बात स्पष्ट होती है कि जिसके शुभ अशुभ भाव होते हैं वह परचरित होता है। अमृतचन्द्र स्वामी ने लिखा है कि "सद्रव्ये शुद्धोपयोगवृत्ति स्वचरित परद्रव्ये सोपरागोपवृत्तिः परचरितम्" स्वद्रव्य में शुद्धोपयोग रूप प्रवृत्ति स्वचरित है । परद्रव्य मे शुभ अशुभ रूप उपयोग सहित वृत्ति या परिणाम परचरित है । शुद्धोपयोगी आत्मा के चारित्र को स्वचरित अर्थात स्वरूप मे आचरण करना दूसरे शब्दों में स्वरूपाचरण कहा है । इसीलिये चतुर्थ गुणस्थान मे स्वरूपाचरण की परिकल्पना असगत प्रतीत होती है । शुद्ध आत्मा का परिज्ञान सूक्ष्म सापराय गुणस्थान मे भी नही होता । आगम की वाणी है कि सूक्ष्म राग वाला व्यक्ति 'समय ण विजाणदि" (पंचास्तिकाय गाथा १६७) । इससे यह बात प्रतीत होती है कि सूक्ष्म सांपराय गुण–स्थान तक शुद्ध आत्मा का ज्ञान नहीं होता, क्योंकि वहाँ सूक्ष्म राग है । इसीलिये निज रूप में आचरण रूप स्वरूपाचरण का सद्भाव ग्यारहवे, बारहवे गुणस्थान मे मानना चाहिये । उन गुणस्थानो में यथाख्यात् चारित्र होता है । इस दृष्टि से प्रतीत होता है कि यथाख्यात चारित्र को स्वरूपाचरण कह दिया गया है । यदि स्वरूपाचरण स्वतन्त्र रूप से चारित्र होता तो चारित्र के छह भेद हो जाते । पचविधचारित्र माना गया है। परद्रव्य मे शुभ अशुभ भाव रखने वाला स्वचारित्र से भ्रष्ट होकर परचारित्रवान होता है । ये परद्रव्य में प्रवृत्ति के परिणाम मोक्ष प्राप्ति के लिये बाधक है ।

आसवदि जेण पुण्णं पावं वा अप्पणोध भावेण ।
सो तेण परचरित्तो हवदित्ति जिणा परुवन्ति ॥
आस्रवति येन पुण्य पापं वात्मनोऽथ भावेन ।
स तेन परचरित्रः भवतीति जिनाः प्ररुपयन्ति ॥१५७॥

आत्मा के जिस परिणाम से पुण्य अथवा पाप का आस्रव होता है उससे जीव परचरित्र रूप होता है, ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने कहा है ।

विशेष—आचार्य अमृतचन्द्र ने लिखा है कि शुभ भाव से पुण्य का आस्रव होगा । अशुभभाव से पापास्रव होगा । जिस भाव से पुण्य और पाप का बन्ध नही होगा, वह परचरित्र प्रवृत्तियुक्त नही होगा । कर्म के पुण्य और पाप दो भेद है । शुभ भाव के द्वारा पुण्य बन्ध होता है । अशुभभाव द्वारा पाप का बन्ध होता है। "शुभः पुण्यस्य अशुभः पापस्य" शुभभाव पुण्यबन्ध का कारण है अशुभभाव पाप बन्ध का कारण है । इसीलिये शुभभाव या अशुभभाव रूप परिणाम मोक्षमार्ग में नहीं होते ।

धर्मध्यान शुभभाव है । उससे पुण्यबन्ध होता है । बन्ध मोक्षमार्ग नहीं है । शुभभाव के द्वारा पाप प्रकृतियों का संवर होता है और क्षय होता है । तत्त्वानुशासन में लिखा है—

तथा ह्यचरमांगस्य ध्यानमभ्यस्यतः सदा।
निर्जरा संवरश्च स्यात्सकलाशुभ कर्मणा ॥२२५॥

जो योगी चरम शरीरी नही है उसके धर्मध्यान का अभ्यास के फलस्वरूप समस्त अशुभ कर्मों की निर्जरा और संवर होता रहता है। ऐसा धर्मध्यान शुभ का बन्धक और अशुभ का संवर और निर्जरा का कारण होता है।

आस्रवंति च पुण्यानि प्रचुराणि प्रतिक्षणं।
यैर्महर्द्धिर्भवत्येष त्रिदश: कल्पवासिषु ॥२२६॥

इस प्रकार के योगी के प्रतिक्षण प्रचुर प्रमाण मे पुण्य कर्म का आस्रव होता है जिसके कारण वह कल्पवासी देवो मे महान ऋद्धिधारी देव होता है।

जिनसेन स्वामी ने महापुराण मे लिखा है इस धर्मध्यान के फल अशुभ कर्म की विपुल प्रमाण मे निर्जरा तथा शुभ कर्मोदय से उत्पन्न देवेन्द्रों के सुख की प्राप्ति है। जिस समय मुनि शुक्लध्यान से युक्त हो क्षपकश्रेणी का आश्रय लेते हैं, तब वे शुभ-अशुभ भावो से उत्पन्न होने वाले बन्ध को नही करते हैं। धर्मध्यान शुभभाव होने से पुण्यकर्म का बन्ध करता है। बन्ध तत्त्व मोक्ष का कारण नही है। धर्मध्यान वाले मुनि पाप कर्म का संवर और निर्जरा करते हैं। धर्मध्यान से बन्ध होता है। संवर और निर्जरा भी होती है। संवर और निर्जरा को मोक्ष का उपाय कहा है। पूज्यपाद स्वामी ने सर्वार्थसिद्धि मे कहा है "मोक्षस्य प्रधानहेतु संवरो निर्जरा च" (सूत्र ४ अध्याय १) मोक्ष का प्रधान कारण संवर तथा निर्जरा है इसी दृष्टि को लक्ष्य मे रखकर आचार्य उमास्वामी ने "परेमोक्षहेतु" (अध्याय ६ सूत्र २६) धर्मध्यान और शुक्लध्यान मोक्ष के कारण कहा है। धर्मध्यान मोक्ष का परपरा कारण हैं।

धर्मध्यान पुण्यबन्ध का कारण है यह आगम प्रतिपादित सत्य है। वह धर्मध्यान मोक्ष के कारणभूत संवर निर्जरा का भी कारण है, इसीलिये स्याद्वाद के प्रकाश मे धर्मध्यान को बन्ध का कारण और मोक्ष का कारण मानना उचित है।

जो सव्वसंगमुक्कोऽणण्णमणो अप्पणं सहावेण।
जाणदि पस्सदि णियद सो सगचरियं चरदि जीवो॥

य. सर्वसंगमुक्त. अनन्यमनाः आत्मनं स्वभावेन।
जानाति पश्यति नियत स स्वकचरितं चरति जीव ॥१५८॥

जो अन्तरग और बहिरग परिग्रह रहित योगी एकाग्रचित्त हो स्वभाव रूप मे आत्मा को निश्चित रूप से जानता है, देखता है वह स्वचरित्र मे प्रवृत्ति करता है।

विशेष— परचरित्र का प्रतिपादन के पश्चात् स्वचरित्र के सम्बन्ध मे यहाँ प्रकाश डाला गया है। पहली बात यह आवश्यक है कि वह स्वचरित्र युक्त व्यक्ति सम्पूर्ण परिग्रहों से रहित होता है। वह अन्य पदार्थों से मन को अलग कर आत्मा मे निमग्न रहता है। वह आत्मा को निज स्वरूप से जानता है देखता है। वह स्व-चरित्र कषाय-विमुक्त तथा पुण्य और पाप का संवर करने वाले महामुनि के होता है। यह लक्षण एकत्व वितर्क अवीचार रूप शुक्लध्यान युक्त क्षीण कषाय वाले महामुनि के होगा। वे वीतराग परम समाधि नामक स्वचरित्र का आचरण करते हैं तथा अनुभव करते हैं। यहाँ योगी को एकाग्रचित्त कहा है। वह निर्विकल्प रूप से आत्मा को देखता है तथा जानता है।

समयसार में लिखा है कि पूर्ण परिग्रह का परित्यागी मुनि अपनी आत्मा को आत्मा के द्वारा ध्यान का विषय बनाता है कि मेरे कर्म नहीं है, नो कर्म नहीं हैं, मै दर्शन ज्ञानमय हूँ, इस प्रकार आत्मा के एकत्व का चिन्तन करता है। अभेद रत्नत्रय रूप अर्थात् एयत्त विहत्त अर्थात मिथ्या रागादि रहित परमात्म स्वरूप का ध्यान करता है, उसके प्रसाद से वह शीघ्र ही कर्मरहित आत्म स्वरूप को प्राप्त करता है। इस सम्बन्ध में ये गाथाएं उपयोगी हैं।

जोसव्वसंग मुक्को झायदि अप्पाणमप्पणो अप्पा ।
णवि कम्मं णोकम्मं चेदा चितेदि एयत्त ।। १८८ ।।
अप्पाण झायंतो दसणाणमओ अणण्णमओ ।
लहइ अचिरेण अप्पा णमेव सो कम्मपविमुक्कं ।।१८९।। स सा

यहाँ आचार्य ने उच्च ध्यान के लिये अन्तरंग बहिरंग परिग्रह का त्याग परम आवश्यक बताया है। सर्व परिग्रह त्याग के साथ वह योगी आत्मा को ज्ञान दर्शन मय चिन्तवन करता है। वह एकत्व का चिन्तवन करता है। एकत्व चिन्तन रूप शुक्लध्यान के द्वारा निर्वाण की प्राप्ति होती है।

चरियं चरदि सगं सो जो परदव्वप्पभावरहिदप्पा ।
दंसणणाण वियप्पं अवियप्पं चरदि अप्पादो ।।

चरित चरति स्वकं स यः परद्रव्यात्मभावरहितात्मा ।
दर्शन ज्ञान विकल्पमविकल्पं चरत्यात्मनः ।। १५९ ।।

जो मुनि परद्रव्य मे आत्म भावना का परित्याग करके दर्शन ज्ञान भेद युक्त तथा अभेद युक्त आत्मा के स्वरूप मे आचरण करता है वह स्वचरित मे प्रवृत्ति करता है।

विशेष यहाँ निश्चयनय का आश्रय कर शुद्ध द्रव्य आश्रित अभिन्न साध्य साधन भाव रूप मोक्ष मार्ग का निरूपण किया है। स्वद्रव्य अर्थात् आत्मद्रव्य उसमे आचरण करना यह स्वचरित कहा है। जिन शासन मे व्यवहार दृष्टि से भिन्न साध्य-साधन भाव रूप स्व तथा पर प्रत्यय रूप पर्याय का अवलम्बन करने का मार्ग कहा है। शुद्ध द्रव्याश्रित अभिन्न साधन भाव और पर्यायाश्रित भिन्न साध्य साधन भाव की अपेक्षा कथन करने मे कोई बाधा नही है। व्यवहारनय की देशना साधन रूप है। निश्चयनय का निरूपण साध्य रूप है जैसे सुवर्ण पाषाण साधन रूप है। अग्नि आदि के द्वारा उसे सुवर्ण बनाने के समान व्यवहारनय के द्वारा निश्चयनय रूप साध्य की उपलब्धि होती है। अमृतचन्द्र स्वामी लिखते है-

"उभयनयायत्ता पारमेश्वरी तीर्थप्रवर्तना"-अरहन्त भगवान की धर्मतीर्थ प्रवर्तना व्यवहार और निश्चय दोनो दृष्टियों पर निर्भर है। यदि साधन रूप व्यवहारनय का परित्याग कर दिया जाये तो साध्य रूप निश्चयनय की उपलब्धि नही होगी। जो व्यक्ति सुवर्ण पाषाण को छोड़ देता है, उसे सुवर्ण की उपलब्धि नही होगी। साधन के अभाव में साध्य की कल्पना आकाश के पुष्पों की माला बनाने सदृश अपरमार्थ है। तत्त्वार्थसार मे अमृतचन्द स्वामी ने लिखा है –

निश्चय व्यवहाराभ्यां मोक्षमार्गो द्विधा स्थितः ।
तत्राद्यः साध्य रूपः स्याद् द्वितीय स्तस्य साधनम् ।। २ ।।

व्यवहार और निश्चय के भेद से दो प्रकार का मोक्षमार्ग कहा गया है। इनमें प्रथम निश्चय मोक्षमार्ग साध्य है और व्यवहार मोक्षमार्ग साधन है। व्यवहार मोक्षमार्ग की निरुपणा जिनेन्द्र भगवान ने साधन रूप से आवश्यक बताई है। व्यवहार को त्याज्य मानकर निश्चय की उपलब्धि दीपक को बुझाकर अन्धकार में पदार्थ की खोज करना है। आशाधर जी ने लिखा है--

व्यवहार-पराचीनः निश्चयं य चिकीर्षति।
बीजादि विना मूढः सः सस्यानि सिसृक्षति॥

जो व्यक्ति बिना बीज के बोए धान्य को प्राप्त करना चाहता है, वह मूढ बीज के बिना धान्य को प्राप्त करना चाहता है। बीज के बिना धान्य कैसे प्राप्त होगा ? बीज कारण है, धान्य कार्य है। इसी प्रकार व्यवहार दृष्टि कारण है उसको छोड़कर कार्य रूप निश्चय दृष्टि की कल्पना आगम की देशना के विपरीत है। वृहद्द्रव्यसंग्रह मे लिखा है – आत्मा के लिये उपादेय तत्त्व अक्षय अनन्त सुख है। उसका कारण सम्पूर्ण कर्मों का अभाव रूप मोक्ष है। मोक्ष का कारण संवर और निर्जरा है। सवर और निर्जरा का कारण निश्चय रत्नत्रय स्वरूप है। उसका साधक व्यवहार रत्नत्रय स्वरूप है "उपादेय तत्त्वं अक्षयानंत सुखं। तस्य कारणं मोक्षः। मोक्षस्य कारण सवर निर्जरा द्वय। तस्य कारणं निश्चय-रत्नत्रय-स्वरूपं। तत्साधकं व्यवहार रत्नत्रय रूप चेति" (पृष्ठ ८१)

मोक्षाभिलाषी जीव को सत्यतत्त्वग्राही होना चाहिये। उसे आगम के प्रकाश मे अपने विचारो का परिमार्जन करने को तत्पर रहना चाहिये अन्यथा तत्त्वज्ञान रूपी रत्न हाथ मे न आकर कॉंच खण्ड की प्राप्ति होगी। आत्मकल्याण के लिये सर्वप्रथम व्यवहारनय प्रतिपादित पच परमेष्ठी शरण रूप है। उनमे अरहन्त और सिद्ध मुख्य रूप से आराध्य हैं। उन दोनो मे निश्चय मे सिद्ध भगवान आराध्य हैं--"परम निश्चयनयेन स्वशुद्ध शुद्धात्मैवोपादेय. शेष द्रव्याणि हेयानि"--परम निश्चय से अपनी शुद्धात्मा ही उपादेय है। शेष द्रव्य हेय है। जो शुद्धात्मा की प्राप्ति करना चाहता है, उसे पचपरमेष्ठी के चरण कमलो का आराधक होना चाहिये। जिनेन्द्र भक्त आत्मा क्रमशः उन्नति करती हुई शुद्धात्म स्वरूप को प्राप्त करती है।

कुन्दकुन्द स्वामी ने भाव पाहुड मे कहा है---

जिणवर चरण बुरुह णमति जे परमभत्तिराएण।
ते जम्मवेल्लि मूलं खणति वरभावसत्थेण॥ १५१॥

जो व्यक्ति परम भक्ति युक्त अनुराग सहित जिनेन्द्र भगवान के चरण कमलो को प्रणाम करते हैं वे निर्मलभाव रूप शस्त्र के द्वारा जन्म रूप बेल की मूल को काट देते हैं। अर्थात जिनेन्द्र के चरणो की आराधना द्वारा निर्वाण की उपलब्धि होती है। यह भक्ति का मार्ग व्यवहारनय को सत्य माने बिना इष्ट साधक नहीं होगा। जिसे शुद्धात्मा की प्राप्ति परम प्रिय है, उसे सर्वप्रथम पचपरमेष्ठी की आराधना रूप अध्यात्म विद्या के मन्दिर में ज्ञान प्राप्त करना होगा। इस काल मे पचपरमेष्ठी का शरण ही आत्म कल्याण का प्रमुख साधन है।

धम्मादीसद्दहणं सम्मत्तं णाणमंगपुव्व गदं।
चिट्ठा तवेहि चरिया ववहारो मोक्खमग्गोत्ति॥
धर्मादि श्रद्धानं सम्यक्त्वं ज्ञानमङ्गपूर्वगतं।
चेष्टा तपसि चर्या व्यवहारो मोक्षमार्ग इति॥१६०॥

धर्मादि द्रव्यों का श्रद्धान करना सम्यक्त्व है। ग्यारह अंग और चौदह पूर्व रूप अवबोध ज्ञान है। अन्तरंग, बहिरंग तप में संलग्न होना चारित्र है। यह व्यवहार मोक्षमार्ग है।

विशेष—यहाँ आचार्य ने व्यवहार मोक्षमार्ग का निरूपण किया है, क्योंकि निश्चय मोक्षमार्ग के लिये वह साधन है। आगम का व्यवस्थित अभ्यास न करने वाले अविवेकी निश्चय सम्यक्त्व की ही बात करते हैं। उन्हें यहाँ ग्रन्थकार ने व्यवहार सम्यक्त्व को साधन रूप बताकर साध्य रूप निश्चय पक्ष का प्रतिपादन किया है। व्यवहारनय का शरण लिये बिना निश्चय सम्यक्त्व को प्राप्त करने की परिकल्पना जल मे स्थित चन्द्र के बिम्ब को ग्रहण करने के समान है।

प्रश्न—व्यवहार सम्यक्त्व के द्वारा निश्चय सम्यक्त्व प्राप्त होता है। दोनों का स्वरूप क्या है?

उत्तर— जीवादी-सद्दहणं सम्मत्तं जिणवरेहिं पण्णत्तं।
ववहारा णिच्छयदो अप्पाणं हवइ सम्मत्तं ॥२०॥

जीवादि पदार्थों का श्रद्धान करना सम्यक्त्व है ऐसा जिनेन्द्र वचन व्यवहारनय से कहा गया है। निश्चयनय से आत्मा ही सम्यक्त्व रूप है, क्योंकि अभेद रत्नत्रय मे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र की एकरूपता हो जाती है। यह जिनेन्द्र प्रणीत सम्यग्दर्शन रूपी रत्न आत्मा के गुण रत्नो मे उत्कृष्ट है। और मोक्ष का प्रथम सोपान (सीढ़ी) है। एक जिनेन्द्र चरणो की भक्ति कुगति से जीव को बचाती है। पुण्य को प्रदान करती है और भाग्यशाली व्यक्ति को मुक्ति लक्ष्मी प्रदान करती है अर्थात यदि जिनेन्द्र भक्ति है, तो आत्मा व्यवहार मोक्ष मार्ग की सीढ़ी पर चढ़कर धीरे-धीरे मुक्ति मन्दिर में पहुँच जायगा इसमे सन्देह नही है।

पूज्यपाद स्वामी ने समाधिशतक मे लिखा है कि मुझे किसी अन्य पदार्थ की आराधना न कर अपनी आत्मा की ही आराधना करनी चाहिये—

य. परात्मा स एवाहं योऽहं स परमस्ततः।
अहमेव मयोपास्यो नान्य. कश्चिदिति स्थिति. ॥३१॥

जो परमात्मा है, वही मै हूँ। जो मेरी आत्मा है वही परमात्मा है। इसलिये मुझे अपने आत्मदेव की ही उपासना करनी चाहिये। किसी अन्य की आराधना नही करना चाहिये। वास्तविक तत्त्व यह है।

यहाँ पूज्यपाद स्वामी ने आध्यात्मिक चिन्तन मे निमग्न हो निश्चय दृष्टि से अपनी आत्मा को ही आराध्य कहा है। इस आराधना मे अरहन्त की भक्ति तथा सिद्ध की भक्ति भी ग्राह्य नही है। वे ही पूज्यपाद स्वामी शान्तिभक्ति में कहते हैं—

अव्याबाधमचिन्त्यमतुलं त्यक्तोपमं शाश्वतं।
सौख्यं त्वच्चरणारविंदयुगलस्तुत्यैव सम्प्राप्यते ॥७॥

हे भगवान शान्तिनाथ! आपके चरण कमलो की स्तुति के ही द्वारा अव्याबाध, अचिन्त्य, साररूप, तुलनारहित, उपमातीत अविनाशी सुख की प्राप्ति होती है। इस कथन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि व्यवहार सम्यक्त्व, ज्ञान और चारित्र भी मोक्ष के मार्ग हैं। इनमे प्रथम अवस्था मे व्यवहार मोक्ष मार्ग आवश्यक है।

संसार के भोग और विषयो से विरत तीर्थंकर भगवान जब दीक्षा लेते हैं तब अट्ठाइस मूलगुणों रूप मुनि पदवी को धारण करते हैं। व्रत, समिति, इन्द्रिय विजय, केशलोंच, दिगम्बरत्व, स्नान-परित्याग, भूमि-शयन, अदन्त धावन, समता, वन्दना, स्तुति, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान तथा कायोत्सर्ग रूप छह आवश्यक, खड़े

होकर आहार ग्रहण, एक बार कर-पात्र में आहार लेना ये मुनियों के मूलगुण जिनेन्द्र भगवान ने कहे हैं। इनका परिपालन मुनि पद धारी तीर्थंकर भगवान भी करते हैं। यदि इस क्रिया का निर्दोष परिपालन नहीं किया गया तो सदोष आचरण के होने पर निर्वाण की उपलब्धि असम्भव है।

मोक्ष पाहुड में कुदकुद स्वामी ने कहा है

पचमहव्वयजुत्तो पचसु समिदीसु तीसु गुत्तीसु।
रयणत्तयसजुत्तो झाणज्झयणं सयाकुणह ॥ ३३ ॥

पच महाव्रत अर्थात् अहिंसा महाव्रत, सत्य महाव्रत, अचौर्य महाव्रत, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य महाव्रतों का पालन करो। ईर्या, भाषा, एषणा, आदान निक्षेपण, व्युत्सर्ग समिति; मनगुप्ति, वचन गुप्ति, काय गुप्ति का पालन करो तथा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यग्चारित्र से युक्त हो ध्यान एव अध्ययन सदा करो।

णिच्चयणयेण भणिदो तिहि तेहि समाहिदो हु जो अप्पा।
ण कुणदि किंचिवि अण्णं ण मुयदि सो मोक्खमग्गोत्ति ॥
निश्चयनयेन भणितस्त्रिभिस्तै. समाहित खलु य आत्मा।
न करोति किंचिदप्यन्यं न मुञ्चति स मोगमार्ग इति ॥१६१॥

निश्चयनय से एकरूपता को प्राप्त अभेद रत्नत्रय स्वरूप आत्मा मोक्षमार्ग है। वह कुछ भी प्रवृत्ति का कार्य नही करती, न त्याग रूप निवृत्ति को ही करती है। इस प्रकार आत्मा ही मोक्ष का मार्ग है।

विशेष—व्यवहार मोक्षमार्ग मे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र का आश्रय लिया जाना है। वह व्यक्ति उन प्रवृत्तियो का परित्याग करता है, जिनसे पाप का बध होता है। गौतम स्वामी ने महावीर प्रभु से यही प्रश्न किया था कि हमे किस प्रकार की प्रवृत्ति द्वारा पाप का बन्ध न हो? भगवान ने कहा था यत्नाचार पूर्वक प्रवृत्ति द्वारा पाप का बन्ध नही होगा। स्वामी समन्तभद्र ने सम्पूर्ण पाप प्रवृत्तियो का परित्याग रूप चारित्र का परिपालन आवश्यक कहा है। उन पापो के कारण हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन सेवा और परिग्रह कहे गये हैं। सर्व परिग्रह त्यागी मुनिराज पूर्ण रूप से हिंसादिक का त्याग करते है और गृहस्थ उनका एकदेश रूप से त्यागी है। यहाँ पाप प्रवृत्तियो का परित्याग आवश्यक कहा है। जीवदया आदि सत् प्रवृत्तियाँ उपयोगी मानी गई है। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह रूप प्रवृत्ति स्वरूप आचरण आवश्यक बताया है। भेद रत्नत्रय रूप मोक्षमार्ग मे साधक असत् प्रवृत्ति का त्याग करता है और पाप प्रवृत्तियो से बचकर शुभ प्रवृत्ति रूप मार्ग को अपनाता है। निश्चयनय से जो वीतरागता पूर्ण उच्चमार्ग ग्रहण किया जाता है, वह त्याग और ग्रहण से रहित है। समाधिशतक में कहा है—

त्यागादाने बहिर्मूढः करोत्यध्यात्म मात्मवित।
नातर्बहिरूपादान त्यागो निष्ठितात्मनः ॥४७॥

मूढ व्यक्ति बाह्य पदार्थों का त्याग करता है। आत्मज्ञ अपनी आत्मा में ही त्याग तथा आदान करता है। कृतकृत्य आत्मा की बाह्य के त्याग तथा आदान रूप परिणति नहीं है। सविकल्प दशा में अशुभ तथा पाप प्रवृत्तियो का त्याग, शुभ एवं पुण्य प्रवृत्तियो को ग्रहण किया जाता है। अभेद रत्नत्रय परिणत निर्विकल्प समाधि में निमग्न साधु शुभ प्रवृत्ति, पाप प्रवृत्ति के आदान एवं त्याग से रहित हो जाता है। 'तत्र हि त्यागो

रागद्वेषादेरंतर्जल्पविकल्पादेर्वा । स्वीकारश्चिदानन्दादेः" । वह योगी राग द्वेष तथा अंतर्जल्प रूप विकारादि का त्याग करता है । चिदानन्द परिणति को स्वीकार करता है । कृतकृत्य आत्मा वीतराग परमात्मा होने से वह त्याग तथा ग्रहण की स्थिति से छूट जाता है ।

आचार्य अकलंकदेव ने स्वरूप संबोधन में कहा है—

स्वः स्वं स्वेन स्थित स्वस्मै स्वस्मा त्स्वस्या विनश्वरम् ।
स्वस्मिन् ध्यात्वा लभेत् स्वोत्थ मानंदममृतपदम् ।।२४।।

अपनी आत्मा अपने द्वारा स्थित आत्मा के स्वरूप को अपने लिए अपनी आत्मा से अपनी आत्मा का आत्मा से उत्पन्न, अविनाशी आनन्द तथा अमृत रूप पद का अपनी आत्मा में आत्मा का ध्यान करके आत्मा को प्राप्त करे । यहां सातों विभक्तियों तथा छहों कारकों के रूप में आत्मा का कथन करके अविनाशी आनन्द की प्राप्ति हेतु प्रेरणा की है ।

ज्ञानार्णव में ध्यान की महिमा इस प्रकार कही है -

अनादिविभ्रमोद्भूतं रागादितिमिर घनम् ।
स्फुटयत्याशु जीवस्य ध्यानार्कं विजृंभित ।।२५ अ-५।।

अनादिकालीन भ्रान्ति से उत्पन्न घना रागादि रूप अन्धकार है उसे ध्यान रूपी सूर्य शीघ्र ही दूर कर देता है । यहाँ शुक्लध्यानी मुनीश्वर की स्थिति का प्रतिपादन किया गया है ।

तत्वानुशासन में कहा है -

शुचिगुणयोगात् शुक्ल कषायरजस क्षयादुपशमाद्वा ।
माणिक्यशिखावदिद सुनिर्मल नि प्रकप च ।।२२२।।

कषाय रूपी रज के उपशम अथवा क्षय होने से माणिक्य की शिखा सदृश निर्मल तथा निश्चल ध्यान होता है । यहा शुभ तथा अशुभ रूप मलिनता दूर होने से शुचि रूप शुक्ल ध्यान कहा है ।

निर्विकल्प समाधि रूप कारण समयसार द्वारा केवलज्ञानादि की प्राप्ति रूप कार्य समयसार की अभिव्यक्ति होती है ।

अमृतचंद्र सूरि इस गाथा की टीका में लिखते है, "अतो निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गयो. साध्यसाधनभावो नितरामुपपन्नः ।"

व्यवहार रत्नत्रय साधन है तथा निश्चय रत्नत्रय साध्य है यह बात पूर्णतया अबाधित है ।

जो चरदि णादि पिच्छदि अप्पाणं अप्पणा अणण्णमयं ।
सो चारित्तं णाणं दंसणमिदि णिच्छिदो होदि ।।
यश्चरति जानाति पश्यति आत्मानमात्मानान्यमय ।
स चारित्रं ज्ञानं दर्शनमिति निश्चितो भवति ।।१६२।।

जो निज शुद्धात्मा को अपनी आत्मा से अनन्यमय-अभिन्न रूप जानता है तथा देखता है तथा आचरण करता है वह ज्ञान दर्शन तथा चारित्र रूप आत्मा निश्चित है इससे रत्नत्रय रूप आत्मा ही निश्चय मोक्षमार्ग है ।

विशेष— आत्मा का दर्शन, आत्मा का ज्ञान तथा आत्मा में चरण करना अर्थात् तल्लीन होना पूर्णतया आत्माश्रित होने से निश्चय मोक्षमार्ग है। द्रव्य संग्रह में कहा है—

रयणत्तयं ण वट्टइ अप्पाणं मुयत्तु अण्ण दवियम्हि।
तम्हा तत्तियमइयो होदि हु मोक्खस्स कारणं आदा॥

यह रत्नत्रय आत्मा के सिवाय अन्य द्रव्य में नहीं पाया जाता। इससे ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूप आत्मा ही मोक्ष का कारण है। वास्तव में आत्मा का दर्शन, ज्ञान और चारित्र स्वरूप है। जब यह आत्मा रत्नत्रय रूप परिणमन करता है, तब वह आत्मा मोक्षमार्ग रूप होता है।

तत्त्वार्थसार में लिखा है -

पश्यति स्व स्वरूपयो जानाति च चरत्यपि।
दर्शन-ज्ञान चारित्र-त्रय मात्मैव स स्मृतः ॥८ उपसंहार॥

जो अपने स्वरूप का दर्शन करता है, परिज्ञान करता है उसमें निमग्न रहता है, वह दर्शन ज्ञान चारित्र रूप आत्मा ही कहा गया है यह आत्मा निश्चय मोक्षमार्ग है।

आत्मा अक्षय आनन्द तथा अनन्त शक्ति का भण्डार है। कर्मों के कारण उसकी स्वाभाविक प्रवृत्तियों तथा गुणों का वैभाविक परिणमन हो रहा है। कर्म इस जीव के गुणों को विकृत बनाकर संसार में परिभ्रमण कराते हैं। वास्तव में देखा जाय तो अपनी राग द्वेष मय परिणति का जनक अपना आत्मा है अन्य नहीं है।

कहते हैं एक बन्दर था। उसने बढ़िया पक्व बेरों से भरे बर्तन में दोनों हाथ डाल दिए। वह उस छोटे मुँह वाले बर्तन से अधो मुट्ठियों को एक साथ निकालना चाहता था। यदि वह बेरों को छोड़ देता है, तो स्वतन्त्र हो जाता है। किन्तु वह मुट्ठी खोलने को तैयार नहीं है, इस कारण बंधन को प्राप्त होता है।

यहाँ प्रश्न होता है बन्दर को किसने बाँधा है? किसी दूसरे ने उसे नहीं बाँधा है वह स्वयं लालच के कारण दुःखी हो रहा है। इसी प्रकार संसारी आत्मा की दशा है। वह बाहरी वस्तुओं को स्वयं पकड़कर संसार में भ्रमण करता है। वह कहता है—

अशन मे वसन मे जाया मे बन्धु वर्गो मे।
इति मे मे कुर्वाणं काल वृको हन्ति पुरुषाजम्॥

ये जीव कहता है भोजन मेरा है, वस्त्र मेरा है, स्त्री मेरी है, बन्धु वर्ग मेरे हैं। इस प्रकार मेरा-मेरा कहने वाले पुरुष रूप बकरे को काल रूपी भेड़िया मार डालता है। मैं और मेरा के चक्कर में जगवासी जीव फँसे हैं। मोह कर्म ने अहंकार और ममकार की मोहन धूलि डालकर सारे जगत् को अन्धा बना रखा है।

अहं ममेतिमंत्रोय मोहस्य जगदाध्यकृत्।
अयमेव हि नञ्पूर्वो मंत्रो भवति मोहजित्॥

जगत् को अन्धा बनाने वाला अहंकार तथा ममकार रूप मोह का मंत्र है इसमें निषेध वाचक 'न' शब्द लगाने से वही मंत्र मोह को जीतने वाला बन जाता है। मैं बड़ा ज्ञानी, बड़ा धनी राजा हूँ। मेरा भाई बन्धु, धन आदि पदार्थ हैं। इस प्रकार 'अहं' और 'मम' के कारण जीव संसार में कैदी बना हुआ है, जब वह न 'अहं' न 'मम'— मैं राजा धनी मानी दीन दुःखी नहीं हूँ इस मंत्र का आश्रय लेता है तथा यह कहता है कि मैं अकेला हूँ। संसार में कोई मेरा नहीं है। 'अहमिक्को णाणमओ' मैं एक हूँ, ज्ञान मय हूँ। मेरा कोई नहीं

है। मैं भी किसी का नहीं हूँ। इस प्रकार की विवेक ज्योति के प्राप्त होने पर अज्ञान जनित अन्धकार दूर हो जाता है। पराश्रय वृत्ति का परित्याग करके स्वाश्रयी रत्नत्रय रूप को प्राप्त करने वाली आत्मा ही मोक्ष मार्ग है। उसकी प्राप्ति कठिन है। व्यवहार मोक्ष मार्ग को साधन बनाने वाली आत्मा निश्चय मोक्ष मार्ग रूपी साध्य को प्राप्त कर लेती है। सद्गुरु द्वारा प्रदर्शित पथ पर चलने वाला अभीष्ट प्रदेश को बिना बाधा के प्राप्त कर लेता है।

जेण विजाणदि सव्वं पेच्छदि सो तेण सोक्खमणुहवदि ।
इदि तं जाणदि भविओ अभव्वसत्तो ण सद्दहदि ।।

येन विजानाति सर्वं पश्यति स तेन सौख्य मनुभवति ।
इति तज्जानाति भव्यो ऽभव्य सत्वो न श्रद्धत्ते ।।१५३।।

आत्मा अपने जिस स्वरूप से सर्व पदार्थों को संशय विपर्यय अनध्यवसाय रहित जानता है तथा केवल दर्शन के द्वारा लोक तथा अलोक का दर्शन करता है। वह केवलज्ञान और केवल दर्शन से अभिन्न अनन्त आनन्द का अनुभव करता है। इस प्रकार का परिज्ञान भव्य जीव के होता है अभव्य जीव की इस विषय मे श्रद्धा नही है।

विशेष—भव्य के और अभव्य के विषय मे गोम्मटसार मे लिखा है—

भविया सिद्धी जेसिं जीवाणं ते हवन्ति भवसिद्धा।
तव्विवरीयाऽभव्वा संसारादो ण सिज्झंति ।।५५६।।

जिन जीवो के अनन्त चतुष्टय रूप सिद्धि होने वाली हो अथवा जो उसकी प्राप्ति के योग्य हो, उनको भव्य सिद्ध कहते हैं। जिनमे अनन्त चतुष्टय रूप सिद्धि नही होगी तथा उसकी योग्यता भी नही है, वह अभव्य सिद्ध है।

सिद्ध भगवान न भव्य हैं न अभव्य है। उनके संसार का अन्त हो गया। संसार के बन्धन को तोड़ने की योग्यता अभव्य में नही है। भव्य जीवों में मुक्ति जाने की पात्रता है। भव्यपना और अभव्यपना जीव के परिणामिक भाव हैं। अभव्य जीव के परिणाम ऐसे हैं कि वे सम्यक्त्व के प्रकाश को कभी भी नही प्राप्त करेंगे। उसकी श्रद्धा मिथ्यात्व रहित नहीं रहती। वह जिनेन्द्र की वाणी पर श्रद्धा नही करता। आचार्य कहते हैं कि अभव्य जीव आत्मा के विषय मे सर्वज्ञता सर्वदर्शीपना तथा अनन्त सुख भोक्तापना स्वरूप श्रद्धान शून्य है। कोई-कोई अभव्य दिगम्बर मुद्रा को धारण करते हैं। महान् ज्ञान को प्राप्त करते हैं। वे शान्त परिणाम, तपस्या के प्रसाद से अन्तिम ग्रैवेयक तक जाते हैं। अपनी आत्मा के सुधार के लिये वे सर्व प्रकार के सत्प्रयत्न करते हैं; किन्तु उनके मन में निर्मल श्रद्धा न रहने से उनका संसार परिभ्रमण नही छूटता। अभव्यों की संख्या भव्य राशि के अनन्तवें भाग बताई गई है। शक्ति की दृष्टि से भव्य और अभव्य दोनों में अन्तरात्मपना, परमात्मपना पाया जाता है। किन्तु अभव्य की शक्ति व्यक्त नहीं होती। भव्य आत्मा में अन्तरात्मपना, परमात्मपना, शक्ति रूप से पाये जाते हैं। भावी नैगमनय की अपेक्षा से व्यक्ति रूप में भी दोनों विशेषतायें पाई जाती हैं। अभव्य के भावी नैगमनय की अपेक्षा शक्ति नही है। शक्ति की अपेक्षा शुद्ध निश्चयनय से भव्य और अभव्य दोनों समान हैं। द्रव्यसंग्रह में कहा है—"सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया" शुद्धनय की दृष्टि से सर्व जीव शुद्ध

हैं (१३) शुद्ध दृष्टि विभावपर्याय और विभाव गुणों को न देखकर स्वभाव गुण, स्वभाव पर्याय का प्रतिपादन करती है। संसार मे राग-द्वेष आदिक युक्त जीव पाये जाते हैं। वे रागादि विकार जीव और कर्म दोनों के द्वारा होते हैं। जीव चैतन्य गुण युक्त हैं। कर्म अचेतन है। भिन्न द्रव्यो मे उपादान उपादेय भाव नही होता। निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध उनमे पाया जाता है। इस दृष्टि से रागादिक को जीव और पुद्गल दोनों के द्वारा उत्पन्न माना गया है। शुद्ध निश्चयनय कहता है जीव रागद्वेष आदि नही है "साक्षात् शुद्धनिश्चयनयेन तेषा मुत्पत्तिरेव नास्ति।" यदि व्यवहारनय सापेक्ष निश्चय न हो तो सम्यग्ज्ञानरूपी सूर्य को मिथ्याज्ञान रूपी राहु ग्रस लेगा। दोनो दृष्टियाँ समीचीन हैं। समन्तभद्र स्वामी ने लिखा है—निरपेक्षा. नया: मिथ्या। जो निश्चयनय व्यवहार को असत्य मानता है वह स्वय मिथ्या हो जाता है। इसी प्रकार जो व्यवहारनय निश्चयनय के कथन को सर्वथा मिथ्या मानता है वह भी मिथ्या हो जाता है। सापेक्षनय यथार्थ है और कार्यकारी है।

यहाँ भव्य अभव्य के सम्बन्ध मे जो कथन किया गया है वह स्याद्वाद दृष्टि के प्रकाश मे जानना चाहिये। अभव्य जहाँ निश्चयनय से सिद्ध है वहाँ व्यवहारनय से अनन्त ससारी है। वर्तमान पर्याय की अपेक्षा अभव्य अनन्त ससारी हैं। भव्य और अभव्य की पहिचान सिवाय सर्वज्ञ की वाणी के अन्य साधन से नही होती। यह विशेष बात है कि समवसरण में भव्य जीव भगवान के प्रभामण्डल मे अपने सात भव देखता है। उससे भी भव्यपने का परिज्ञान होता है। लोग अपने को सम्यग्दृष्टि कहते फिरते हैं किन्तु उन्हें यह पता नहीं है कि वे भव्य जीव हैं या अभव्य जीव हैं? आत्म कल्याण करने की दृष्टि से इस गुत्थी को सुलझाने के बदले अपना ध्यान जिनेन्द्र भगवान के द्वारा प्रतिपादित मार्ग पर चलने मे है।

दसणणाण चरित्ताणि मोक्ख मग्गोऽत्ति सेविदव्वाणि।
साधूहि इदं भणिदं तेहिं दु बन्धो व मोक्खो वा॥

दर्शन-ज्ञान-चरित्राणि मोक्षमार्ग इति सेवितव्यानि।
साधुभिरिदं भणितं तैस्तु बन्धो वा मोक्षो वा॥ १६४॥

सत्पुरुषो ने कहा है, कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यग्चारित्र मोक्ष का मार्ग है। इस कारण ये रत्नत्रय साधुओ के लिए आराध्य हैं। इनके द्वारा बध होता है अथवा मोक्ष होता है।

विशेष—पूज्यपाद स्वामी ने लिखा है "सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्रं मित्येतत्त्रितय समुदितं मोक्षस्य साक्षान्मार्ग·" सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यग्चारित्र ये तीनो मिलकर मोक्ष के साक्षात् मार्ग हैं।

समयसार मे कहा है कि सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र ये व्यवहार मोक्ष मार्ग कहे गये हैं—

ववहारे-णुवदिस्सइ णाणिस्स चरित्त-दसण णाणं।
णवि णाण ण चरित ण दसण जाणगो सुद्धो॥ ७॥

ज्ञानी के व्यवहारनय से दर्शन ज्ञान चारित्र कहे हैं। निश्चयनय से ज्ञानी के ज्ञायक भाव है ज्ञान दर्शन तथा चारित्र नहीं है। तत्त्वानुशासन में कहा है-

मोक्ष हेतुः पुनर्द्वेधा निश्चय व्यवहारतः।
तत्राद्य. साध्यरूप. स्याद् द्वितीयस्तस्य साधनं॥२८॥

मोक्ष का हेतु निश्चय और व्यवहार के भेद से दो प्रकार हैं। उनमें निश्चय हेतु साध्य है व्यवहार रत्नत्रय साधन है।

धर्मादि श्रद्धानं सम्यक्त्वं ज्ञान मधि गमस्तेषां ।
चरणं च तपसि चेष्टा व्यवहारान्मुक्ति हेतु रयं ॥३०॥

धर्मादि द्रव्यो का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। उनका जानना सम्यग्ज्ञान है। तपश्चरण में अपने को लगाना चारित्र है। यह व्यवहारनय से मोक्षमार्ग जानना चाहिए।

यो मध्यस्थः पश्यति जानात्यात्मानमात्मनात्मन्यात्मा ।
दृगवगमचरण रूपःस निश्चयान्मुक्ति हेतुरिति जिनोक्तिः ॥३१॥

जिनेन्द्र देव ने कहा है कि जो सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र रूप रागद्वेषादि रहित मध्यस्थ भाव समलंकृत आत्मा अपनी आत्मा के द्वारा आत्मा में अपने ही आत्मा को जानता है देखता है वह निश्चयनय से मोक्षमार्ग कहा है।

दोनो प्रकार का मोक्षमार्ग आत्मा के ध्यान मे प्राप्त होता है इसीलिए ज्ञानी पुरुषों को आलस्य छोड़ ध्यान का सदा अभ्यास करना चाहिए। इसमे प्रयत्नपूर्वक ध्यान करना मुनीश्वरों का कर्त्तव्य है।

शुद्ध आत्माश्रित सम्यकदर्शन ज्ञान चारित्र मोक्ष के कारण है, पंच परमेष्ठी आदि प्रशस्त द्रव्याश्रित रत्नत्रय पुण्यबन्ध का कारण है। मिथ्यात्व, विषय, कषाय निमित्त पर द्रव्याश्रित परिणाम पाप बंध के कारण कहे गये हैं।

"शुद्धाशुद्ध रत्नत्रयाभ्याम् यथाक्रमेण मोक्ष-पुण्य बन्धो भवतः।" शुद्ध रत्नत्रय से मोक्ष प्राप्त होता है। अशुद्ध रत्नत्रय में पुण्य का बन्ध होता है।

शंका—रत्नत्रय मोक्ष का कारण कहा है। यहाँ उसे मोक्ष का एवं बन्ध का कारण कहा गया है। जो भाव बन्ध का कारण होगा वह मोक्ष का कैसे हेतु होगा ?

समाधान— महाव्रती साधु व्यवहार मुनिमार्ग की क्रिया करते हुए पुण्य का बन्ध करते हैं। इसके साथ वे पाप कर्म की निर्जरा करते है और संवर भी करते हैं। इसीलिए आचार्य ने पुण्य बन्ध की दृष्टि से रत्नत्रय को बन्ध का हेतु कहा है। पाप कर्म का संवर और निर्जरा द्वारा उन भावों में मोक्ष हेतुपना पाया जाता है।

आचार्य अकलंक देव ने राजवार्तिक मे 'तपसा निर्जरा च' सूत्र (अ ९ सूत्र ३) कहा है कि—तप अभ्युदय का कारण है वह संवर का हेतु है और निर्जरा का भी कारण है। जो भाव पुण्य तथा वैभव के हेतु है वे मोक्ष के कारण कैसे कहे जायेंगे ? आचार्य ने कहा है कि एक पदार्थ से अनेक कार्य होते हैं। एक अग्नि भोजन, परिपाक, दाह आदि अनेक कार्यों को करती है इसी प्रकार तप के परिणामो द्वारा प्रकृष्ठ पुण्यबन्ध के सिवाय अशुभ कर्मों की निर्जरा होती है—"तपोभ्युदय-कर्मक्षय हेतु रित्यत्र को विरोधः"।

यहाँ ग्रन्थकार ने रत्नत्रय के द्वारा मोक्ष होता है, बन्ध भी होता है, कहा है इस कथन की पुष्टि मोक्ष प्राभृत के इन शब्दों से होती है।

अज्ज वि तिरयणसुद्धा अप्पा झाएवि लहदि इंदत्तं ।
लोयंतिय-देवत्तं तत्थ चुआ णिव्वुदिं जंति ॥७७॥

इस पंचमकाल में शुद्ध रत्नत्रयधारी आत्मा का ध्यान करके इन्द्र पद को तथा लौकान्तिक देव के पद को प्राप्त करते हैं तथा वहाँ से चयकर के आगामी भव में मोक्ष जाते है। यहाँ रत्नत्रय के द्वारा बन्ध का कथन किया गया है। इस बन्ध के साथ रत्नत्रय धारी आत्मा कर्मों की निर्जरा करती है तथा संवर भी उस आत्मा के होता है। महाव्रती मुनि महाव्रत के परिणाम द्वारा अविरत जनित आस्रव को रोकता है। उस महाव्रती के तप के द्वारा निर्जरा भी होती है और शुभ भावों के कारण पुण्य बन्ध होता है। इस प्रकार रत्नत्रय के द्वारा बन्ध मानना और मोक्ष को स्वीकार करना अविरुद्ध बात है।

इस सन्दर्भ में अमृतचन्द स्वामी का यह कथन भी ध्यान देने योग्य है। वे रत्नत्रय को बन्ध का हेतु नहीं मानते। उन्होंने लिखा है—

रत्नत्रयमिह हेतुर्निर्वाणस्यैव भवति नान्यस्य ।
आस्रवति यत्तु पुण्यं शुभोपयोगोऽयमपराधः ॥२२० पु सि॥

रत्नत्रय मोक्ष का ही कारण है। वह बन्ध का कारण नहीं है। रत्नत्रयधारी के जो पुण्य का आस्रव होता है वह अपराध शुभोपयोग का है। गोम्मटसार कर्मकाण्ड में लिखा है कि अपूर्वकरण गुणस्थान के छटे भाग में तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध होता है "छट्ठे भागे तित्थ" (गाथा ९९) तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध आठवें गुणस्थान में कहा है। वहाँ शुद्धोपयोग है। शुक्लध्यान है। शुद्धभाव है। इसीलिये तीर्थंकर रूप पुण्य प्रकृति का बन्ध शुद्धोपयोगी के भी होता है। ऐसी आगमवाणी है।

कुन्दकुन्द स्वामी ने रत्नत्रय को मोक्ष का कारण कहा है और बन्ध का भी क्योंकि व्यवहार रत्नत्रय धारक मुनि के बन्ध होगा, पाप का संवर और निर्जरा दोनों होगी। दोनों दृष्टियों में समन्वय हेतु विचार आवश्यक है।

अण्णाणादो णाणी जदि मण्णदि सुद्धसंपओगादो ।
हवदि त्ति दुक्ख-मोक्खं परसमयरदो हवदि जीवो ॥
अज्ञानात ज्ञानी यदि मन्यते शुद्धसंप्रयोगात् ।
भवतीति दुःखमोक्षं परसमयरतो भवति जीवः ॥१६५॥

सम्यग्ज्ञानी जीव यदि शुद्ध आत्मा के परिज्ञान से भिन्न अज्ञानवश यह मानता है कि शुद्ध सम्प्रयोग अर्थात् अरहन्त भगवान आदि की भक्ति से दुखों का नाश होता है तो वह परसमय में अनुरक्त है ऐसा जानना चाहिये।

विशेष मोक्ष का साक्षात् कारण अभेद रत्नत्रय रूप अपनी आत्मा है। जिनेन्द्र भक्ति आदि के द्वारा पुण्य का बन्ध होता है। यहाँ 'शुद्ध-सम्प्रयोग' शब्द आया है। उसका अर्थ आचार्य जयसेन ने इस प्रकार किया है "अर्हदादिषु सम्प्रयोगो भक्तिः शुद्ध सम्प्रयोग" अरहन्तादिक में भक्ति शुद्ध सम्प्रयोग है यह प्रशस्तराग रूप परिणति है। प्रशस्तराग के द्वारा परम्परा से मोक्ष प्राप्त होता है। [मोक्षपाहुण्ड गाथा १५१ में कुंदकुंद स्वामी ने कहा है कि जिनेन्द्र भगवान के चरण कमलों की भक्ति करने वाला व्यक्ति संसार रूपी बेल के मूल का उच्छेद करता है।] वह आत्मा अन्तरात्मा है, जो परमात्म पद को क्रमश प्राप्त करता है। जिनेन्द्र भक्ति का बड़ा महत्त्व है। शीलपाहुण्ड में कुन्दकुन्द स्वामी ने "अरहन्ते सुहभत्ती सम्मत्त" (४६) अरहन्त भगवान में प्रगाढ भक्ति सम्यक्त्व है ऐसा कहा है। जिनेन्द्र भक्त को मोक्षमार्ग में स्थित कहा गया है। मोक्षपाहुण्ड में लिखा है—

"देवगुरुणं भत्ता णिव्वेय परम्परा विचितता ।
झाणरया सुचरित्ता ते गहिया मोक्खमग्गम्मि ॥८२॥

देव तथा गुरु का भक्त, वैराग्य भाव युक्त ध्यान मे तत्पर उज्ज्वल चरित्र वाले व्यक्ति मोक्षमार्ग में स्थित माने गये हैं । इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वैराग्य भाव समलंकृत निर्मल ध्यान मे रत पवित्र चरितवाला मोक्षमार्गी है, ससारमार्गी नही है ।

भाव सग्रह मे लिखा है निदान न करने वाला सम्यग्दृष्टि पुण्य के फलस्वरूप स्वर्गलोक मे जाता है । आयु के पूर्ण होने पर मनुष्य भाव को धारण करता है और यदि वह चरम शरीरी है तो वह यथाख्यात चारित्र तथा केवलज्ञान को प्राप्त कर निर्वाण जाता है । उन्होने लिखा है—

तम्हा सम्मादिट्ठी पुण्य मोक्खस्स कारण हवई ।
इय णाऊण गिहत्थो पुण्ण चायरउ जत्तण ॥४२४॥

इसीलिये सम्यक्त्वी का पुण्य मोक्ष का कारण होता है इस बात को जानकर गृहस्थ को प्रयत्नपूर्वक पुण्य का उपार्जन करना चाहिये ।

मोक्ष मार्ग मे पुण्य का विशेष स्थान है । पुण्य और पाप सर्वथा समान नही है । पाप घातिया कर्म है पुण्य अघातिया कर्म है । पुण्यवान व्यक्ति चार घातिया कर्मो का क्षय करके केवलज्ञान प्राप्त करता हुआ तीर्थंकर नाम की पुण्य प्रकृति के उदय होने पर मोक्षमार्ग की देशना देता है । इस जिनेन्द्र भक्ति आदि शुभ-कार्यो को शुद्ध सम्प्रयोग कहा है, क्योकि भक्ति के द्वारा जीव के भावो मे सक्लेश नही रहता । जिनेन्द्र भक्त के विशुद्ध परिणामो द्वारा कर्मो की निर्जरा होती है । पुण्य बन्ध भी होता है । कभी-कभी सम्यक्त्वी के सवर और निर्जरा परिणाम को ध्यान मे न रखकर उसके द्वारा की गई सद्प्रवृत्तियो को बन्ध का ही कारण कहा जाता है । वास्तव मे देखा जाये तो उसके पुण्य बन्ध होता है सवर निर्जरा भी होती है ।

अरहंत-सिद्ध-चेदिय-प्रवयण-गण-णाण-भत्ति-सपण्णो ।
बंधदि पुण्णं बहुसो ण दु सो कम्मक्खयं कुणदि ॥

अर्हत्सिद्ध-चैत्य-प्रवचन-गण-ज्ञान भक्तिसम्पन्न ।
बन्धति पुण्य बहुशो न तु स कर्मक्षय करोति ॥१६६॥

अरहन्त, सिद्ध, जिनप्रतिमा, जिनवाणी, साधु परमेष्ठी तथा ज्ञान की भक्ति युक्त व्यक्ति महान पुण्य का बन्ध करता है वह कर्मो का क्षय नही करता है ।

विशेष—अरहतादि की भक्ति सम्पन्न जीव महान पुण्य का बन्ध करता है । सम्पूर्ण कर्मों का क्षय नही करता है "बहुशः पुण्यं बध्नाति न खलु सकलकर्मक्षयमारभते" वह व्यक्ति महान पुण्य को प्राप्त करता है, किन्तु सकलकर्मक्षय को नही करता । यहाँ सकलकर्मक्षय शब्द ध्यान देने योग्य है । सम्यक्दृष्टि होने से वह अपनी उज्ज्वल प्रवृत्तियो के द्वारा पापकर्म का क्षय करता है सम्पूर्ण कर्मों का क्षय नही करता । सम्यक्दृष्टि जीव अपनी निर्मल प्रवृत्तियो के द्वारा पुण्यबन्ध के साथ-साथ कर्मों का क्षय भी करता है ।

तत्त्वार्थसूत्र मे क्रमशः निर्जरा करने वालों के एकादश स्थान इस प्रकार कहे हैं— सम्यग्दृष्टि, श्रावक, सकलसंयमी, अनन्तानुबन्धी का विसंयोजन करने वाला, दर्शनमोह का क्षय करने वाला, कषायों का उपशम

करने वाले अपूर्वकरण अनिवृत्ति करण और सूक्ष्मसम्प्रदाय गुणस्थान वाले जीव कषायों का क्षय करने वाले आठ, नौ, दसवे गुणस्थानवर्ती जीव क्षीण मोह तथा सयोग केवली अयोग केवली के द्रव्य की अपेक्षा कर्म की क्रम से असंख्यातगुणी अधिक निर्जरा होती है। "सम्यग्दृष्टि-श्रावक, विरतानन्त-वियोजक-दर्शनमोह-क्षपकोप-शान्तमोह-क्षपक-क्षीणमोह जिनाः क्रमशोऽसंख्येय गुण निर्जराः" (अध्याय ६ सूत्र ४५)। सहस्रनाम मे लिखा है कि जिनेन्द्र की भक्ति मोक्ष का कारण है—

स्तुतिः पुण्य गुणोत्कीर्तिः स्तोता भव्य. प्रसन्न धी.।
निष्ठितार्थो भवास्तुत्यः फल नैश्रेयस सुखं ॥११॥

जिनेन्द्र देव के पुण्य गुणों का संकीर्त्तन स्तुति है। अर्थात् भगवान के पवित्र गुणो का प्रतिपादन स्तुति मे किया जाता है। स्तुति करने वाला भव्य जीव है, जिसकी बुद्धि निर्मल है। तथा कृतकृत्य अर्थात् जिन्हे कोई काम करना शेष नही रहा। ऐसे जिनेन्द्र भगवान स्तुत्य-स्तुति के पात्र हैं। और इस स्तुति का फल मोक्ष की प्राप्ति है। जिनेन्द्र की स्तुति से पाप की शान्ति भी होती है। सहस्र नाम की पीठिका मे लिखा है—

एव स्तुत्वा जिन देव भक्त्या परमया सुधी।
पठेदष्ठोत्तर नाम्ना सहस्र पापशातये॥

इस प्रकार महान भक्ति युक्त हो बुद्धिमान व्यक्ति पापो की शान्ति के लिये सहस्रनाम पाठ पढे। यहाँ जिनेन्द्र भक्ति द्वारा पापक्षय का कथन किया है। जिनेन्द्रभक्ति मुक्ति मन्दिर मैं प्रवेश करने का प्रमुख द्वार है। सच्ची भक्ति वाला शीघ्र मुक्ति पाता है। सौधर्म इन्द्र की इन्द्राणी जिनेन्द्र भक्ति के प्रसाद से सौधर्म इन्द्र की अपेक्षा स्वर्ग से चयकर के शीघ्र मोक्ष पाती है। आगम मे कहा है सौधर्म इन्द्र उनकी प्रमुख इन्द्राणि दक्षिणेन्द्र लोकपाल लौकान्तिक देव स्वर्ग से चयकर अपनी भक्ति के प्रसाद से मानव पर्याय को पाकर अभेद रत्नत्रय की समाराधना द्वारा मुक्ति रमापति बनते हैं। जो भक्ति को बन्ध का ही कारण कहते है और उसके महत्त्व को नही जानते वे विपरीत श्रद्धावान् हैं।

जस्स हिदयेणुमत्तं वा परदव्वम्हि विज्जदे रागो।
सो ण विजाणदि समयं सगस्स सव्वागम धरोवि॥
यस्य हृदयेऽणुमात्रो वा परद्रव्ये विद्यते रागः।
स न विजानाति समयं स्वकस्य सर्वागमधरोपि॥१६७॥

जिस पुरुष के हृदय मे परद्रव्य मे अणुमात्र ही राग का सद्भाव है, वह सम्पूर्ण आगम का ज्ञाता होते हुए भी शुद्ध-आत्मस्वरूप को नही जानता है।

विशेष— शुद्धात्मा रागादि विकार रहित है। अत जिसके हृदय में सूक्ष्म रूप में भी राग भाव रूप मलिनता होगी, वह शुद्धात्मा को नही जानता है। सूक्ष्म साम्पराय नाम के दसवे गुणस्थान मे सूक्ष्म लोभ का सद्भाव कहा है। इसीलिये शुद्धोपयोगी और श्रेणी पर आरोहण करने वाली अत्यन्त पवित्र आत्मा भी कषायांश का सद्भाव रहने से शुद्ध आत्मा का परिज्ञान करने मे असमर्थ है। यथाख्यात चारित्र होने पर कषाय नही रहती है। इसीलिये यथाख्यातचारित्र वाले महामुनि स्वसमयका परिज्ञान मे समर्थ होते हैं। शुद्धआत्म स्वरूप के परिज्ञान के लिये मोह तथा कषायोदय जनित कालिमा का पूर्ण अभाव आवश्यक है। सर्व शास्त्रों का ज्ञान होते हुए भी पर द्रव्य मे रागवाला स्वसमययुक्त नहीं कहा है। शास्त्रों का महान ज्ञान ज्ञानावरणकर्म के क्षयोपशम से होता है। शुद्ध आत्मोपलब्धि मोहनीय कर्म के उदय होते हुए नहीं होगी।

यह बात विशेष ध्यान देने की है कि जब दसवें गुणस्थान वाली आत्मा अणुप्रमाण राग के कारण स्वसमय को जानने में असमर्थ है, तब गृहस्थ या सकल संयमी नीचे के गुणस्थान वाले कैसे शुद्धात्मानुभव के पात्र हो सकेंगे।

समाधिशतक में पूज्यपाद स्वामी ने लिखा है कि जिनेन्द्र की आराधना द्वारा परमात्मा का पद प्राप्त हो सकता है।

भिन्नात्मान-मुपास्यात्मा परो भवति तादृशः ।
वर्तिर्दीपं यथोपास्य भिन्ना भवति तादृशी ॥ ९७ ॥

जैसे दीपक से बत्ती भिन्न है, वह दीपक की उपासना करके प्रकाश रूप बन जाती है, उसी प्रकार अपनी आत्मा से भिन्न अरहंत सिद्ध परमात्मा की उपासना अर्थात आराधना द्वारा आत्मा उनके समान बन जाता है। निरालम्बन आराधना के विषय में कहते हैं—

उपास्यात्मानमेवात्मा जायते परमोऽथवा ।
मथित्वात्मानमात्मैव जायतेऽग्निर्यथा तरु ॥९८॥

आत्मा अपने आत्म-स्वरूप की आराधना द्वारा परमात्मा बन जाता है। जैसे बाँस की लकड़ी परस्पर मे रगडकर अग्नि रूप हो जाती है। यहाँ यह बताया है कि जैसे बाँस के वृक्ष मे रगड से स्वय अग्निपना उत्पन्न हो जाता है, उसी प्रकार आत्मा चिन्दानन्दमय अपने स्वरूप की उपासना कर परमात्मा हो जाता है। शुद्धात्मा की अनुभूति के लिये महान श्रम विशुद्धि चाहिये। गृहस्थ के शुद्धात्मानुभूति होती है ऐसा लोग सोचते है। किन्तु आचार्य परम्परा और आगम इसे ठीक नही बताता। प्रवचनसार की गाथा २५४ की टीका मे कहा है "गृहिणा तु समस्तविरतेरभावेन शुद्धात्म प्रकाशनस्या भावात" गृहस्थो के समस्त पापो का त्याग रूप महाव्रत न होने से अशुद्ध आत्मा का अनुभव होता है। यहाँ ग्रन्थकार ने इस बात को स्पष्ट कर दिया कि सूक्ष्म कषाय युक्त दसवाँ गुणस्थानवर्ती महामुनि भी शुद्धात्मा को नही जानता है। जब वह उस सूक्ष्म राग को दूर कर देता है तब वह विशुद्ध आत्मा की अनुभूति का पात्र है। विशुद्ध ज्ञान, दर्शन रूप आत्मा का दर्शन के लिये कषाय का लेश भी नही चाहिये यह तत्व गाथा मे स्पष्ट किया गया है। समयसार मे कहा है—

परमाणु मित्तयं पिहु रायादीण दु विज्जदे जस्स ।
णवि सोजाणदि अप्पाणयंतु सव्वागमधरोवि ॥ २० ॥

जिसके परमाणु प्रमाण भी राग का सद्भाव है, वह द्वादशांग का पाठी होते हुए भी शुद्ध आत्मा को नहीं जानता है।

धरिउं जस्स ण सक्कं चित्तुब्भामं विणा दु अप्पाणं ।
रोधो जस्स ण विज्जदि सुहासुह कदस्स कम्मस्स ॥
धर्तुं यस्य न शक्य-श्चित्तोद्भामं बिना त्वात्मानं ।
रोधस्तस्य न विद्यते शुभाशुभ कृतस्य कर्मणः ॥ १६८ ॥

जिस आत्मा के रागादि जनित भ्रम का निरोध नहीं होता है, उसके शुभ और अशुभ कर्म का निरोध नहीं होता है।

विशेष— आस्रव का निरोध संवर है। आस्रव का कारण रागादि हैं। जब कारण विद्यमान हैं, तब उसका फल होना अवश्यम्भावी है। रागादि के दूर होने पर ही शुभ अशुभ रूप कर्मों का संवर हो सकेगा। समयसार मे कहा है -

रत्तो बधदि कम्म मुचदि जीवा विराग संजुत्तो।
एसो जिणोवए सो तम्हा कम्मेसु मा रज्ज ॥ १५० ॥

रागी आत्मा कर्मों का बन्ध करता है। राग रहित विरागी बन्धो से मुक्त होता है। यह जिनेन्द्र भगवान की वाणी है। इसीलिये कर्मों के विषय मे राग भाव का परित्याग करो।

सामान्यतया यह सोचा जाता है कि सम्यग्दृष्टि के संवर होता है और वह बन्ध से छूट जाता है। यह बात विचारणीय है, कि जब बन्ध के कारण मिथ्यात्व अविरति कषाय और योग है, तब तक संवर कैसे सम्भव है। मिथ्यात्व के अभाव मे सम्यक्त्व कृत संवर होगा। असयम के अभाव मे संयमकृत संवर होगा। कषाय के अभाव मे अकषाय भाव के द्वारा संवर होगा और अयोगी होने पर योग जनित संवर होगा। षट्खण्डागम सूत्र मे कहा है -

सम्माइट्ठी बधावि अत्थि अबधावि अत्थि ॥३१॥ अकसाई बधावि अत्थि। अबधावि अत्थि ॥२०॥ केवलणाणी बधावि अत्थि, अबधावि अत्थि ॥२३॥ (क्षुद्रकबंध)-सम्यक् दृष्टि के बन्ध भी होता है अबन्ध भी होता है। कुन्दकुन्द स्वामी ने चार बन्ध के कारण कहे है

मिच्छत्तं अविरमण कसायजोगा य बोद्धव्वा।

इसीलिये अविरत सम्यग्दृष्टि के मिथ्यात्व का कारण दूर हो जाने पर बन्ध का कारण नही होता। वहाँ अविरति आदि कारण पाये जाते है इसीलिये सम्यग्दृष्टि को एक अपेक्षा से बन्धक कहा है, दूसरी दृष्टि से अबन्धक कहा है। कषाय रहित आत्मा के कषायनिमित्त, बन्ध नही होगा, किन्तु योग का सद्भाव रहने से योग निमित्तक बन्ध होगा। कषाय रहित होने से प्रकृति प्रकृति और प्रदेश बन्ध होगे। स्थिति बन्ध और अनुभाग बन्ध नहीं होगे क्योकि 'जोगा पयडि पदेसा ठिदिअणुभागा कसायदोहोन्ति' योग के कारण प्रकृति और प्रदेश बन्ध होते है तथा कषाय से स्थिति बन्ध और अनुभाग बन्ध कहे है। केवलज्ञानी के भी बन्ध होता है और बन्ध नही भी होता ऐसा कहा है। सयोग केवली भगवान के योग के कारण साता वेदनीय कर्म का बन्ध होता है। बन्ध के अन्य कारण न रहने से उन्हे अबन्धक भी कहा है। अयोग केवली गुणस्थान मे योग का अभाव हो गया है इसीलिये वहाँ पूर्ण संवर होता है।

गोम्मटसार मे कहा है-

सीलेसिं सपत्तो णिरुद्ध-णिस्सेस-आसवो जीवो।
कम्मरय-विप्पमुक्को गयजोगो केवली होदि ॥ ६५ ॥

अयोग केवली नामके चौदहवे गुणस्थान में भगवान के अठारह हजार शील के भेदो का स्वामीपना होता है इसीलिये उन्हे शीलेश कहते है। उनके सम्पूर्ण आस्रव के द्वार बन्द हो जाने से कर्म रज का आगमन रुक गया है, क्योंकि वे गतयोग अर्थात अयोगी हो गये हैं, पूर्ण संवर युक्त होने से वे अयोग केवली भगवान पच-लघु अक्षर-अ इ उ ऋ लृ के उच्चारण मे जितना समय लगता है उतने समय में मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं।

रागादि कषाय का सद्भाव सूक्ष्म साम्पराय नामके दसवें गुणस्थान तक है। इसीलिये वहाँ कषाय जनित बन्ध होगा। यथाख्यात चारित्र की आगे प्राप्ति हो जाने पर कषाय निमित्तक बन्ध नहीं होगा। यौग

के कारण अकषाय अवस्था मे भी बन्ध माना गया है। इस महान मुनीन्द्रो की वाणी के प्रकाश मे जो अविरत सम्यग्दृष्टि के ही पूर्ण बन्ध न होने की परिकल्पना किये हुये हैं,उन्हें अपनी बुद्धि और धारणा मे परिवर्तन लाना चाहिये, क्योंकि पूर्वाचार्य परम्परा की देशना को अमान्य करने वाला मिथ्यादृष्टि कहा गया है। रयणसार मे लिखा है कि "पूर्वाचार्यक्रमेण यःतत् भाषते सद्दृष्टि" पूर्वाचार्यों की देशना के अनुकूल जो बोलता है वह सम्यग्दृष्टि है। रयणसार मे कहा है—

मदिसुद णाणबलेण दु सच्छंद दोलए जिणुत्तमिदि ।
जो सो होइ कुदिट्ठो ण होइ जिणमग्गरवो ।। ३ ।।

मति श्रुत ज्ञान के अहंकारवश जो स्वच्छन्द प्रतिपालन करता है और उसे जिनोक्त कहता है, वह मिथ्यादृष्टि है, क्योकि वह जिनेन्द्र प्रतिपादित मार्ग मे अनुरक्त नही है। पूर्वाचार्य वाणी को शिरोधार्य करना विवेकी व्यक्ति का पवित्र कर्त्तव्य है।

यहाँ अमृतचन्द्र सूरि ने कहा है, कि अरहन्त भगवान की आदि की भक्ति मे राग का सद्भाव पाया जाता है। उससे शुभ अशुभ कर्मों का निरोध नहीं होता। वास्तव मे मुक्ति प्राप्ति हेतु साधु को सर्वथा परालम्बन छोडना आवश्यक है। मोक्ष की इच्छा भी मोक्ष प्राप्ति मे विघ्नकारी है। अकलंक स्वामी ने स्वरूप सम्बोधन मे कहा है—

यस्य मोक्षेऽपि नाकाङ्क्षा स मोक्षमधिगच्छति ।। २१ ।।
इत्युक्त्वात् हितान्वेषी काक्षा न क्वापि योजयेत् ।। २१ ।।

जिसके मोक्ष मे भी अभिलाषा नही होती है वह भव्यात्मा मोक्ष को प्राप्त करता है। ऐसा भगवान ने कहा है। इसीलिये आत्म कल्याण प्रेमियो को किसी भी विषय मे इच्छा नही करनी चाहिये। इच्छा मोह कर्म के उदय से उत्पन्न होती है। इसीलिय जब तक इच्छा रहेगी, तब तक ससार का अभाव नही होगा। जिनेन्द्र की भक्ति सम्बन्धी इच्छा पराश्रित है, इसीलिय वह भी शुक्लध्यान के लिये अनुकूल नही है किन्तु वह धर्मध्यान वाली आत्मा के लिये महान निधि है। समस्त कर्मों के अभाव रूप मोक्ष के लिये वह विघ्नकारी है। जिस तीर्थंकर प्रकृति के उदय से भगवान की दिव्य देशना जीवो को प्राप्त होती है, उस कर्मप्रकृति का भी चौदहवें गुणस्थान के अन्तिम समय मे क्षय किया जाता है। इसीलिये राग का लेश भी मोक्ष के लिये उपकारी नही है।

तम्हा णिव्वुदि कामो णिस्संगो णिम्ममो य हविय पुणो ।
सिद्धेसु कुणदि भत्ति णिव्वाणं तेण पप्पोदि ।।
तस्मान्निवृत्तकामो निस्सगो निर्ममश्च भूत्वा पुनः ।
सिद्धेषु करोति भक्ति निर्वाण तेन प्राप्नोति ।। १६९ ।।

इसीलिये मोक्ष की कामना करने वाला सर्वप्रकार का सगरहित तथा ममता रहित होकर पारमार्थिक स्वसंविति रूप सिद्ध भक्ति को करता है, उस स्वममय रूप प्रवृत्ति के फलस्वरूप वह स्वात्मोपलब्धि स्वरूप निर्वाण को प्राप्त करता है।

विशेष—यहाँ सिद्ध भक्ति का भाव पारमार्थिक आत्मसंवित्ति है। "पारमार्थिक स्वसंवित्ति रूपा सिद्धभक्तिः" मोह कर्म के उदय से उत्पन्न ममकार और अहंकार आदि विकल्प जाल का त्याग करने पर

आत्मा निर्मम बनता है तथा वह ममता का त्यागकर समता का स्वामी होता है। पारमार्थिक सिद्ध भक्ति को धारण करने वाली आत्मा की स्वममय प्रवृत्ति रूप होती है। उस परम विशुद्धता के फलस्वरूप निर्वाण प्राप्त होता है।

यहाँ यह बात ध्यान देने की है कि मोक्ष का भाव अपने निजस्वरूप में सदा के लिये स्थित हो जाना है। वह अवस्था सम्पूर्ण कर्मों के क्षय होने पर ही प्राप्त होती है। पूज्यपाद स्वामी ने इष्टोपदेश में कहा है कि मैं ज्ञानमय सिद्ध परमात्मा को प्रणाम करता हूँ जो शुभ अशुभ रूप विभाव भाव से मुक्त हो चुके हैं।

यस्य स्वयं स्वभावावाप्तिर भावे कृत्स्न कर्मणः।
तस्मै सज्ञान रूपाय नमोस्तु परमात्मने ॥ १ ॥

जिस आत्मा ने सम्पूर्ण द्रव्यकर्म और भावकर्म का क्षय कर लिया है और अपने स्वभाव को प्राप्त किया है उन कृतकृत्य अनन्त ज्ञानपुंज सिद्ध परमात्मा को नमस्कार हो। आत्मा को जो सर्वदा शुद्ध बुद्ध संसारावस्था में भी मानते हैं, वे आगम के मार्ग से विमुख हैं। वे सदाशिव नामके मिथ्याधर्मी सदृश हैं। यहाँ पूज्यपाद स्वामी कहते है सर्व कर्मो का क्षय होने पर सिद्धपद प्राप्त होता है।

प्रवचनसार मे कहा है—

सुद्धस्य य सामण्ण भणिय सुद्धस्य दसण णाण।
सुद्धस्य य णिव्वाण सोच्चिय सिद्धो णमो तस्स ॥२७४॥

मोक्षमार्ग का साक्षात् कारण सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र सहित श्रमणपना शुद्ध के ही होता है। शुद्ध के ही दर्शन, ज्ञान और चारित्र होते हैं। शुद्ध के ही निर्वाण होता है। सिद्ध भगवान शुद्ध ही है। उन्हें नमस्कार हो।

शुद्ध पद प्राप्ति के सम्बन्ध मे यह क्रम साधको के लिये बताया गया है। प्रत्येक प्राणी सुख की लालसा करता है। सांसारिक पदार्थों द्वारा प्राप्त सुख वास्तविक सुख नही है। अविनाशी अनन्त आनन्द का अक्षय भण्डार निर्वाण पद है। मुक्ति का कारण निर्जरा और संवर कहे गये हैं। संवर के द्वारा कर्मों का आगमन रुकता है। संयमी साधु तपस्या के द्वारा पूर्व संचित महान कर्म राशि को क्रम-क्रम से नष्ट कर देता है। पूर्ण संवर और निर्जरा के लिये अभेद रत्नत्रय कारण है। अभेद रत्नत्रय का साधन व्यवहार रत्नत्रय है। मोक्ष-मार्ग के पथिक को प्रथम अवस्था मे देव गुरु शास्त्र की भक्ति रूप व्यवहार सम्यग्दर्शन आवश्यक है। वह आत्मा जब जिन दीक्षा को ग्रहण करती है, तब उसके व्यवहार रत्नत्रय निश्चय रत्नत्रय के साधक बनते हैं। शुभोपयोग परम्परा म मोक्ष का साधन है। वह शुद्धोपयोग अपनी आत्मा को ही ध्येय बनाता है। "तेन कारणेन शुद्धध्येयत्वात् शुद्धावलम्बनत्वात शुद्धात्म स्वरूपसाधकत्वात् च शुद्धोपयोगो घटते" इस कारण शुद्धात्मा ध्येय है। उसका अवलम्बन शुद्ध है। वह शुद्ध आत्म स्वरूप का साधक है। इसीलिये उसे शुद्धोपयोग कहना उपयुक्त है। प्रवचनसार मे शुभोपयोग को भी मोक्षप्रद कहा है, क्योंकि शुभोपयोगी के भी धर्म का सद्भाव पाया जाता है। शुभोपयोगी आत्मा के धर्मध्यान होता है। वह धर्मध्यान शुभोपयोग रूप है। वह चौथे गुणस्थान से सातवें तक है, जिनसे क्रमशः असंख्यात-गुण श्रेणी कर्मों की निर्जरा होती है। संवर भी पाया जाता है। अमृतचन्द्रसूरि ने लिखा है "शुभोपयोगिनोपि धर्म सद्भावात्" (गाथा २४५ प्रवचनसार) कुन्दकुन्द स्वामी ने कहा है--

धम्मेण परिणदप्पा अप्पा जदि सुद्धसंपयोगजुदो।
पावदि णिव्वाणसुहं सुहोवजुत्तो व सग्गसुहं ॥ ११ ॥

धर्म से परिणत आत्मा दो प्रकार की है। जो धर्म से परिणत आत्मा शुद्धोपयोगी है वह निर्वाण का सुख प्राप्त करती है। जो धर्म से परिणत आत्मा देव, गुरु आदि की भक्ति रूप शुभोपयोग युक्त है वह स्वर्ग सुख को प्राप्त करता है। शुभोपयोग और अशुभोपयोग समान नहीं है। अशुभोपयोग में धर्म का लवलेश भी नहीं है। शुभोपयोग के द्वारा प्रशस्त परिणामों के फलस्वरूप जीव स्वर्ग में पूर्व–अर्जित पुण्य कर्म का फल भोगकर नर जन्म को पाता है। और यहाँ रत्नत्रय की उच्च समाराधना द्वारा मुक्ति मन्दिर में प्रवेश करता है। विषय कषाय पाप हैं। उनमें अनुरक्त व्यक्ति पाप कहे गये हैं। पापी और पुण्यात्मा को एक–सा मानना अयोग्य है। शुभ अशुभ की भिन्नता की ओर दृष्टि न दे कर के बनारसीदास जी ने अपने समयसार में पुण्यबंध और पाप बंध के विषय में लिखा है—

"दोउ महा अंध कूप दोउ कर्म बंध रूप" कहते हुए शील संयम आदि को कुशील असंयम कषाय के समान मानते हुए कहा है। उनके ये शब्द विचारणीय हैं—

> सील तप सयम विरति दान पूजादिक।
> अथवा असयम कषाय विषै भोग है॥
> कोउ शुभरूप कोउ अशुभरूप मूल।
> वस्तुके विचारत दुविध कर्म रोग है॥

आगम में दान पूजा को मोक्ष का कारण कहा है। रयणसार में लिखा है "दान पूजा मुक्खं सावय–धम्मे" दान और पूजा मुख्य श्रावक धर्म है। चारित्र पाहुण्ड में दान पूजा आदि को श्रावक धर्म कहा गया है। कुन्दकुन्द स्वामी ने अपने अनुप्रेक्षा ग्रन्थ में लिखा है "पंचमहव्वयमणसा अविरमणणिरोहणं" (९२) पंच महाव्रत रूप परिणामों से अविरति का निरोध रूप संवर होता है। संवर मोक्ष का हेतु है इसीलिये शील संयम आदि को कैसे संसार का कारण कहा ?

यह बात तो निश्चित है, कि शुभोपयोग के बाद शुद्धोपयोग का आश्रय लेना मोक्ष का साक्षात् कारण है किन्तु शुभोपयोग युक्त जीवन भी मोक्षमार्ग में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है। आत्मानुशासन में लिखा है—

> यत्प्राग्जन्मनि सचित तनुभृता कर्माशुभ वा शुभम्।
> तद्दैवं तदुदीरणादनुभवन् दुःखं सुख वागतम्॥
> कुर्याच्छुभमेव सोऽप्यभिमतो यस्तूभयोच्छित्तये।
> सर्वारंभ परिग्रह–परित्यागी स बंध सताम्॥

जीव के द्वारा पूर्व जन्म में संचित अशुभ तथा शुभ कर्म दैव कहे गये हैं उनकी उदीरणा होने पर भी सुख अथवा दुख का अनुभव करता है। इस स्थिति में जो शुभ कार्यों में प्रवृत्ति करता है वह भी मान्य है जो सर्व आरम्भ और परिग्रह का परित्यागी शुभ और अशुभ के त्याग के लिये प्रयत्न करता है वह शुद्ध पथ का पथिक सत्पुरुषों के द्वारा वन्दनीय है।

यहाँ ग्रन्थकार ने मोक्ष की कामना करने वाले महामुनि के लिये स्वसंवित्ति रूप सिद्ध भक्ति का कथन किया है।

सपयत्थं तित्थयरं अभिगदबुद्धिस्स सुत्तरोइस्स ।
दूरतरं णिव्वाणं संजम-तव-संपओत्तस्स ॥
सपदार्थं तीर्थंकर मभिगतबुद्धेः सूत्ररोचितः ।
दूरतरं निर्वाणं संयमतपः संप्रयुक्तस्य ॥ १७० ॥

जो सूत्र अर्थात जिनागम मे श्रद्धायुक्त है संयम एव तप से युक्त है,जीवादि पदार्थ तथा तीर्थंकर भगवान में संलग्न बुद्धि सहित है, उस पुरुष के मोक्ष अभी दूर हैं, वह शुभ परिणाम के फलस्वरूप सुर लोक से सुख भोगकर परम्परा से निर्वाण प्राप्त करता है।

विशेष-मोक्ष की प्राप्ति श्रेष्ठ आत्म निर्मलता पर निर्भर है। श्रेष्ठ कल्याणकारी सामग्री के होते हुए भी यदि रागांश है तो निर्वाण दूर है "दूरतरम् णिव्वाण"। आचार्य कहते हैं सयम, तप, आगमश्रद्धा, तीर्थंकर भक्ति नव पदार्थो का श्रद्धान आदि आत्मोन्नति की सामग्री प्राप्त होते हुए भी निर्वाण नहीं मिलता; क्योकि यहाँ शुभ परिणाम है उन शुभ परिणामो के द्वारा पुण्य का बन्ध होता है। स्वर्ग लोक में उच्चपद प्राप्त होते हैं। प्रवचनसार मे लिखा है—

सुह परिणामो पुण्णं असुहो पावत्ति भणियमण्णेसु।
परिणमो णण्णगदो दुक्खक्खयकारण समये ॥ १८१ ॥

शुभ परिणाम के द्वारा पुण्य की प्राप्ति कही गई है। अशुभ परिणाम से पाप का बन्ध कहा गया है। जो परिणाम शुभ अशुभ परिणाम से भिन्न है वह दुख क्षय का कारण है ऐसा आगम मे कहा है। सराग चारित्रधारी मुनीश्वर के कषाय का सूक्ष्मांश रहने से पुण्य का बन्ध होता है "निर्वाणसंप्राप्तिहेतुभूतं वीतराग-चारित्राख्य साम्यम्" निर्वाण प्राप्ति मे कारणभूत वीतराग चारित्र रूप साम्यभाव है। उस चारित्र के धारक मुनियों के परिणामो मे वास्तविक साम्यभाव प्रतिष्ठित रहता है। स्वरूप मे आचरण स्वसमय प्रवृत्ति रूप है। जीव के परिणामो मे मोहकृत विकार का अत्यन्त अभाव हो जाने से समता भाव रूप धर्म होता है "चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समोत्ति णिद्दिट्ठो"। मोक्षमार्ग की दृष्टि से 'शुद्धोपयोग उपादेयः शुभोपयोगो हेय" (गाथा ११ की टीका) शुद्धोपयोग उपादेय है शुभोपयोग हेय है। जीव के सक्लेश परिणाम होने पर पाप का आस्रव होता है। धर्मध्यान रूप विशुद्धि के होने पर सुख की प्राप्ति होती है।

तत्वानुशासन मे लिखा है कि चरमशरीरी मुनि को मोक्ष प्राप्त होता है। यदि वह चरम शरीरी नही है, तो उसके अशुभ कर्मो की निर्जरा होती है। वह योगी कल्पवासी देवों में उत्पन्न होता है। वहाँ के इन्द्रिय जनित सुख भोगने के पश्चात् वैभवशाली मनुष्यपद को पाकर भोगो से विरक्त हो दीक्षा धारण कर अक्षय मोक्ष को प्राप्त करता है।

वास्तव मे देखा जाय, तो आत्मा की जो संसार रूपी महान व्याधि है, उसके लिये वीतराग चारित्र रूपी परम औषधि उपकारी है अन्य वस्तु का रंचमात्र भी अवलम्बन विघ्नकारी है।

कहा है—

संसारोऽयं महाव्याधि र्यत्र वैद्यो न विद्यते ।
अथ चेद्विद्यते वैद्यः तदा स्वात्मैव नापरः ॥ ५५ ॥

यह संसार महाव्याधि रूप है। इसकी चिकित्सा करने वाला कोई वैद्य नहीं है। मगर कोई वैद्य है भी तो अपनी आत्मा के सिवाय दूसरा नही है। ध्यानसार में लिखा है—

अहो मोहस्य माहात्म्य मस्या संसारसन्ततौ।
आत्मानमेव मोहाच्च नैव प्रत्यभिज्ञायते ॥ २७ ॥

अरे मोह की महिमा कितनी अद्भुत है, इस संसार मे रहते हुए मोह के कारण यह जीव स्वयं अपनी आत्मा को नही जानता है। जिस प्रकार वर्षाकाल मे मेघराशि सूर्य के प्रकाश को पूर्णतया प्रगट नही होने देती है इसी प्रकार मोह भी आत्मा को घेरे रहता है। आत्मा और परमात्मा में कोई अन्तर नहीं है किन्तु राग भाव के कारण दोनों मे भेद पड़ गया है। ज्ञानी पुरुष इस प्रकार सोचते हैं—

मम शक्त्या गुणग्रामो व्यक्त्या च परमेष्ठिनः।
एतावान् आवयोर्भेदः शक्ति-व्यक्ति स्वभावतः ॥१०॥

मेरी आत्मा मे भी शक्ति की अपेक्षा अनन्त ज्ञानादि गुणो का समुदाय है। और सकल निकल परमात्मा मे भी वह गुण समुदाय है। उनमे वे गुण व्यक्त रूप में है। हममे और परमात्मा मे इतना ही भेद है।

महापुराण मे भगवान ऋषभदेव के जीवन से सम्बन्ध रखने वाली कथा महत्त्वपूर्ण है। मोक्ष जाने के दो भव पूर्व भगवान ऋषभदेव का नाम वज्रनाभि था उनके पिता वज्रसेन तीर्थंकर थे। वज्रनाभि ने अपने वज्रदन्त पुत्र को राज्य देकर पिता वज्रसेन तीर्थंकर के चरणो मे पहुँचकर उनसे दिगम्बर दीक्षा ली। उनके समीप षोडशकारण भावना का जो तीर्थंकर पद का कारण है उन्होंने चिन्तवन किया और उसके फलस्वरूप तीन लोक में क्षेम उत्पन्न करने वाली तीर्थंकर नामक महापुण्य प्रकृति का बन्ध किया—"सब बन्ध महत पुण्यं त्रैलोक्य क्षेमकारणम् (७६)" तीर्थंकर प्रकृति रूप महान पुण्य के कारण तीनों लोको के जीवों को अद्भुत आनन्द और शान्ति मिलती है।

मुनिराज वज्रनाभि ने अद्भुत निर्मलता के द्वारा ग्यारहवे गुणस्थान को प्राप्त किया "तदोपशमक-श्रेणीमा रुरोह मुनीश्वर. (७९)" वहाँ उनके शुद्धोपयोग था पृथक्त्व–वितर्क वीचार नामका शुक्लध्यान था। उन्होने मोहनीय कर्म का उपशम कर यथाख्यात चारित्र की परम विशुद्धता को प्राप्त किया था। मोह का क्षय न होने से मोह का उदय आ जाने से वज्रनाभि मुनीश्वर के परिणामो ने अप्रमत्त गुणस्थान मे स्थित करा दिया। इसके पश्चात् उन्होने पुनः उपशम श्रेणी पर आरोहण कर शुक्लध्यान के प्रसाद से औपशमिक चारित्र प्राप्त किया। उन्होंने दो बार उपशम श्रेणी पर आरोहण किया था "द्विवारमारुह्य–श्रेणी मुपशमादिकाम्" दो बार उन्होंने उपशम श्रेणी पर आरोहण किया—

उपशान्त गुणस्थाने कृतप्राण विसर्जनः।
सर्वार्थसिद्धि मासाद्य संप्रापत् सोहमिन्द्रताम् ॥१११॥

दूसरी बार उपशम श्रेणी पर चढने के पश्चात् उन्होने प्राणों का परित्याग किया। वे सर्वार्थसिद्धि मे अहमिन्द्र रूप मे उत्पन्न हुए। तेंतीस सागर पर्यन्त श्रेष्ठ सुख भोगकर वे भगवान ऋषभदेव हुए। उस आत्मा ने कर्मों का क्षयकर निर्वाण पद प्राप्त किया। जब तक स्वसमय में प्रवृत्ति नही होती है और पूर्ण वीतराग चारित्र क्षपक श्रेणी रूप सामग्री नहीं प्राप्त होती है तब तक अनन्त चतुष्टययुक्त केवलज्ञानी होना सम्भव नहीं है।

जिस तरह वज्रनाभि महामुनि ने स्वर्गलोक को पाकर पश्चात् ऋषभदेव तीर्थंकर भगवान का पद प्राप्त किया उसी प्रकार अन्य महामुनि भी स्वर्ग गमन करने के बाद मोक्ष को प्राप्त करते हैं।

अरहंत सिद्ध चेदिय पवयण भत्तो परेण णियमेण।
जो कुणदि तवो कम्मं सो सुरलोगं समादियदि ।।

अर्हत्सिद्ध-चैत्य-प्रवचन भक्तः परेण नियमेन।
यः करोति तपः कर्म स सुरलोकं समादत्ते ।।१७१।।

जो अरहंत, सिद्ध, जिनप्रतिमा तथा जिनवाणी मे भक्ति धारण करता हुआ तप करता है वह स्वर्ग-लोक को प्राप्त होता है।

विशेष—पंचपरमेष्ठी का भक्त महान तपस्वी मुनीश्वर प्रशस्त राग के परिणाम स्वरूप स्वर्ग को जाते हैं। सामान्यतया विचार आ जाये तो राग कषाय मे अन्तर्भूत है और भक्ति रूप राग मोहनीय कर्म का भेद है। वह वीतराग की भक्ति के कारण प्रशस्त राग कहा गया है क्योकि वह प्रशस्त पदार्थों को विषय करता है। मोक्ष प्राप्ति के लिये राग का अंश भी विघ्नकारी है। यह विषय हरिवंशपुराण के कथानक से स्पष्ट होता है।

पाण्डव और कौरव पक्ष में विरोध स्वरूप महाभारत रूप महाकाण्ड हुआ। जब हृदय मे वैराग्य का प्रकाश आने पर भीम, अर्जुन और युधिष्ठिर ने मुनि दीक्षा धारण की, उनके भाई नकुल और सहदेव ने भी मुनि पद स्वीकार किया। पाँचो पाण्डव आत्म साधना करते हुए शत्रुंजय पर्वत पर प्रतिमायोग धारण कर विराजमान हो गये। वे पाँचो पाण्डव मुनिराज भीषण तप करते थे; जिससे पूर्व मे बाँधे गये कर्मों का नाश हो जाय। कर्मोदय की विचित्रता है। जब महापुरुषो के दर्शन द्वारा दुर्योधन वंश को हर्ष होना था और उनके पथ पर चलने के लिये तत्पर होना चाहिये था, वहाँ दुर्योधन के दुष्ट वंशज ने तप्त लोहे के आभूषण उन पाण्डवो को पहनाये। हरिवंशपुराण मे लिखा है—

तप्तायो मयमूर्तीनि मुकुटानि ज्वलन्त्यलम्।
कटकैः कटि-सूत्रादि तन्मूर्धादिस्वयोजयत् ।। सर्ग ६६-२० ।।

उसने तप्त लोहे के मुकुट, कटिसूत्र आदि अग्नि मे प्रज्ज्वलित कर उनके मस्तक आदि पर पहनाए। उस दुष्ट को दया नहीं आई। इस अग्नि के कारण इनका शरीर भस्म हो रहा है, उस समय वे मुनीश्वर उच्चकोटि के ध्यान में निमग्न थे। उन्हें शरीर का ध्यान नही था। वे अचेतन शरीर से दृष्टि अलग कर ज्ञान और आनन्दमय आत्मा की ओर उसे लगाये हुये थे। इसलिये जहाँ लोक दृष्टि से उन पर अपार कष्ट का पहाड़ टूटा था, वहाँ उन मनस्वी मुनियो की दृष्टि आत्मस्वरूप मे निमग्नता के कारण उन्हें महान आत्मानन्द प्राप्त हो रहा था।

महानयोगी पूज्यपाद ऋषि ने लिखा है—

आत्मानुष्ठान-निष्ठस्य व्यवहार बहिः स्थितेः।
जायते परमानन्दः कश्चिद्योगेन योगिनः ।। ४७ ।।

अपनी आत्मा के ध्यान में निमग्न योगी के व्यवहार चारित्र से बाहर रहने पर योग के द्वारा अनिर्वचनीय श्रेष्ठ आनन्द उत्पन्न होता है। उस आत्मध्यान के क्षण में व्यवहार चारित्र की क्रियायें न होकर आत्मा निश्चय चारित्र का परिपालन करता है। उस आत्मस्वरूप में तल्लीनता रूप आनन्द के द्वारा कर्मों की विपुल मात्रा में निर्जरा होती है—

आनन्दो निर्दहत्युद्ध कर्मेन्धनमनारतम् ।
न चासौ खिद्यते योगी बहिर्दु:खेष्वचेतनः ॥४८॥

उस समय वह योगी बाहर की पीडा की ओर तनिक भी ध्यान नही देता। वह उन दु:खों के विषय में अचेतन सरीखा होता है। वह रंचमात्र भी व्यथा का अनुभव नही करता। वह आत्मानन्द में निमग्न योगी का आनन्द महानकर्म रूपी ईधन को जलाता है। आत्मा कर्मरूपी शत्रुजय पर्वत पर पाण्डव कर्म शत्रुओं से युद्ध करते हुए उन पर विजय प्राप्त कर रहे थे।

शुक्लध्यान समाविष्टा भीमार्जुन–युधिष्ठिराः ।
कृत्वाष्ट-विध–कर्मान्त मोक्षं–जग्मुस्त्रयोऽक्षयम् ॥ २२ ॥

शुक्लध्यान को प्राप्त कर महान योगी भीम अर्जुन और युधिष्ठिर ने आठो कर्मों का क्षय कर मोक्ष प्राप्त किया।

नकुलः सहदेवश्च ज्येष्ठ–दाह निरीक्ष्यतौ ।
अनाकुलित चेतस्कौ जातौ सर्वार्थसिद्धि जौ ॥२३॥

मुनि नकुल और सहदेव ने जब अपनी दृष्टि ज्येष्ठ बन्धुओ के अग्नि मे जलते हुए देह पर डाली, तब उनके मन मे कुछ आकुलता उत्पन्न हुई। इससे वे मोक्ष न जाकर सर्वार्थसिद्धि में अहमिन्द्र हुये। पाँचों पाण्डवो की तपस्या पर दृष्टि डालने से यह स्पष्ट होता है कि रागादि का लेश भी नकुल और सहदेव के लिये स्वर्ग प्रदाता बन गया।

स्वर्ग लोक मे क्या है ? ऐसी मन मे शंका होती है। उसका समाधान करते हुए पूज्यपाद स्वामी ने कहा है -

हृषीक जमनातंक दीर्घकालोपलालितम् ।
नाके नाकौकसा सौख्य नाके नाकौकसामिव ॥५॥

स्वर्ग मे देवो को पाँचो इन्द्रियो का किसी प्रकार का आतंक रहित सुदीर्घ काल पर्यन्त स्वर्ग में देवो के सुख के समान सुख प्राप्त होता है। उस सुख की कोई अन्य उपमा योग्य वस्तु नहीं है इसीलिये उस सुख की उपमा उसी सुख से दी है।

जब भगवान आदिनाथ के जीव वज्रनाभि महामुनि सर्वार्थसिद्धि मे पहुँचे थे, तब उन्हे महान पुण्य के उदय से श्रेष्ठ सुख प्रद सामग्री प्राप्त हुई। वहाँ देवागनाएँ नही होती। इसीलिये उनकी आत्मा में महान शान्ति रहती थी। महापुराण मे लिखा है कि सर्वार्थसिद्धि नाम का विमान लोक के अन्त से बारहयोजन नीचा है। सबसे श्रेष्ठ और सबसे उत्कृष्ट है। इसकी लम्बाई, चौडाई, गोलाई जम्बूद्वीप के बराबर है। यह स्वर्ग के तिरेसठ पटलो के अन्त मे चूडामणि रत्न के समान है। वहाँ उत्पन्न होने वाले देवों को सब अभीष्ट सामग्री अनायास प्राप्त हो जाती है। इसीलिये वह सर्वार्थसिद्धि नाम सार्थक है। वह सर्वार्थसिद्धि का अहमिन्द्र जिन प्रतिमाओ की पूजा करता हुआ अपने क्षेत्र में बिहार करता था। इच्छा मात्र से प्राप्त हुए मनोहर दिव्य गन्ध अक्षत आदि द्वारा विधिपूर्वक पुण्यानुबंधी जिनेन्द्रपूजा करता था। उस अहमिन्द्र ने अपने वचनों की प्रवृत्ति जिनेन्द्र भगवान के स्तवन में लगाई थी अपना मन उनके गुण चिन्तवन में लगाया था तथा अपना शरीर उन्हें नमस्कार करने में लगाया था।

जिनार्चा–स्तुति–वादेषु वाग्वृत्तिं तद्गुणस्मृतौ ।
स्वं मनस्तत्क्रती कायं पुण्यधीः सन्न्ययोजयत् ।।पर्व ११–१३७।।

वह अहमिन्द्र मनवचन काय से धर्माराधना में तत्पर रहता था। धर्म गोष्ठियों में बिना बुलाये सम्मिलित होने वाले अपने ही समान शुभ भावों से युक्त अहमिन्द्रों से आदरपूर्वक सभाषण करने में वह तत्पर रहता था। अहमिन्द्र पर क्षेत्र में विहार नहीं करते। शुक्ललेश्या के प्रभाव से वे स्वर्ग की सामग्री से संतुष्ट रहते थे। वहाँ उन अहमिन्द्रों में न ईर्ष्या है न परनिन्दा है न आत्मस्तुति है न मत्सरभाव है। वे केवल सुखमय होकर निरन्तर क्रीड़ा करते हैं।

इस प्रकार शुभोपयोग के फलस्वरूप सम्यक्त्वी जीव को देवपर्याय में अवर्णनीय अतुलनीय सुख मिलता है। महान आत्माएँ वहाँ के सुख से सतुष्ट नहीं होती उन्हें मोक्ष का सुख चाहिये। स्वर्ग में आत्मचिंतन आदि करते हुए सम्यक्त्वी देव देवेन्द्र यही सोचते हैं कि हमारा वह दिन धन्य होगा, जब हम स्वर्ग से चलकर मनुष्य के शरीर को धारण करेंगे और वहाँ श्रेष्ठ तपस्या करके मोक्ष को प्राप्त करेंगे। जिनेन्द्र की भक्ति द्वारा श्रेष्ठ सुख मिलते हैं, और अन्त में रत्नत्रय की समाराधना द्वारा वह जीव मोक्ष को प्राप्त करता है। मोक्ष के लिये पूर्ण वीतरागभाव आवश्यक है।

तम्हा णिव्वुदि कामो रागं सव्वत्थ कुणदि मा किंचि।
सो तेण वीदरागो भवियो भवसायरंतरदि ।।
तस्मान्निवृत्तिकामो राग सर्वत्र करोतु मा किंचित्।
स तेन वीतरागो भव्यो भवसागरं तरति ।।१७२।।

इस कारण मोक्षार्थी को सर्वत्र रागभाव का त्याग करना चाहिये। इससे वह वीतराग भव्य ससार रूपी सागर के पार पहुँच जाता है।

पूज्यपाद स्वामी ने सम्पूर्ण आगम का सार यह बताया है— 'जीव. अन्य' पुद्गल. अन्य'' जीव अन्य है पुदगल अन्य है।

जीवोऽन्य पुद्गलश्चान्य इत्यसौ तत्त्वसंग्रह ।
यदन्यदुच्यते किं चित्सोऽस्तु तस्यैव विस्तरः ।।५०।।

आत्मस्वरूप की प्राप्ति का उपाय अन्तर्मुख होकर रागद्वेष रूप द्वैत को दूर करना है। उस समय ज्ञानानन्द स्वभाव निजरूप की प्राप्ति होती है। यह आश्चर्य की बात है कि स्वयं आत्मा होते हुए जीव मोह के कारण बहिर्मुख बनकर बाह्य पदार्थों को अपना मानता है। पूज्यपाद स्वामी ने लिखा है—

बहिरात्मा शरीरादौ जातात्मा–भ्रान्तिरान्तरः ।
चित्तदोषात्मविभ्रान्ति परमात्मातिनिर्मल ।।५।।

बहिरात्मा शरीर, पुत्र, स्त्री, धन, मकान आदि अन्य पदार्थों में अपनेपन का भ्रम धारण करता है। अन्तरात्मा चित्त रागद्वेष तथा आत्मा के विषय में भ्रांति रहित होता है। सम्पूर्ण विचारों से रहित अत्यन्त निर्मल परमात्मा है।

प्रश्न—आत्मा क्या है? इस विषय में हमारी जिज्ञासा है।

उत्तर— द्रव्यार्थिकनय से वस्त्र के समान वह चैतन्य मात्र है। पर्यायार्थिकनय से तन्तु समुदाय के समान दर्शनज्ञानादि रूप हैं। क्षत्रचूडामणि मे एक कथानक आया है—जीवंधर कुमार एक ग्रामीण व्यक्ति को धर्म का उपदेश देते हुए कहा था—

स्व स्वत्वेन तत· पश्यन्परत्वेन च तत्परम्।
परत्यागे मतिं कुर्या. कार्यैरन्यैः किमस्थिरैः ॥१८॥

तुम्हे आत्मा को आत्मपने से और शरीर को आत्मा के भिन्नपने से देखना चाहिए। इस भिन्नपने का परिज्ञान मात्र इष्ट साधक नही होगा। जिस परपदार्थ को तुम पर कहते हो उसके परित्याग करने में अपनी बुद्धि को लगाना चाहिए। इसके सिवाय नष्ट होने वाले कार्यों से क्या लाभ ?

परपदार्थ का त्याग करने वाले मुनि और गृहस्थ कहे गए हैं। मुनिराज शरीर मात्र परिग्रह के स्वामी होते हैं और उसके प्रति भी उनकी ममता नहीं रहती। जिनकी शक्ति कम है वे व्यक्ति गृहस्थ का धर्म अगीकार करते हैं। तुम्हे इस समय गृहस्थ का धर्म ग्रहण करना चाहिए।

धर्मग्रहाण गृहमेधिनाम – गृहस्थो का धर्म तुम्हे ग्रहण करना चाहिए। एक ही साथ ऊँची नसैनी को आरोहण करने के लिए कोई भी समर्थ नही है। इससे यह बात स्पष्ट होती है कि तत्त्वज्ञान मात्र से इष्ट सिद्धि नही होती। उसके साथ सयम का भी संयोग आवश्यक है। वीतरागता की प्राप्ति हेतु वीतराग जिनेन्द्र के चरणो की सतत समाराधना आवश्यक है। क्षत्रचूड़ामणि मे लिखा है–महाराज जीवंधर भोगो से विरक्त हो महावीर भगवान की श्रीसभा अर्थात् समवशरण मे गए। उन्होने वीर जिनकी स्तुति मे कहा था—

ससारविषवृक्षस्य सर्वापत्फलदायिनः ।
अकुरं रागमुन्मूल वीतराग विधेहि मे ॥११ सर्ग-११॥

हे वीतराग भगवान् ! सर्व प्रकार की विपत्ति रूप फल देने वाले मेरे ससार रूपी विष वृक्ष के अंकुर सदृश राग भाव को जड़ से उखाड़ दो।

मोक्ष प्राप्ति के लिए समयसार के मोक्षाधिकार मे कुदकुंद स्वामी ने मोक्ष प्राप्ति हेतु इस प्रकार मार्गदर्शन किया है—

बंधाण च सहाव वियाणिओ अप्पणो सहाव च।
बंधेसु जो विरज्जदि सो कम्म वि मोक्खण कुणई ॥२९३॥

बधो के स्वरूप को भली प्रकार जानो, अपनी आत्मा के स्वरूप को भी अच्छी तरह अवगत करो। आत्मा और कर्मों के स्वरूप का परिज्ञान करके जिन कारणो से कर्मों का आगमन होता है, उन कारणो का परित्याग करने वाला कर्मों के बधन से छूटकर निर्वाण प्राप्त करता है।

ध्यानसार में संयम भाव को ससार के पार जाने के लिए सेतु-पुल समान कहा है—

त्रैलोक्यसाररत्नाय मोक्षलक्ष्मीविधायिने ।
संसारोत्तारिणे नित्य नमः संयमसेतवे ॥१५४॥

मैं संयमरूपी सेतु को सदा प्रणाम करता हूँ, जो तीन लोक में सार रूप रत्न समान है, मोक्ष लक्ष्मी को प्रदान करता है तथा संसार सिंधु के पार पहुँचाता है।

समस्त दुःखों की जड़ रागभाव है। वीतराग भाव युक्त भव्यात्मा संसार के पार पहुंच जाता है।

वीतराग की प्राप्ति के लिए हृदय मे वीतरागपने की भावना आवश्यक है। मोक्ष मन्दिर का प्रथम सोपान वैराग्य भाव है। आत्म हिताकाक्षी के लिए आचार्य कहते हैं—

वैराग्य भावना नित्यं नित्य तत्वानु चिंतनम् ।
नित्य यत्नश्चकर्तव्यो यमेषु नियमेषु च ।।

सदा विषय भोग, तथा ससार पदार्थो के प्रति हृदय मे आन्तारक विरक्ति चाहिए। नित्य जीवादि पदार्थों के स्वरूप का गहराई से चिंतन करना चाहिए। नित्य यम् नियम रूप त्याग के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए। इस परम सत्य पर दृष्टि रहने से आत्मा का मोह ज्वर दूर होता है। "एक एव जाये ह एक एव म्रिये न मे कश्चित स्वजन । धर्म एव मे सहाय " मे अकेला जन्म लेता हूँ, अकेला ही मरण करता हूँ। मेरे कोई कुटुम्बी नही हैं। धर्म ही मेरा सहायक है।" शरीर अनित्य है। मृत्यु समीप मे है। इसलिए मुझे जिनोक्त धर्म का शरण ग्रहण कर तदनुसार सदाचार मे प्रवृत्ति करना चाहिए।

मग्गप्पभावणट्ठं पवयण–भत्ति–प्पचोविदेण मया ।
भणियं पवयणसार पंचत्थियसंगहं सुत्तं ।।

मार्गप्रभावनार्थ प्रवचन भक्ति–प्रचोदितेन मया ।
भणित प्रवचनसारं पचास्तिकाय सग्रह सूत्रं ।।१७३।।

मैने जिनवाणी की भक्ति से प्रेरित हो धर्म प्रभावना के हेतु जिनवाणी का सार रूप यह पचास्तिकाय सग्रह सूत्र कहा है।

विशेष– यहाँ कुदकुद स्वामी अपने को ग्रथ का कर्ता कहते है यदि वे अपने को इस ग्रथ का कर्ता न बतावे, तो ग्रथ की प्रामाणिकता का कैसे परिज्ञान होगा। एकान्तवादियो के शास्त्रो के कर्ता रागादि दोष दूषित है, उनकी प्ररूपणा मान्य नही है इस बात का स्पष्टीकरण ग्रथकार के नाम से होता है।

दूसरी दृष्टि से कुदकुंद ग्रथो के गहन चितक अमृतचद्र सूरि कहते हैं– -

वर्णे कृतानिचित्रे पदानि तु पदै कृतानि वाक्यानि ।
वाक्यै कृत पवित्र शास्त्रमिद न पुनरस्माभि ।।२२६।। पु सिद्धि

विविध वर्णो से पद बनते है। पदो से वाक्य बनते है। वाक्यो से यह पवित्र पुरुषार्थ सिध्युपाय ग्रथ रचा गया है। हमने यह ग्रथ नही बनाया है।

अपनी रचना तत्त्वार्थसार ग्रथ के अन्त मे पूर्वोक्त पद्धति का अनुकरण अमृतचद्र सूरि ने किया है—

वर्णा पदाना कर्त्तारो वाक्याना तु पदावलि ।
वाक्यानि चास्य शास्त्रस्य कर्तृणि न पुनर्वयम् ।।

वर्णो से पद बने हैं। पदो द्वारा वाक्य बने हैं। वाक्य इस ग्रथ के कर्ता हैं। हम इस ग्रथ के रचयिता नही हैं।

प्रश्न इन दोनो कथनो मे से किस कथन को सत्य माना जाये ?

उत्तर—स्याद्वाद के प्रकाश मे दोनो कथन सत्य हैं। कुंदकुंद स्वामी ने व्यवहार नय से कथन किया है और अमृतचन्द्र सूरि ने निमित्त को गौण बना निश्चय दृष्टि से कहा है। जैसे राम और लक्ष्मण माता की

दृष्टि से भाई नहीं हैं, क्योंकि उनकी जननी जुदी-जुदी है। एक पिता होने से दोनों को भाई मानने मे कोई दोष नहीं है। इसी प्रकार जिनेश्वरी देशना दोनों नयों पर आश्रित है। व्यवहार और निश्चयनय परस्पर सापेक्ष होने चाहिये। पंचनमस्कार मंत्र में णमो सिद्धाणं के पूर्व मे णमो अरहन्ताणं का पाठ इस बात को सूचित करता है कि अरहन्त भगवान के द्वारा जीवों का कल्याण उनकी दिव्यध्वनि द्वारा होता है। इसीलिये चार घातिया कर्मों का नाश करते हुए भी उनका अनादि मूलमन्त्र मे प्रथम स्थान है। सिद्धों ने आठ कर्मों का नाश किया है किन्तु अरूपी हो जाने से वे न तो दृष्टिगोचर होते न इन्द्रियगोचर होते, न उनसे देशना प्राप्त होती। उनका अस्तित्व भी यदि सर्वज्ञ अरहन्त भगवान ने न बताया होता तो उनका ज्ञान ही नही होता। वर्तमान समय मे धर्मध्यान रूप आपरम भाव होता है। इसीलिये सभी पंचमकाल के व्यक्ति व्यवहारनय की देशना के पात्र हैं। इसे ध्यान मे रखते हुए कुदकुद स्वामी ने इस ग्रथ के आरम्भ मे समवसरण मे विद्यमान अरहन्त भगवान का अपने ज्ञान चक्षुओ से दर्शन करते हुए उन्हे प्रणाम किया है।

ग्रन्थकार ने इस ग्रन्थ की १७३ वी गाथा मे "भणिय पवयणसार पचत्थियसगह सुत्त (१७३)" ये शब्द कहे हैं और ये ही शब्द गाथा १०३ मे इस प्रकार लिखे हैं "एव पवयणसारे पंचत्थियसगहं वियाणित्ता" (१०३) इस पचास्तिकाय सग्रह सूत्र को ग्रन्थकार ने प्रवचन का सार दो बार कहा है। इसीलिये इस ग्रन्थ की विशिष्टता ध्यान देने योग्य है।

यह बात भी ध्यान मे रहनी चाहिये कि कब किस नय का प्रयोग किया जाये। भगवान तीर्थंकर के जन्म होने पर उनके जन्मकल्याणक का गीत अत्यन्त मधुर लगता है, किन्तु वही गीत वैराग्यमयी दीक्षा के समय गाया जाये, तो वह कार्य ठीक नही माना जायेगा। वर्तमान पचमकाल मे चारो ओर पाप की पावक जल रही है और इसीलिये लोग हिंसा, बेईमानी, छल कपट, दुराचार आदि कुकृत्यो मे प्रवीण हो रहे हैं। उन को निश्चयनय की देशना सुमार्ग मे न लगाकर उनका उत्थान नही करेगी। ऐसे वातावरण मे यह कहा जाये कि बाह्य वस्तु का जीवन पर कोई प्रभाव नहीं पडता आत्मा सदा पूर्ण निर्मल है। तो वह जीव अपने मनुष्य भवको न सुधारकर आगे कुगति के दुख भोगेगा। गर्मी के मौसम मे ठण्डाई पीना और पिलाना अच्छा है किन्तु जहाँ हिमपात हो रहा हो वहाँ ठण्डाई और ठण्डी वस्तु देने पर वह व्यक्ति सदा के लिये ठण्डा हो जायेगा। इसलिये देश काल परिस्थिति को देखकर यह उचित है कि जनसाधारण को यह बात समझाई जाये, कि तुम्हें अपने खोटे कर्मो के फल भोगना होगें। यदि तुमने धर्म और सदाचार मे अपना जीवन सम्बन्धित नही रखा, तो मृत्युपरान्त गर्दभ या शूकर सदृश पर्याय प्राप्त होगी अथवा नरक में पतन होगा जहाँ वचनो के अगोचर व्यथा होती है। इसीलिये गृहस्थ को और साधु को भी चारो अनुयोगो रूपी जिनवाणी को प्रमाण मान पाप प्रवृत्ति के परित्याग मे प्रयत्नरत रहना चाहिये, ताकि यमराज के आने पर तुम्हारा परलोक प्रयाण धर्मशून्य अवस्था मे न हो।

एक बर्तन में घी रखा है इस विषय मे ज्यादा चतुरता दिखाने वाला कहता है घी बर्तन मे नही है, घी घी मे है बर्तन बर्तन में है। दोनो पदार्थ अपने-अपने स्वरूप में है। ऐसा व्यक्ति जब बर्तन को लौटाता है और घी भूतल पर फैल जाता है, तब उसकी समझ में यह बात आ जाती है कि 'घृताधारे पात्रं' झूठी नहीं है। सब द्रव्यो मे परस्पर में उपादान उपादेय भाव है किन्तु वे परस्पर में एक दूसरे के लिये निमित्त बनते हैं। मिट्टी से कुम्भकार ने घटादि पदार्थ बनाये। कुम्भकार रूप निमित्त की अपेक्षा न कर यह कहना न्यायपूर्ण है कि

मिट्टी को घट रूपता प्रदान करने मे कुम्भकार का प्रमुख प्रयत्न है इसीलिये तो उसे 'कुम्भं करोति कुम्भकारः' कहा जाता है।

सारांश—यह जगत छह द्रव्यो का समुदाय है। धर्म-अधर्म आकाश काल अपने स्वभाव मे रहते हैं, केवल जीव और पुद्गल का, अनादि से बन्ध हो जाने के कारण, ससार परिभ्रमण का चक्र चलता रहता है। उस ससार का उच्छेद करने के लिये जिनवाणी मे प्रगाढ श्रद्धा आवश्यक है। जिनभक्ति भव-भव में जीव के लिये सुखदायी है। इसीलिये भक्ति रूपी नौका मे बैठकर संयम रूपी पतवार चलाते हुए मुक्ति की ओर जाने का प्रयत्न करना चाहिये। वीतराग बनने के लिए वीतराग प्रभु के चरण कमलो को अपने मनो मन्दिर में विराजमान कर उनकी आराधना करने वाला साधक वीतराग बनकर अक्षय सुख और अनन्त शांति के सिन्धु की ओर सहज ही पहुँचता है।

वीतराग भगवान के चरण कमल सुखदाय।
निशि दिन वन्दौ भावयुत कर्म कलंक नसाय ॥